भा र त

वर्तमान और भावी

लेखक

रजनी पाम दत्त

पोपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड
नयी दिल्ली-११००५५

पहला हिन्दी संस्करण : जून, १९५६
दूसरा हिन्दी संस्करण : जनवरी, १९७६
तीसरा हिन्दी संस्करण : दिसम्बर, १९८२

(P.H. 51)

अनुवादक
ओमप्रकाश संगल

मूल्य : ३५ रुपये

जितेन सेन द्वारा न्यू एज प्रिंटिंग प्रेस, रानी झांसी रोड, नई दिल्ली में मुद्रित और उन्हीं के द्वारा पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली की तरफ से प्रकाशित.

प्रस्तावना

भारत की समस्याओं का यह संक्षिप्त अध्ययन लेखक की पूर्व प्रकाशित पुस्तक *आज का भारत* पर आधारित है, जिसकी अंग्रेजी आवृत्ति सर्वप्रथम १९४० में, और उसके बाद १९४७ और १९४९ में प्रकाशित हुई। पहला हिन्दी संस्करण दिसम्बर १९४८ में प्रकाशित हुआ।

प्रस्तुत संक्षिप्त संस्करण को दोहराया गया है और १९५५ के आरम्भ काल तक की घटनाओं का विवरण इसमें और जोड़ दिया गया है। अध्ययन का मुख्य भाग साम्राज्यवादी रिकार्ड तथा १९४७ में साम्राज्यवादी शासन के अन्त तक राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास से सम्बंधित है; किन्तु पहले के भागों में कुछ ऐसे नये तथ्यों और आंकड़ों को, जो पहले हासिल नहीं थे, जोड़ देने के साथ-साथ १९४७ के बाद के काल की अत्यंत महत्वपूर्ण घटनाओं पर एक नया अध्याय और जोड़ दिया गया है।

संक्षिप्त संस्करण के पहले खाके को तैयार करने में देवी प्रसाद चटर्जी और दिलीप बोस ने जो काम किया है, उसके प्रति मैं आभारी हूं।

यह बता देना आवश्यक है कि यह संक्षिप्त संस्करण, जो मौलिक पुस्तक से लगभग आधा रह गया है, *आज का भारत* का स्थान नहीं ले सकता। केवल *आज का भारत* में ही ज्यादा मुकम्मिल विश्लेषण और प्रमाण हैं। उद्धरणों और अन्य सामग्री के स्रोतों का यहां, जहां भी, स्थानाभाव के कारण उल्लेख नहीं किया गया है, वे मूल पुस्तक *आज का भारत* में मिल सकते हैं।

जुलाई १९५५ — *रजनी पाम दत्त*

प्रकाशक की ओर से

स्वर्गीय आदरणीय रजनी पाम दत्त की यह पुस्तक उनकी मूल पुस्तक आज का भारत के संशोधित तथा संक्षिप्त संस्करण के रूप में हिन्दी में जून १९५६ में प्रकाशित की गयी थी। स्वर्गीय रजनी पाम दत्त एक महान विचारक तथा लेखक थे। वे अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन के अत्यन्त ख्यातिपूर्ण नेता रहे हैं। ब्रिटेन से निकलने वाली अंग्रेजी मासिक पत्रिका लेबर मंथली में उनकी लिखी टिप्पणियों ने मार्क्सवादी विचारधारा और मीमांसा से कई पीढ़ियों को शिक्षित किया है।

स्वर्गीय रजनी पाम दत्त का भारत से निकटतम सम्बन्ध रहा है। भारत की राजनीतिक तथा आर्थिक स्थितियों और उनके विकास का उनका अध्ययन बहुत गहरा, पैना और शिक्षाप्रद था। भारत पर लिखे गये उनके लेखों, उनकी महान पुस्तक आज का भारत तथा उसी के संक्षिप्त संस्करण भारत: वर्तमान और भावी ने भारत के नौजवानों की कई पीढ़ियों को मार्क्सवाद तथा मार्क्सवादी-लेनिनवादी नजरिये से भारतीय हालात को समझने और आत्मसात करने में चिरस्मणीय योगदान दिया है। इस पुस्तक का यह तृतीय हिन्दी संस्करण निकालते हुए हम हार्दिक प्रसन्नता और गौरव अनुभव कर रहे हैं।

स्वर्गीय रजनी पाम दत्त ने इस संशोधित तथा संक्षिप्त संस्करण को १९५५ में तैयार किया था। पुस्तक में भारत की घटनाओं के मूल्यांकन में उस समय अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन तथा भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी में जो संकीर्णतावादी विचार-रुझान थे उसका प्रभाव है। १९५१ में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा स्वीकृत कार्यक्रम भी इसी कमजोरी और खामी का शिकार था। उक्त कार्यक्रम में उसके पहले के काल की समझ की कई घोर संकीर्णतावादी खामियों को दुरुस्त कर लिया गया था, फिर भी १९४७ में भारत में हुए सत्ता परिवर्तन के मूल्यांकन के तथा भारत में स्थापित राज्यसत्ता के वर्ग विश्लेषण के प्रश्न इत्यादि मामलों में उक्त कार्यक्रम में गंभीर संकीर्णतावादी भटकाव मौजूद थे।

उस कार्यक्रम की समझ के अनुसार १९४७ में हुए परिवर्तनों के बारे में यह माना गया था कि "ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने अपने आर्थिक प्रभुत्व को

कायम रखने का प्रयास किया है और ऐसी व्यवस्था की है जिसमें वह भारत के आर्थिक विकास पर नियंत्रण रख सके और साम्राज्यवाद के हितों में उसे रोक सके।"

आजादी के बाद भारत में कायम हुई सरकार को "अब भी उन्हीं पुराने इजारेदार पूंजीपतियों और जमीदारों पर आधारित" सरकार माना है "जिन्होंने साम्राज्यवाद से सम्बन्ध बनाये रखा है।"

१९४७ के परिवर्तन को "दोनों पक्षों के ऊपरी वर्ग की शक्तियों का संयुक्त मोर्चा" माना है और "सौदों और समझौतों से भारत का औद्योगीकरण कदापि नहीं हो सकता।"

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने इस संकीर्णतावादी समझ के विरुद्ध गंभीर और कटूर आन्तरिक सैद्धान्तिक संघर्ष कर १९६४ में पार्टी का नया कार्यक्रम स्वीकार किया। इस कार्यक्रम में १९४७ के परिवर्तन को भारतीय आजादी के संघर्ष की महान सफलता माना गया है। आजादी के बाद भारत में जो सरकार कायम हुई वह पूंजीपति वर्ग की सरकार है। हालांकि उसके निर्माण में और उसकी नीतियों के निर्धारण में इजारेदार पूंजीपतियों और जमीदारों-जागीरदारों का महत्वपूर्ण प्रभाव रहता है, लेकिन राज्यसत्ता बुनियादी रूप से पूंजीपति वर्ग के हाथ में है।

यह वर्ग दोमुंही नीतियों का वर्ग है। इसका साम्राज्यवाद, सामंतवाद और इजारेदार पूंजी से वर्ग टकराव और अन्तर्विरोध है और इस अन्तर्विरोध का प्रभाव उसकी नीतियों पर पड़ता है, लेकिन साथ ही यह वर्ग समझौतावादी और ढुलमुल वर्ग है और जहां तक मेहनतकश जनता के वर्ग-हितों का प्रश्न है, उनसे इस वर्ग का घोर टकराव भी है। यही मूल आधार है जिसकी मदद से घटनाक्रम को सही ढंग से समझा जा सकता है।

आजादी के बाद के वर्षों में भारत के औद्योगीकरण तथा विशेषकर बुनियादी उद्योगों के निर्माण, सार्वजनिक क्षेत्र के निर्माण तथा विस्तार, समाजवादी देशों से सहयोग, तथा मोटे तौर पर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में साम्राज्यवाद-विरोधी नीति, चाहे सीमित और त्रुटिपूर्ण क्यों न हो लेकिन रजवाड़ों की समाप्ति, भूमि सुधार तथा इजारेदारों के हितों पर चोट इत्यादि के जो कदम उठाये गये हैं उन्हें इसी आधार पर समझा जा सकता है।

साथ ही, पूंजीवादी तरीके से विकास के इस रास्ते के परिणामस्वरूप न सिर्फ यह कि विकास जन आवश्यकताओं और संभावनाओं की तुलना में बहुत सीमित और धीमा हुआ है और उसका बोझा भी मेहनतकश जनता पर डाला गया है जिसके कारण लोगों के जीवन में सुधार न हो कर, ज्यादातर उनकी

कठिनाइयां बढ़ी हैं, महंगाई, बेरोजगारी की हालत गंभीर हुई है तथा देश के अर्थतंत्र को संकटों के दौर से गुजरना पड़ता है।

यह पुस्तक १९५५ में लिखी गयी थी जब इन प्रश्नों पर नव रूप से चिंतन की शुरूआत हुई थी। इसीलिए इस पुस्तक में इस बात का संकेत किया गया है कि "संसार की राजनीति में भारत नया रुख अपनाने लगा है। वह शान्ति की रक्षा के लिए अधिकाधिक सक्रिय भूमिका अदा करने लगा है। देश की अंदरूनी राजनीतिक स्थिति में भी नयी धाराएं नजर आने लगी हैं।"

लेकिन पुस्तक में शुरू के राष्ट्रीय आन्दोलन के मूल्यांकन, १९४६ के संघर्षों तथा विशेषकर १९४७ के परिवर्तनों व बाद की घटनाओं की जो मीमांसा की गयी है उनमें जगह-जगह उस समय की विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन की समझ तथा भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के १९५१ के कार्यक्रम की स्थापनाओं का प्रभाव मौजूद है। पुस्तक का अध्ययन करते समय मार्क्सवादी-लेनिनवादी मीमांसा के गंभीर अध्ययन के लिए यत्नशील पाठक इस बात का ध्यान रखेंगे।

इस एक सीमा के बावजूद आदरणीय स्वर्गीय रजनी पाम दत्त की इस पुस्तक में की गयी तथ्यपूर्ण स्थापनाएं, गंभीर अन्वेषणात्मक विवेचन तथा मार्गदर्शक मूल्यांकन अपना विशेष महत्व रखते हैं। इस पुस्तक का एक विशेष ऐतिहासिक महत्व है इसीलिए हम इस पुस्तक को ठीक इसके मूलरूप में पुनः प्रकाशित कर रहे हैं।

हिन्दी प्रकाशन
संपादकीय समिति

विषय-सूची

अध्याय १

भारत और आधुनिक संसार

भारत ने आज बड़े महान और गम्भीर परिवर्तनों के युग में प्रवेश किया है। इन परिवर्तनों का क्या स्वरूप है और भविष्य में उनका विकास किस तरह होगा—इस प्रश्न को लेकर अभी तीव्र वाद-विवाद चल रहा है। इन परिवर्तनों का अन्तिम फल क्या होगा, यह केवल उन सामाजिक और राजनीतिक संघर्षों के दौरान में तय होगा जो आज भारत में चल रहे हैं, और जिनका पूरे एशिया में होने वाली नयी घटनाओं से गहरा सम्बन्ध है। भारत का भविष्य आज विश्व की राजनीति का एक प्रमुख प्रश्न बना हुआ है।

भारतीय महाद्वीप (जिसमें १९४७ के बाद से भारत संघ और पाकिस्तान नाम के दो राज्य कायम हो गये हैं) में रहने वाले ४५ करोड़ लोग पूरी मानव जाति का लगभग पांचवां हिस्सा होते हैं। दो सदियों से उन पर विदेशी राज करते आये हैं। अब प्रत्यक्ष विदेशी शासन समाप्त हो गया है, हालांकि साम्राज्यवादी शोषण अभी नहीं मिटा है। लेकिन वह भी समाप्त होने वाला है।

दुनिया के पैमाने पर देखा जाय तो आधुनिक संसार में साम्राज्यवादी प्रभुत्व का सबसे बड़ा और महत्वपूर्ण आधार भारत की दासता रही है। सदियों से इस विशाल भूमि-खंड की संपत्ति और साधन, उसके निवासियों का जीवन और श्रम पश्चिम के पूंजीवादियों के हस्तक्षेप, आक्रमण और लूट का लक्ष्य रहे हैं; और अन्त में तो यहां पर उनका पूर्ण आधिपत्य कायम हो गया था और वे उसका तीव्र शोषण करने लगे थे। इस व्यवस्था का अन्त होने पर न सिर्फ मानव जाति के पांचवें हिस्से के लिए एक नये भविष्य के द्वार खुल जायेंगे; बल्कि उससे दुनिया के सम्बन्धों का सन्तुलन निर्णायक रूप से बदल जायगा, साम्राज्यवाद की संसारव्यापी व्यवस्था और कमजोर हो जायेगी, और दुनिया भर में जनता की आजादी की शक्तियां और आगे बढ़ेंगी तथा और मजबूत होंगी। स्वतन्त्र चीन के साथ-साथ, भारत के भी आजाद हो जाने पर, एशिया की सभी कौमों और दुनिया की तमाम गुलाम कौमों की आजादी का रास्ता खुल जायगा।

आधुनिक संसार की मानो सभी समस्याएं और संघर्ष भारत में आकर

केन्द्रीभूत हो गये हैं। यहां एक प्राचीन एवं ऐतिहासिक सभ्यता के भग्नावशेषों के बीच, जो आधुनिक विजेताओं के असहनीय बोझ के नीचे दबकर सांस तक नहीं ले पा रही है, बंक-पूंजी के सबसे आधुनिक ढंग के शोषण के साथ-साथ सबसे नीचे दर्जे की, आदिम ढंग की अर्थ-व्यवस्था, गरीबी और गुलामी भी मौजूद है। यहां की खेती सदा संकट में रहती है। नित नये अकाल पड़ते हैं। लोग कर्ज न चुका पाने के बदले में महाजनों की गुलामी करते हैं। यहां इंसान छूत और अछूत के बन्धनों में जकड़ा हुआ है। यहां के उद्योग-धंधों में मजदूरों का ऐसा शोषण होता है जिसकी कोई सीमा नहीं रहती। यहां दौलत और गरीबी के बीच जितनी चौड़ी और गहरी खाई है, वैसी दुनिया के किसी और देश में नहीं दिखाई देती। यहां धार्मिक संघर्ष, वर्ग संघर्ष, और नये जातीय प्रश्न खड़े हो रहे हैं। भारत पर चूंकि सदियों से एक औपनिवेशिक शक्ति शासन करती आयी है, इसलिए इसका विकास रुक गया है और ये तमाम समस्याएं उसके इस रुके हुए विकास तथा पिछड़ेपन को ही व्यक्त करती हैं। आज ये सभी समस्याएं उभर कर सामने आ रही हैं जिनके कारण वे परिस्थितियां और भी उलझ जाती हैं जिनमें भारत की मुक्ति का संघर्ष चल रहा है।

आज भारत एक गम्भीर आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक क्रान्ति के युग में प्रवेश कर रहा है। राष्ट्रीय मुक्ति के लिए भारतीय जनता का वीरतापूर्ण संघर्ष एक लम्बे समय से जारी है। दूसरा महायुद्ध समाप्त होते-होते और उसके बाद के दिनों में वह इतना अधिक विकास कर गया कि अंग्रेज साम्राज्यवादियों को मजबूर होकर भारत पर अपना प्रत्यक्ष शासन और सैनिक कब्जा खत्म कर देना पड़ा। लेकिन भारत की जनता के साधनों तथा जीवन पर से साम्राज्यवाद का पंजा अभी नहीं हटाया जा सका है। भारत के आर्थिक साधनों पर आज भी ब्रिटेन की उस बंक-पूंजी का जबर्दस्त आधिपत्य है, जिसने भारत के जमींदारों और एकाधिकारी पूंजीपतियों को अपना छोटा साझीदार बना रखा है। उधर अमरीका की बंक-पूंजी, जो भारत के व्यापार का बड़ा हिस्सा ब्रिटेन से छीनने में कामयाब हो गयी है, भारत के आर्थिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक जीवन में घुसने की बहुत तेज कोशिश कर रही है। साम्राज्यवाद से विरासत के रूप में जो आम सामाजिक, आर्थिक और सरकारी ढांचा मिला है, वह आज भी कायम है। जनता आज भी औपनिवेशिक अर्थ-व्यवस्था के शिकंजे में जकड़ी हुई तड़प रही है। वह अब भी स्थानीय जमींदारों तथा देशी एकाधिकारी पूंजीपतियों और विदेशी एकाधिकारी पूंजीपतियों के दोहरे शोषण की चक्की में पिस रही है। उसकी गरीबी उस स्तर पर पहुंच गयी है जिससे नीचा स्तर दुनिया में कोई

नहीं है; और तथ्य तथा आंकड़े बताते हैं कि पिछले दिनों में हालत और खराब हो गयी है। खेती का संकट बराबर गहरा होता जा रहा है और भूमि-सुधार के जो बहुत ही सीमित कदम अभी तक उठाए गये हैं, उनसे खेती के संकट में कमी नहीं आयी है।

इस प्रकार, भारत की सभी परिस्थितियां बहुत बुनियादी परिवर्तनों के लिए परिपक्व हो रही हैं। ये परिवर्तन उस अस्थायी समझौते से बहुत आगे जायेंगे जो अंग्रेजी साम्राज्यवाद और भारत के ऊपरी तबकों के बीच १९४७ में हुआ था।

भारत में इस बात के लिए परिस्थितियां परिपक्व हो रही हैं कि जनवादी साम्राज्य-विरोधी क्रांति को पूरा कर दिया जाय, जमींदारी प्रथा तथा सामन्ती अवशेषों को मिटा दिया जाय, साम्राज्यवाद के सहायक एकाधिकारी पूंजीपतियों का शासन समाप्त कर दिया जाय और भारत के आर्थिक साधनों को साम्राज्यवादियों के पंजे से छुड़ा लिया जाय। जनता के जनवादी आन्दोलन की विजय के फलस्वरूप जब भारत इस प्रकार सच्ची स्वतंत्रता प्राप्त कर लेगा, तब आर्थिक पुनर्निर्माण के विशाल कार्य के लिए द्वार खुल जायेंगे; तब उद्योग-धंधों का विकास करने, खेती में रूपान्तर करने, जनवाद का विस्तार करने, पुरानी प्रतिक्रियावादी व्यवस्था की विरासत को दूर करने और देश का सामाजिक तथा सांस्कृतिक पुनरुत्थान करने के काम भारतीय जनता के सामने आयेंगे।

विश्व इतिहास के जिस युग में भारतीय जनता को ये काम करने पड़ेंगे, वह एक ऐसा युग है जिसमें संसार के प्रत्येक महाद्वीप में, और विशेषकर एशिया में बड़े गम्भीर परिवर्तन हो रहे हैं। यह साम्राज्यवाद के कमजोर होने का और निकट भविष्य में साम्राज्यवाद के पतन का युग है, दुनिया भर में जनता की आजादी की शक्तियों के आगे बढ़ने का युग है। मानव जाति के एक-तिहाई भाग ने साम्राज्यवाद की जंजीरों से अपने को पूर्णतया मुक्त कर लिया है। सोवियत संघ में संसार का पहला पूर्ण समाजवादी समाज कायम हुआ है। करीब चालीस साल हुए जब सोवियत संघ में जारशाही साम्राज्यवाद का तख्ता उलटा गया था। तब से अब तक वहां राष्ट्रीय तथा सामाजिक मुक्ति का कार्य पूरा हो चुका है और जनता को हद दर्जे की गरीबी और पतन की हालत से निकाल कर आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक प्रगति के उच्चतम स्तर पर पहुंचा दिया है। और अब सोवियत संघ कम्युनिज्म की ओर बढ़ रहा है। पूर्वी योरप में, जनता के सच्चे जनवादी राज्यों में समाजवाद की नींव डाली जा रही है। एशिया में चीनी क्रान्ति की विजय और चीनी जनता के लोकतन्त्र की स्थापना के फलस्वरूप एक नये युग का श्रीगणेश

हो गया है। रूस में समाजवादी क्रान्ति की विजय से दुनिया में जो गम्भीर परिवर्तन शुरू हुए थे, वे इस युग में एक नयी मंजिल पर पहुंच रहे हैं। दक्षिण-पूर्वी एशिया में साम्राज्यवाद से मुक्ति प्राप्त करने का संघर्ष आंधी की तरह बढ़ रहा है। मध्य-पूर्व में बेचैनी फैल रही है, और अफ्रीका के प्रत्येक भाग में एक नया राजनीतिक उभार आ रहा है।

दुनिया भर में साम्राज्य-विरोधी शक्तियों की जो विराट प्रगति हो रही है, उससे भारत के भविष्य को अलग नहीं किया जा सकता। सबसे बड़ी बात यह है कि चीन की सफल जनवादी क्रान्ति के उदाहरण का भारत पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ रहा है। संसार के शक्ति-संतुलन में जो बड़ा परिवर्तन हुआ है, उसने भारत की वैदेशिक नीति को नयी दिशा में मोड़ दिया है। भारत की अन्दरूनी राजनीति में भी नयी धाराएं जोर पकड़ रही हैं। पुरानी शक्तियां कमजोर पड़ रही हैं। नयी जनवादी शक्तियां आगे बढ़ रही हैं। उनमें सबसे आगे भारत की कम्युनिस्ट पार्टी है।

भारत में जो संकट जोर पकड़ रहा है, उसमें बड़े गम्भीर अन्दरूनी सामाजिक संघर्ष तथा समस्याएं सामने आ रही हैं। भारतीय जनता के सामने आज जैसे बुनियादी क्रान्तिकारी काम हैं, वैसे मानवता के और किसी हिस्से के सामने नहीं हैं। जब भारत राष्ट्रीय मुक्ति प्राप्त करेगा, तब भारत के पिछड़ेपन से पैदा होने वाली अधिक गहरी समस्याएं, युगों पुरानी दासता, रुके हुए विकास तथा रूढ़िवादी सामाजिक रीति-रिवाजों की तमाम गन्दगी और सड़ांध को दूर करने की समस्याएं, उसी क्षण हल नहीं हो जायेंगी, बल्कि उस समय ये तमाम समस्याएं केवल अपनी पूर्णता में सामने आयेंगी और उनको हल करने के लिए जो परिस्थितियां आवश्यक हैं, देश उनकी ओर बढ़ना आरम्भ करेगा।

जैसे-जैसे भारत की श्रमजीवी जनता की चेतना बढ़ेगी और वह अपना भाग्य स्वयं अपने हाथों में लेगी, वैसे-वैसे ये संघर्ष और समस्याएं हल होती जायेंगी तथा भारत अपने मौजूदा आर्थिक एवं सांस्कृतिक पिछड़ेपन से उठकर संसार के सबसे उन्नत देशों के स्तर पर पहुंच जायगा। सारी दुनिया में समाजवाद स्थापित करने, और पूर्व तथा पश्चिम के बीच, दुनिया की उन्नत जातियों और पिछड़ी हुई जातियों के बीच आज जो अन्तर पाया जाता है, उसे अन्तिम रूप से दूर करने के महान काम में भारत की जनता को एक बहुत प्रमुख भूमिका अदा करनी है।

भारत के लोग इसके पहले भी संसार के इतिहास में बहुत बड़ा हिस्सा ले चुके हैं—विजेताओं के रूप में नहीं, बल्कि संस्कृति, चिन्तन, कला और उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में। भारतीय जनता की राष्ट्रीय एवं सामाजिक मुक्ति से मानवता को बहुत बड़ी और नयी देन प्राप्त होगी।

अध्याय २

भारत की दौलत और उसकी गरीबी

भारत की मौजूदा हालत के बारे में दो बातें एकदम सामने आकर खड़ी हो जाती हैं।

पहली बात है, भारत की दौलत—उसके अतुलित साधन जिनमें उसकी आजकल की पूरी आबादी को, और उससे भी बड़ी आबादी को, सुखी और समृद्ध बनाने की शक्ति है।

दूसरी बात है, भारत की गरीबी—उसकी अधिकांश जनता की गरीबी, ऐसी गरीबी जिसकी वे लोग कल्पना तक नहीं कर सकते जो पश्चिमी संसार की परिस्थितियों के आदी हैं ।

इन दो बातों के बीच खड़ी है भारत की मौजूदा सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था की समस्या।

१. भारत की दौलत

भारत गरीब लोगों का देश है। लेकिन वह गरीब देश नहीं है।

न सिर्फ भारत के प्राकृतिक साधन इतने अधिक हैं कि यदि खेती और उद्योग-धंधे दोनों का मिला-जुला विकास किया जाय तो देश समृद्धि के शिखर पर पहुंच सकता है; बल्कि इसके साथ-साथ यह बात भी सच है कि अंग्रेजी राज्य के पहले यदि दुनिया के पैमाने पर देखा जाता, तो भारत आर्थिक विकास में सबसे आगे था।

यह एक जानी-मानी बात है कि पुराने जमाने में दूसरे देशों के रहने वाले भारत को बेशुमार दौलत वाला देश समझते थे। १७५७ में क्लाइव को लगा था कि बंगाल की पुरानी राजधानी मुर्शिदाबाद "उतना ही फैला हुआ, उतनी ही अधिक आबादी वाला और उतना ही धनी नगर है जितना कि लन्दन।" ऐसे वर्णनों को थोड़े सन्देह के साथ स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि उस जमाने के लोग चन्द धनी और ताकतवर लोगों के हाथों में दौलत के जमा हो जाने को अधिक महत्व देते थे और दौलत के बंटवारे को कम महत्व देते थे। उस जमाने में भारत आने वाले विदेशी यात्रियों की जितनी रिपोर्टें मिलती हैं, उनमें काफी बातों में भेद भी पाया जाता है और लगता है कि उनमें काफी

नमक-मिर्च लगा कर वास्तविकता को पेश किया गया है। लेकिन इन दोनों बातों का ख्याल रखते हुए भी यह देखने में आता है कि सत्रहवीं और अठारहवीं सदी के शुरू में भारत में आने वाले तैवर्नियर, मनूची, बर्नियर, आदि यात्रियों ने अक्सर यह बताया है कि उस जमाने में गांवों में भी लोग आम तौर पर सुखी और सम्पन्न थे। आजकल हालत बिलकुल उलटी है। यह बात विवाद से बिलकुल परे है कि अंग्रेजी राज्य के पहले भारत का औद्योगिक विकास दुनिया के उस जमाने के मापदंड से बहुत बढ़ा-चढ़ा था। १९१६-१८ के भारतीय औद्योगिक कमीशन की रिपोर्ट इस सचाई को मानकर शुरू होती है; और कमीशन के अध्यक्ष और भारत की खनिज सम्पत्ति के अधिकारी विद्वान सर थामस हालैंड की रिपोर्ट (१९०८) से पता चलता है कि अंग्रेजी राज्य के पहले भारत में लोहे और इस्पात का उत्पादन काफी ऊंचे स्तर तक विकास कर चुका था। इससे पता चलता है कि भारत में आधुनिक उद्योग-धन्धों के विकास के लिए आवश्यक भौतिक परिस्थितियां किस हद तक तैयार थीं।

यह बात भी सभी लोग मानते हैं कि आधुनिक ढंग के ऊंचे से ऊंचे आर्थिक विकास के लिए जरूरी सभी प्राकृतिक साधन भारत में मौजूद हैं। भारत सरकार को आर्थिक पैदावार के संबंध में सलाह देने वाले अफसर सर जार्ज वाट ने १८९४ में कहा था कि "यदि केवल अविकसित साधनों के मूल्य और विस्तार को देखा जाय, तो संसार के बहुत कम देशों में खेती का इतने शानदार ढंग से विकास करने की क्षमता है, जैसी भारत में है।" और उद्योग-धन्धों के विकास के लिए जो साधन जरूरी हैं, वे तो और भी बड़ी मात्रा में भारत में मौजूद हैं। भारत में कोयला, लोहा, तेल, मैंगनीज, सोना, सीसा, चांदी और तांबा बड़े परिमाण में मौजूद हैं। १९४२ में एक अमरीकी टेक्निकल मिशन भारत आया था। उसने अनुमान लगाया था कि भारत में २५ करोड़ टन बौक्साइट मौजूद है, और केवल बंगाल और बिहार में ६० अरब टन कोयला मौजूद है, जिसमें से २० अरब टन काम में आ सकता है। इससे भी अधिक महत्व लोहे की खनिज का है। बहुत संभलकर अनुमान लगाने पर भी भारत में ३ अरब टन से कम लोहा नहीं है। इसके मुकाबले में ग्रेट ब्रिटेन में केवल २ अरब २५ करोड़ ४० लाख टन, और जर्मनी में १ अरब ३७ करोड़ ४० लाख टन लोहा मौजूद है। भारत से ज्यादा लोहे की खनिज केवल अमरीका और फ्रांस में है। अमरीका में ९ अरब ८८ करोड़ ५० लाख और फ्रांस में ४ अरब ३६ करोड़ ९० लाख टन लोहा है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि भारत के भूगर्भ पर्यालोकन विभाग (जिओलोजिकल सर्वे डिपार्टमेंट) को "अपने प्रबंध का खर्चा चलाने तथा खनिज पदार्थों का पता

लगाने वाली मशीनें खरीदने के लिए बहुत कम पैसा दिया गया है।" यह इसलिए कि वह खोजबीन का अपना काम इस हद तक न कर सके जिससे इन अतुलित प्राकृतिक साधनों का उपयोग भारत का धन बढ़ाने के लिए होने लगे। इस प्रकार, भारत की खनिज सम्पदा का हिसाब केवल कागजों में ही दर्ज है, मानो किसी ज्योतिषी ने अपने पत्र में आकाश के तारों का नक्शा खींच रखा हो।

इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात भारत की जन-शक्ति के साधन हैं, जिनका उपयोग करके सारे देश में बिजली के तारों का जाल फैलाया जा सकता है और जिनका उपयोग नहीं किया जा रहा है। जल-शक्ति के साधनों में भारत केवल अमरीका से ही पीछे है। फिर भी, १९३९ में भारत अपने इन साधनों का केवल १.३ प्रतिशत भाग ही उपयोग करता था, जब कि उसके मुकाबले में अमरीका उस वर्ष अपने साधनों का ५२ प्रतिशत, जापान ७२ प्रतिशत, और फ्रांस ८८ प्रतिशत भाग इस्तेमाल कर रहे थे। (वर्ल्ड अलमनेक, १९३९)

भारत की अर्थव्यवस्था के किसी भी पहलू को लीजिए, तो यही चित्र सामने आता है कि यहां प्राकृतिक साधनों की कोई सीमा नहीं है, पर अभी तक उनके विकास की अवहेलना की गयी है। साम्राज्यवादी खुद भी इस परिस्थिति के संकटजनक रूप को स्वीकार करते थे, हालांकि उनके पास इस समस्या का कोई हल नहीं था। कलकत्ते के दैनिक स्टेट्समैन के संपादक सर एलफ्रेड वाट्सन ने १९३३ में रायल एम्पायर सोसायटी की एक बैठक में कहा था : "यद्यपि भारत में एक महान औद्योगिक देश बनने के लिए सभी आवश्यक बातें इफरात के साथ मौजूद हैं; मगर, फिर भी आज वह आर्थिक दृष्टि से दुनिया का एक पिछड़ा हुआ देश है, और उद्योग-धंधों की दृष्टि से तो बहुत ही पीछे है...। भारत में उद्योग-धन्धों का विकास करने की क्षमता असंदिग्ध रूप से मौजूद है, लेकिन हमने इस समस्या को हल करने की कोई गम्भीर कोशिश कभी नहीं की।...यदि आने वाले वर्षों में भारत अपने विशाल आबादी की बढ़ी हुई मांग के आधार पर एक अभूतपूर्व ढंग से अपना औद्योगिक विकास नहीं कर सकेगा, तो देश का जीवन-निर्वाह का स्तर, जो आज भी हद दर्जे नीचा है, भूखों मरने के स्तर से भी नीचे गिर जायगा।"

२. भारत की गरीबी

भारत के वास्तविक प्राकृतिक धन और उसके जरा भी विकास न किये जाने की इस पृष्ठभूमि में भारत के लोगों की भयानक गरीबी खास तौर पर डरावनी मालूम पड़ने लगती है।

भारत के सरकारी आंकड़े शासन की मशीन चलाने के लिए तो जरूरत से ज्यादा हैं, पर जब जनता की हालत पता लगाने का कोई सवाल उठता है, तो वे बहुत ही बेकार और अनुपयोगी साबित होते हैं। १६५१ के पहले भारत में सरकारी तौर पर इसका कभी कोई अनुमान नहीं लगाया गया था कि देश की राष्ट्रीय आय अथवा औसत आय क्या है (केवल कभी-कभी बहुत ही हवाई ढग से कुछ आंकड़े मान लिये गये थे, जैसे कि १६३० में साइमन कमीशन ने एक आंकड़ा माना था, जिस पर हम बाद में विचार करेंगे)। और यहां तक की १६५१ में राष्ट्रीय आय समिति ने भी जो अनुमान प्रकाशित किया, उसके बारे में कहा गया कि वह एक "आरजी" चीज है, क्योंकि वह "ऐसी सामग्री पर आधारित है जिस पर यह नहीं कहा जा सकता कि कितना भरोसा किया जा सकता है, या फिर कुछ अन्य बातों में वह ऐसी गणना पर आधारित है जो कुछ ऐसी बातें पहले से मान लेता है जिनकी सच्चाई के बारे में पूरा यकीन नहीं है।" मजूरी, काम के घन्टे, मजदूरी की शर्तें, मजदूरों का स्वास्थ्य, रहने के मकानों की सुविधा—इन सब बातों के बारे में भी इसी प्रकार पर्याप्त आंकड़ों की बड़ी कमी है।

भारत के रहने वालों की फी आदमी कितनी औसत आमदनी है, इसके अभी तक अनेक अनुमान लगाये जा चुके हैं, और उनको लेकर काफी गरम बहस चलती रही है। १६३० में साइमन कमीशन ने एक अनुमान लगाया था। इस कमीशन की रिपोर्ट का पहला भाग भारत में साम्राज्यवादी शासन का औचित्य साबित करने के लिए बड़ी संख्या में वितरित करने के उद्देश्य से लिखा गया था। उसमें भारतीयों की औसत आय को जबर्दस्ती बढ़ा-चढ़ा कर लगभग ८ पौंड प्रति वर्ष बताया गया था; और इस अनुमान का बाद में खूब प्रचार किया गया। साइमन कमीशन ने अपनी रिपोर्ट १६३० में तैयार की थी, लेकिन उसने अपने हिसाब का आधार बनाया था पहले महायुद्ध के फौरन बाद के वर्षों को, अर्थात १६१६-२०, १६२०-२१ और १६२१-२२ को, जब कि मुद्रा प्रसार के कारण चीजों के दाम बहुत महंगे हो गये थे। और फिर कमीशन ने इन वर्षों की भी सबसे ऊंची संख्या को चुनकर उस असाधारण संख्या को (कमीशन के शब्दों में, "सबसे अधिक आशावादी संख्या" को) पूरे काल की प्रतिनिधि संख्या मान लिया था। लेकिन इन सबके बाद भी, सरकार के नियुक्त किये हुए साइमन कमीशन ने १६२१-२२ में भारतीयों की औसत आय का जो "सबसे अधिक आशावादी" अनुमान लगाया, वह ५ पेंस रोजाना से ज्यादा नहीं बैठता था।

परन्तु, सच्चाई तक पहुंचने के लिए जरूरी है कि जिन बातों की तरफ कमीशन ने ध्यान नहीं दिया था, हम उनको ध्यान में रखते हुए उसका हिसाब

ठीक कर लें। भारत सरकार चीजों के दामों का जो सूचक अंक रखती है, वह १९२१ में २३६ था और १९३६ तक १२५ रह गया था—यानी लगभग आधा हो गया था। इस मंदी का सबसे ज्यादा असर खेती की पैदावार के दामों पर पड़ा था, जो कि भारतीयों की आमदनी का मुख्य आधार है। १९२१ और १९३६ के बीच अनाज के फुटकर दामों का सूचक अंक आधे से भी कम रह गया था। इस प्रकार, यदि खेती की पैदावार के दामों की इस गिरावट का भी हिसाब में ख्याल रखा जाय, तो साइमन कमीशन ने १९२१-२२ में औसत आय जो ५ पेंस रोजाना का अनुमान लगाया था, वह १९३१-४० में आकर ढाई पेंस रोजाना रह जाता है। लेकिन यह संख्या केवल पूरी आबादी की आय का औसत बताती है। उससे अधिकांश आबादी की वास्तविक आय का कोई पता नहीं चलता। इस संख्या में से वह रकम घटानी होगी जो साम्राज्यवाद घरेलू खर्च के नाम पर और अपने खिराज के तौर पर वसूल कर लेता है (इन मदों में कर्जों का सूद, भारत में लगी अंग्रेजी पूंजी से होने वाला मुनाफा, बैंकों तथा महाजनों की दलाली, आदि शामिल हैं), और जिसके बदले में ब्रिटेन से भारत में कोई माल नहीं आता था। शाह और खम्भाता नामक अर्थशास्त्रियों ने अनुमान लगाया था कि कुल राष्ट्रीय आय का दसवें से कुछ अधिक भाग इस तरह देश के बाहर चला जाता है। यानी, वह ढाई पेंस रोजाना की आय, इस प्रकार केवल सवा दो पेंस रोजाना रह जाती है। इसके बाद हमें इस तरफ ध्यान देना पड़ता है कि औसत आय के पीछे बहुत ही असमान आमदनियां छिपी होती हैं। शाह और खम्भाता ने साबित किया था कि राष्ट्रीय आय का एक-तिहाई हिस्सा आबादी के केवल १ प्रतिशत लोग ले जाते हैं, और ६० प्रतिशत आबादी के हिस्से में राष्ट्रीय आय का सिर्फ ३० प्रतिशत भाग पड़ता है। इसका मतलब यह हुआ कि जहां तक आबादी के ६० प्रतिशत भाग या अधिकांश का सम्बन्ध है, फी आदमी औसत राष्ट्रीय आय को आधा करने पर ही यह पता चल सकता है की आबादी के इस ६० प्रतिशत की सचमुच कितनी औसत आय है।

इस प्रकार, यदि हम साइमन कमीशन के "सबसे अधिक आशावादी अनुमान" को भी लें और उस पर आय के बंटवारे के आंकड़ों को लागू करें तथा बाद में आने वाली मंदी और घरेलू खर्च तथा साम्राज्यवादी खिराज के रूप में देश के बाहर निकल जाने वाली रकम का खयाल रखें, तो हम इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि दूसरा महायुद्ध आरम्भ होने के ठीक पहले भारत की अधिकतर आबादी के औसत आदमी की आय एक पेनी से लेकर सवा पेनी रोज तक थी। यह हिसाब स्वयं साम्राज्यवाद के अपने अनुमान के आधार पर लगाया गया है और उस हिसाब को लगाते समय हर ऐसी बात

का खयाल रखा गया है जो साम्राज्यवाद के हित में जाती है। इस प्रकार, जो मोटा अन्दाजा लगता है (सही आंकड़ों के अभाव में इससे अधिक और कुछ नहीं हो सकता), वह बाद के और दो सरकारी अनुमानों से पुष्ट होता है। एक अनुमान भारत की केन्द्रीय बैंकिंग जांच कमेटी ने (१९३१ में) किया था, और दूसरा भारत सरकार के वित्त-मंत्री सर जेम्स ग्रिग ने (अप्रैल १९३८ में) किया था।

हाल ही में जो अनुमान लगाए गये हैं, उनसे भी यह नहीं जाहिर होता कि स्थिति में कुछ सुधार हुआ है। इसके विपरीत, उनसे जाहिर होता है कि स्थिति और बिगड़ गई है। भारत सरकार ने एक राष्ट्रीय समिति नियुक्त की थी। उसने १९५१ में अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की। उसमें अनुमान लगाया गया था कि १९४८-४९ में भारत की राष्ट्रीय आय सालाना १९ पौंड फी आदमी थी। लेकिन बम्बई शहर में रहन-सहन के खर्च का सरकारी सूचक अंक, जो कि १९३४ में १०० था, १९५० तक ३२० हो गया था; और दूसरे शहरों में इससे भी ज्यादा बढ़ गया था। यानी, साइमन कमीशन के दिनों के मुकाबले में रहन-सहन का खर्चा तिगुने से भी अधिक हो गया था। इस आधार पर, राष्ट्रीय आय समिति के अनुमान के १९ पौंड ६ पौंड के बराबर रह जाते हैं, जबकि साइमन कमीशन ने ८ पौंड का अनुमान लगाया था। इससे जाहिर होता है कि इस अरसे में पहले का गिरा हुआ स्तर और भी गिर गया था।

१९५० में राष्ट्र संघ ने "एशिया और सुदूर पूर्व का आर्थिक सिंहावलोकन" नाम से एक दस्तावेज प्रकाशित किया था। उसमें १९३८-३९ के दामों को स्थिर मानकर भारत की फी आदमी राष्ट्रीय आय का नीचे लिखा अनुमान लगाया था (यह अनुमान केवल ब्रिटिश भारत के सूबों के लिए है, देशी रियासतों के लिए नहीं) :

	राष्ट्रीय आय (लाख रुपयों में)	फी आदमी आय (रुपयों में)	आबादी (लाख में)
१९३१-३२	१७१,२००	८३	२,०६०
१९४५-४६	१८५,३००	७७	२,४२०
१९४६-४७	१८२,९५०	७५	२,४४०
१९४८-४९	१६९,५८०	७०	२,४६०

इसी प्रकार यह बात भी महत्वहीन नहीं है कि भारत सरकार की पंच-वर्षीय योजना ने, जो १९५१ में प्रकाशित हुई थी, अपना प्रारम्भिक लक्ष्य भारतीयों के रहन-सहन के स्तर को फिर से पुरानी अवस्था में ले आना

निश्चित किया था। इस तरह पंचवर्षीय योजना में भारत सरकार ने स्वीकार किया था कि पिछले वर्षों में भारतीयों का जीवन-स्तर गिर गया है। १९५१ में राष्ट्र संघ के खाद्य तथा कृषि संगठन ने पोषण सम्बन्धी एक रिपोर्ट प्रकाशित की थी। उसमें ३४ देशों की स्थिति की जांच बतायी गयी थी। उससे पता चला कि दस देशों में पोषण का औसत स्तर रोजाना ३,००० कैलोरी फी आदमी से ज्यादा था; २२ देशों में २,००० से लेकर ३,००० कैलोरी तक था; और दो देश, भारत और इन्डोनेशिया, सूची में सबसे नीचे थे। वहां पोषण का औसत स्तर २,००० कैलोरी से भी कम था। राष्ट्र संघ ने १९५३ की जो आंकड़ों की वार्षिकी प्रकाशित की है, उसमें भारत के पोषण के स्तर को दुनिया में सबसे नीचे बताया गया है। वार्षिकी का अनुमान है कि यहां हर आदमी को भोजन के रूप में औसतन रोजाना केवल १,५९० कैलोरी मिलती है।

इन आंकड़ों का महत्व केवल इतना ही है कि उनसे हमें भारत की भयंकर गरीबी का एक प्रारम्भिक आभास मिल जाता है। रहन-सहन की परिस्थितियों के रूप में इन आंकड़ों का क्या अर्थ होता है? भारत के प्रमुख अर्थशास्त्री शाह और खम्भाता ने (१९२४ में) इसे इन शब्दों में व्यक्त किया है: "भारतीय लोगों की औसत आय इतनी ही होती है कि उससे या तो आबादी के हर तीन आदमियों में से दो को रोटी दे दी जाय, और या पूरी आबादी को जितनी बार भोजन की आवश्यता होती है, उनमें हर तीन बार में से केवल दो बार उसे रोटी दी जाय; और इतना भी सिर्फ इस शर्त पर मिल सकता है कि पूरी आबादी नंगे घूमना कबूल करे, बारहों महीने घर के बाहर खुले में रहे, किसी प्रकार के मनोरंजन या खेल-कूद में भाग न ले तथा भोजन के सिवा—और वह भी सबसे नीचे स्तर के, सबसे ज्यादा मोटे ढंग के और सबसे कम पोषण शक्ति वाले भोजन के सिवा—और किसी चीज की मांग न करे।"

जहां तक जनता की हालत का सवाल है, हमारे सामने आधा पेट खाकर गंदी और संकरी कोठरियों में रहने वाले इन्सानों का भयानक चित्र आता है। १९३३ में भारत के डाक्टरी विभाग के संचालक मेजर जनरल सर जान मेगो ने अनुमान लगाया था कि आबादी के ६१ प्रतिशत को भोजन में आवश्यक पोषण-शक्ति नहीं मिलती। १९२६ में सरकार ने भारत की खेती की जांच करने के लिए एक शाही कमीशन नियुक्त किया था। खुद सरकारी अफसरों ने कमीशन के दफ्तर में किसानों की भयानक हालत के प्रमाणों का ढेर लगा दिया। कर्नल ग्राहम ने कमीशन को बताया कि "खेती में सुधार करने के रास्ते में एक बहुत बड़ी कठिनाई यह है कि किसानों को भोजन में

बहुत कम पोषण-शक्ति मिलती है।" कून्नूर के पैस्चयर इंस्टीट्यूट में अभाव-जन्य बीमारियों के अनुसंधान के संचालक लेफ्टिनेंट-कर्नल एम. मकहैरिसन ने तो और भी जोरदार शब्दों का प्रयोग किया था : "भारत में जनता जिन अनेक अभावों से दुखी है, उनमें शायद सबसे बड़ा पोषण-शक्ति का अभाव है।"

१६२९ में सरकार ने भारत के मजदूरों की हालत की जांच करने के लिए एक शाही कमीशन नियुक्त किया था। इस कमीशन ने पता लगाया कि "अधिकतर औद्योगिक केन्द्रों में ऐसे परिवारों और व्यक्तियों की संख्या, जो कर्जे से दबे हैं, कुल आबादी की दो-तिहाई से कम नहीं है...अधिकतर लोगों का कर्ज उनकी तीन महीने की तनखाह से ज्यादा है और अक्सर तो वह उससे भी ज्यादा होता है।"

जहां तक रहने के मकानों का सम्बन्ध है, औसत मजदूर परिवार के पास एक कोठरी भी नहीं होती, बल्कि अक्सर तो कई-कई परिवार एक कोठरी में रहते हैं। १६३१ की जनगणना से पता चला था कि बम्बई में आबादी का एक-तिहाई भाग एक-एक कोठरी में पांच से भी ज्यादा आदमियों के हिसाब से रहता था; २५६,३७९ लोग एक कोठरी में छः से लेकर नौ आदमियों तक के हिसाब से रहते थे; ८१३३ लोग एक कोठरी में दस से लेकर उन्नीस आदमियों तक के हिसाब से रहते थे; और १५,४९० लोग ऐसे थे जो एक कोठरी में बीस या उससे भी ज्यादा के हिसाब से रहते थे।

१६३१ के बाद और खास तौर पर दूसरे महायुद्ध के बाद से रहन-सहन की हालत बहुत ज्यादा खराब हो गई है। वातावरण स्वच्छता समिति (एनवायरमेंटल हाइजीन कमेटी) की रिपोर्ट में, जो १६४८ में निकली थी, बताया गया था उसके पहले के आठ वर्षों में लोगों की रहन-सहन की परिस्थितियां बहुत अधिक बिगड़ गयी हैं। इस समिति ने अनुमान लगाया था कि १६४२ से लेकर १६५१ तक के दस वर्षों में शहरों की आबादी ६६ प्रतिशत बढ़ जायेगी, जब कि रहने के मकानों की तादाद २० प्रतिशत से अधिक नहीं बढ़ेगी।

जहां तक सफाई का ताल्लुक है, व्हिटले कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में बताया था : "सफाई की तरफ जो लापरवाही बरती जा रही है, वह अक्सर सड़ते हुए कूड़े के ढेरों और मैलों से भरे गढ़ों के रूप में जाहिर होती है; और पाखानों के अभाव के कारण हवा और मिट्टी में आमतौर पर गंदगी बढ़ जाती है। मकान के नाम पर अक्सर केवल एक कोठरी होती है जिसकी न तो कोई नींव होती है, न उसमें खिड़कियां होती हैं और न ही हवा के आने-जाने का काफी रास्ता होता है। कोठरी का दरवाजा इतना नीचा होता है कि बिना झुके उसमें से निकला नहीं जा सकता। पर्दा करने के लिए मिट्टी

के तेल की पुराने टिनों की दीवार उठा दी जाती है और कोई पुराना बोरा टांग दिया जाता है, जिससे रोशनी और हवा का अन्दर आना और भी मुश्किल हो जाता है। इस तरह की कोठरियों में इन्सान पैदा होते हैं, सोते और खाते हैं, जीवन बसर करते हैं और मर जाते हैं।"

१६३२-३३ में बम्बई सरकार के मजदूर विभाग ने मजदूर वर्ग की आमदनी और खर्च के हिसाब की जांच की थी। उसने पता लगाया कि मजदूरों के घरों में से २६ प्रतिशत ऐसे हैं जिनमें पानी का एक नल आठ या आठ से कम घरों के बीच में है; ४४ प्रतिशत घर ऐसे हैं जिनमें नौ से लेकर पन्द्रह घरों तक के बीच एक नल है; और २६ प्रतिशत घर ऐसे है जिनमें सोलह या उससे भी ज्यादा घरों के बीच एक नल है। ६५ प्रतिशत घरों में आठ या उससे कम घरों के बीच एक पाखाना है; १२ प्रतिशत घरों में नौ से लेकर पन्द्रह घरों के बीच एक पाखाना है; और २४ प्रतिशत घरों में सोलह या उससे भी ज्यादा घरों के बीच एक पाखाना है। ऐसी रिपोर्टें और विवरण और भी हैं; उनकी संख्या की कोई सीमा नहीं है।

इन परिस्थितियों का लोगों के स्वास्थ्य पर क्या प्रभाव पड़ेगा, इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। यह इन्हीं परिस्थितियों का प्रताप था कि १६३७ में भारत में सरकारी तौर पर जो मौतें दर्ज की गयीं, उनका अनुपात २२.४ फी हजार था (१६४६ में वह १६.४ फी हजार हो गया)। इसके मुकाबले में इंगलैंड और वेल्स में मौतों का अनुपात १२.४ फी हजार था (जो कि १६५२ में ११.३ फी हजार हो गया था)। इंगलैंड और वेल्स में रहने वाला आदमी औसतन जितने वर्ष जिन्दा रहने की आशा करता है, भारत में रहने वाला उससे केवल आधे समय तक जिन्दा रहता है। यह भी इन्हीं परिस्थितियों का प्रताप है कि भारत में यदि एक हजार बच्चे पैदा होते हैं, तो उनको पैदा करने में २४.५ मांएं मर जाती हैं, जबकि उसके मुकाबले में इंगलैंड और वेल्स में मांओं की मृत्यु का अनुपात ४.१ फी हजार है। यह भी इन्हीं परिस्थितियों का प्रताप है कि १६४३ में भारत में एक साल में जितने बच्चे पैदा हुए, उनमें से हर हजार बच्चों में से १६३ मर गये; जब कि इंगलैंड और वेल्स में मरने वाले बच्चों की संख्या ४६ फी हजार रही। और फी हजार पर मौतों की यह संख्या कलकत्ते में २३६, बम्बई में २४८ और मद्रास में २२७ तक पहुंच गयी थी।

सरकारी कागजों में मौत का कारण प्रायः "बुखार" बताया जाता है। आधा पेट खाकर रहने और गरीबी की जिन्दगी बिताने के बुरे स्वास्थ्य के रूप में जो परिणाम होते हैं, वे सब इसी गोल-मोल शब्द की मद में आ जाते हैं। भारत की आर्थिक परिस्थितियों की मानी हुई विद्वान वेरा एंस्टे की

सहानुभूति साम्राज्यवाद के साथ है। पर वह भी इस नतीजे पर पहुंची है कि भारत में जितने लोग मरते हैं, उनमें चार में से तीन आदमी "गरीबी की बीमारियों" से मरते हैं। जी. इमेर्सन एक भारतीय गांव में रहने के लिए गये। उन्होंने पाया कि गांव वालों को डाक्टरी मदद या अन्य प्रकार की सहायता पहुंचाने के तमाम प्रयत्न गरीबी की बुनियादी समस्या से टकराकर बेकार हो जाते हैं (१९३१)। यहां तक की टाइम्स के अनुदारदली साम्राज्य-वादी कलकत्ता सम्वाददाता को भी कुछ इसी तरह से बात कहनी पड़ी। उसे भी यह मत प्रकट करना पड़ा कि निकट से देखने पर भारत "अध-भुखमरी" का ऐसा चित्र पेश करता है जो "आंखों में चुभने लगता है।" (१ फरवरी १९२७)

क्या हाल के दिनों में हालत कुछ बदल गयी है? **समुद्र पार के देशों का आर्थिक सिंहावलोकन** नामक पुस्तक में, जो १९५३ में प्रकाशित हुई थी, भारत की १९५२ की हालत का यह चित्र खींचा गया है :

> "अनुमान लगाया गया है कि इस पूरे भूखंड में कम से कम दस करोड़ आदमी हर साल मलेरिया से बीमार पड़ते हैं; और इस मर्ज से मरने वालों की संख्या भारत में हर साल शायद दस या पन्द्रह लाख तक पहुंच जाती है। अनुमान किया जाता है कि हर साल लगभग २५ लाख आदमी तपेदिक से बीमार रहते हैं और अकेले इस मर्ज से हर साल पांच लाख आदमी मर जाते हैं...।
>
> "बुरा भोजन खाने या कम भोजन मिलने के कारण जनता के एक काफी बड़े भाग के बदन में जीवनशक्ति और बीमारियों से बचने की ताकत कम हो जाती है। लोगों के भोजन की जांच-पड़ताल करने पर पता चला कि ३० प्रतिशत परिवार ऐसा भोजन खाते हैं जो बदन में आवश्यक शक्ति पैदा करने के लिए अपर्याप्त होता है।"

इस बात की ओर भी ध्यान देना अत्यंत आवश्यक है कि गरीबी की यह परिस्थिति एक स्तर पर नहीं ठहरी रहती। वह बराबर बदलती और विकसित होती जाती है। बंगाल के स्वास्थ्य संचालक ने १९२७-२८ की जो रिपोर्ट दी थी उसमें लिखा था कि "बंगाल में आजकल के किसानों का अधिकांश भाग ऐसा भोजन खाने लगा है जिसे खा कर चूहे भी पांच सप्ताह से ज्यादा जिन्दा नहीं रह सकते," और "अब अपर्याप्त भोजन मिलने के कारण उनके बदन में इतनी कम जीवन-शक्ति रह गयी है कि वे घातक बीमारियों के संसर्ग में आते ही उनके शिकार हो जाते हैं।" इसी प्रकार १९३३ में भारत के डाक्टरी विभाग के संचालक ने रिपोर्ट दी थी कि "भारत

भर में" बीमारियां "बराबर बढ़ रही हैं, और लगता है कि बहुत तेजी से बढ़ रही हैं।" हालत के इस तरह बिगड़ते जाने का सम्बन्ध इस बात से है कि साम्राज्यवादी शोषण की परिस्थितियों में खेती का संकट बराबर तेज होता जा रहा है। यह संकट बुनियादी सामाजिक तथा राजनीतिक परिवर्तन लाने वाली एक जबदस्त प्रेरक शक्ति का काम कर रहा है। हमारे सामने जितने भी तथ्य हैं, उनसे यही प्रकट होता है कि एकदम हाल के दिनों में भी हालत बराबर गिरती ही गयी है।

३. आबादी बहुत ज्यादा होने का भ्रम

भारतीय जनता की इस भयंकर गरीबी का क्या कारण है?

समस्या का गम्भीरता से विश्लेषण करने के बजाय अक्सर कुछ बहुत सतही वजहें बता दी जाती हैं। इसकी एक अच्छी मिसाल यह दलील है कि भारतीय जनता चूंकि अज्ञान, अंधविश्वास और सामाजिक पिछड़ेपन का शिकार है, इसलिए वह गरीब है। निस्संदेह, भारत की गरीबी में इन बातों का भी बहुत बड़ा हाथ है, और भारतीय जनता के सामने आज पुर्ननिर्माण का जो काम है, उसका एक प्रमुख अंग देश को पीछे घसीटने वाली इन बुराइयों को दूर करना होगा। लेकिन जब इन बुराइयों को भारत की गरीबी का मूल कारण बताया जाता है, तब वास्तव में गाड़ी को घोड़े के आगे रख दिया जाता है। सामाजिक और सांस्कृतिक पिछड़ापन लोगों की गिरी हुई आर्थिक हालत तथा राजनीतिक पराधीनता का प्रतिबिम्ब एवं परिणाम होता है, न कि लोगों की गिरी हुई आर्थिक हालत तथा राजनीतिक पराधीनता उनके सामाजिक और सांस्कृतिक पिछड़ेपन का परिणाम होती है। संगठन के भौतिक आधार में परिवर्तन के जरिये ही इस पिछडेपन को दूर किया जा सकता है। यही दूसरे सभी दरवाजों की कुंजी है। केवल एक शक्तिशाली जन-आन्दोलन ही साम्राज्यवादी और सामन्ती सम्बन्धों की जंजीरों को तोड़कर भौतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विकास के लिए एक साथ रास्ता खोल सकता है। यह विश्लेषण सही है, इसका सोवियत संघ के उदाहरण से काफी प्रमाण मिल जाता है। जब वहां के मजदूरों और किसानों ने एक बार मिल कर अपने शोषकों का तख्ता उलट दिया, तो फिर उन्होंने औद्योगिक एवं सांस्कृतिक प्रगति की ऐसी क्षमता का परिचय दिया जिसने दुनिया के सबसे अधिक उन्नत देशों को भी पीछे छोड़ दिया। भारत में विकास की इस क्रिया को भले ही किन्हीं भिन्न रूपों और मंजिलों में से गुजरना पड़े, पर यहां के मजदूर और किसान भी उसी क्षमता का परिचय देंगे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

भारत की गरीबी की अक्सर एक और वजह बताई जाती है, जिसका इससे कम प्रचार नहीं है। वह यह कि भारत की गरीबी यहां की "जरूरत से ज्यादा आबादी की वजह से है।" दुनिया में बेरहम लोगों की मदद के लिए जितने झूठ गढ़े गये हैं, उनमें सबसे बड़ा झूठ यह है कि आबादी के जरूरत से ज्यादा बढ़ जाने के कारण पूंजीवादी समाज में जनता की गरीबी बढ़ जाती है। आधुनिक काल में यह झूठ माल्थस नामक उस प्रतिक्रियावादी पादरी के समय से प्रचलित हुआ है जिसने कोई नया आविष्कार नहीं किया था बल्कि जिसने १७६८ में फ्रांसीसी क्रांति और उदारतावादी सिद्धान्तों के खिलाफ प्रचार करने के लिए एक राजनीतिक अस्त्र के रूप में अपने इस सिद्धांत को गढ़ा था, और जिसको इसके इनाम में ईस्ट इंडिया कम्पनी के कालेज में प्रोफेसरी मिली थी। इंगलैंड के धनिक वर्ग ने उसके इस सिद्धांत का "मानव विकास की समस्त आकांक्षाओं को नष्ट कर देने वाली एक महान शक्ति के रूप में बड़ी खुशियां मानकर स्वागत किया था।" (मार्क्स, पूंजी, खंड १, पच्चीसवां अध्याय) आज भी माल्थस का सिद्धांत प्रतिक्रियावादियों का बड़ा प्यारा सिद्धांत है। यह सिद्धांत उत्पादन के विकास की सम्भावनाओं पर मनमाने तौर पर कुछ लौह-सीमाएं थोप देता है, और इस बात को मानकर चलता है कि किसी भी हालत में इन सीमाओं के आगे उत्पादन का विकास नहीं हो सकता। यही इस सिद्धांत के तर्क का आधार है, और माल्थस ने यह मनगढ़न्त धारणा ठीक उस समय बनायी थी जब उत्पादन का विकास सबसे तेज विस्तार के युग में प्रवेश कर रहा था। उन्नीसवीं सदी के अनुभव ने इस सिद्धांत को चकनाचूर कर दिया। उस सदी में आबादी जिस रफ्तार से बढ़ी, उसके मुकाबले में दौलत कहीं ज्यादा तेज रफ्तार से बढ़ी और यह बात साफ हो गयी कि गरीबी की कोई और वजह है। बीसवीं सदी में, खास तौर पर पहले महायुद्ध के बाद और संसारव्यापी अर्थ-संकट आने पर, इस सिद्धांत को फिर से जिलाने की कोशिशें की गयीं। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय आंकड़ों ने उसे फिर खत्म कर दिया। युद्ध में और उसके बाद, पैदावार का और पैदावार के साधनों का बड़े विशाल पैमाने पर विनाश हुआ था, मगर उसके बावजूद आंकड़ों से पता चला कि दुनिया की आबादी जितनी बढ़ रही है, खाने-पीने की चीजों, कच्चे मालों और औद्योगिक मालों की पैदावार लगातार उससे कहीं अधिक तेजी से बढ़ रही है। इससे लोगों को मजबूर होकर अपने कष्टों और दुखों का कारण समाज-व्यवस्था में ढूंढना पड़ा। शासक वर्ग के सामने यह समस्या खड़ी हो गयी कि दौलत की पैदावार को कैसे रोका जाय। इसके उसने अनेक बड़े चतुर उपाय निकाले। जहां तक आबादी का सम्बन्ध था, शासक वर्ग को यह शिकायत होने लगी कि योरप और अमरीका के लोग तोपों का चारा बनने के

लिए काफी बच्चे नहीं पैदा कर रहे हैं। माल्थस के सिद्धांत को उलट कर आधुनिक शासक वर्ग ने यह नया नारा अपनाया कि दौलत कम पैदा करो और बच्चे ज्यादा!

पुराने ढर्रे के प्रतिक्रियावादियों का यह दिवालिया सिद्धान्त अब योरप और अमरीका से निकाल दिये जाने पर एशिया में अपने लिए अन्तिम आश्रय खोज रहा है। कहा जाता है कि भारत की गरीबी का एकमात्र कारण वहां की समाज-व्यवस्था नहीं, बल्कि आबादी का जरूरत से ज्यादा हो जाना है। कहा जाता है कि आबादी के बढ़ने पर जो कुछ पवित्र "प्राकृतिक बंधन" लगे हुए थे (जैसे युद्ध, महामारी और अकाल), साम्राज्यवादी शासन के जन-हितकारी प्रभाव ने उनको दूर कर दिया और इस कारण अदूरदर्शी हिन्दुस्तानी इतने अधिक बच्चे पैदा करने लगे जिनके लिए जीवन-निर्वाह के साधन जुटाना असम्भव था। अर्थशास्त्र के एक प्रमुख साम्राज्यवादी विशेषज्ञ (एंस्टे) ने बड़े नाटकीय ढंग से चिल्लाकर कहा: "वह भारतीय माल्थस कहां है जो बच्चों की इस सत्यानाशी बाढ़ को रोकेगा?" साम्राज्य के अर्थशास्त्र के एक दूसरे विशेषज्ञ (नोल्स) ने घोषणा की: "भारत माल्थस के इस सिद्धांत को चरितार्थ कर रहा है कि जब युद्ध, महामारी अथवा अकाल आबादी की बढ़ती रोकने के लिए नहीं होते, तब वह इस हद तक बढ़ जाती है कि लोगों को जिन्दा रहने लायक भी खाने को नहीं मिलता।" १९३३ में लन्दन के स्वास्थ्य विज्ञान तथा उष्ण-कटिबंध की बीमारियों के स्कूल में गर्भ-निरोध विश्व केन्द्र के तत्वावधान में एक सम्मेलन हुआ था। उसका विषय था "एशिया में गर्भ-विरोध।" इस सम्मेलन का उद्देश्य यह था कि न केवल चिकित्सा-विज्ञान के एक प्रश्न के रूप में, बल्कि एशिया की गरीबी की समस्याओं को हल करने के लिए एक आर्थिक उपाय के रूप में गर्भ-निरोध का समर्थन किया जाय। इसका परिणाम यह हुआ है कि अभी हाल में भारत सरकार ने भी गरीबी का मुकाबला करने के एक तथाकथित अस्त्र के रूप में गर्भ-निरोध का सरकारी तौर पर प्रचार करना शुरू कर दिया है।

तथ्य क्या कहते हैं?

पहली बात तो यह है कि ऊपर दी गयी तमाम दलीलों से कुछ ऐसी तस्वीर सामने आती है मानो अंग्रेजों के राज्य में भारत की आबादी और देशों के मुकाबले में हद से ज्यादा तेज रफ्तार से बढ़ती गयी है, और अब हालत यहां तक पहुंच गयी कि आबादी के इस तरह अंधाधुंध बढ़ने की वजह से यह देश हद से ज्यादा गरीब हो गया है। लेकिन, असलियत यह है कि अंग्रेजों के राज्य में भारत की आबादी सचमुच जिस रफ्तार से बढ़ी है, वह योरप के किसी भी देश की रफ्तार से बहुत कम है। बल्कि, सच पूछा जाय

तो दुनिया के अलग-अलग देशों में जिस रफ्तार से आबादी बढ़ी है, उसकी सूची में भारत बिलकुल नीचे की तरफ आता है। चाहे आप अंग्रेजी राज्य के पूरे युग को ले लीजिए और चाहे पिछले पचास वर्षों को, यह बात दोनों सूरतों में सच निकलेगी।

मोरलैंड ने अनुमान लगाया था कि सोलहवीं सदी के अन्त में भारत की आबादी १० करोड़ थी। १९५१ तक भारत और पाकिस्तान की आबादी ४३ करोड़ ३० लाख हो गयी थी। १७०० में इंगलैंड और वेल्स की आबादी ५१ लाख थी। १९५१ तक वह बढ़कर ४ करोड़ ३७ लाख हो गयी थी। इसका मतलब यह हुआ कि वहां थोड़े समय में ही आबादी आठ-गुनी बढ़ गयी थी। यानी, भारत में जिस रफ्तार से आबादी बढ़ी है, इंगलैंड और वेल्स में उसकी दुगनी से भी ज्यादा रफ्तार रही है।

आधुनिक युग का अधिक महत्व है। औद्योगिक क्रान्ति के साथ-साथ योरप में आबादी बहुत तेजी से बढ़ी थी। पर आधुनिक काल में रफ्तार धीमी पड़ गयी है। नीचे के आंकड़े देखिए; उनसे यह पता चल जाता है कि १८७० और १९१० के बीच भारत में और योरप के प्रमुख देशों में आबादी किस रफ्तार से बढ़ी है :

	प्रतिशत बढ़ती
भारत	१८.९
इंगलैंड और वेल्स	५८.०
जर्मनी	५९.०
बेल्जियम	४७.८
हालैंड	६२.०
रूस	७३.९
योरप का औसत	४५.४

एक फ्रांस को छोड़कर, बाकी सभी योरपीय देशों के मुकाबले भारत में आबादी के बढ़ने की रफ्तार कम रही है।

यदि १८७१ से १९४१ तक के काल को लिया जाय, तो पता चलता है कि भारत में आबादी के बढ़ने की रफ्तार ५२ प्रतिशत रही, जबकि उसके मुकाबले ब्रिटिश द्वीपों में आबादी में ५७ प्रतिशत की बढ़ती हुई।

> "१८७१ से लेकर १९४१ तक भारत की आबादी के बढ़ने की औसत रफ्तार लगभग ०.६० प्रतिशत सालाना रही। १८५० से लेकर १९४० तक के काल में पूरी दुनिया की आबादी के बढ़ने की रफ्तार का जो अनुमान लगाया गया है (यानी ०.६९ प्रतिशत), उससे भारत

की रफ्तार थोड़ी कम थी।" (प्रोफेसर किंग्सले डेविस, भारत और पाकिस्तान की आबादी, १९५१)

१९३१ में केन्द्रीय बैंकिंग जांच समिति को भी यह आवश्यकता महसूस हुई कि भारत की गरीबी का कारण जरूरत से ज्यादा आबादी को बताने की जो प्रथा चली आ रही थी, उसका अपनी रिपोर्ट में खण्डन करे। उसने लिखा :

> "इन परिस्थितियों का केवल एक यही कारण नहीं है कि आबादी अनुचित रूप से बढ़ गयी है और उसके फलस्वरूप जमीन पर आबादी का दबाव बढ़ गया है। भारत की आबादी की तुलना इंगलैंड की आबादी से कीजिए। हमारे पास दोनों देशों के तीन दशकों के आंकड़े मौजूद हैं। उनको देखने पर पता चलता है कि इंगलैंड और वेल्स की आबादी में १८९१ और १९०१ के बीच १२.१७% की बढ़ती हुई थी, १९०१ और १९११ के बीच १०.९१% की, और १९११ और १९२१ के बीच ४.८% की। इसके मुकाबले में ब्रिटिश भारत की आबादी में क्रमशः २.४%, ५.५% और १.३% की बढ़ती हुई थी।"

आबादी का घनापन कितना था? १९४१ में पूरे भारत में २४६ आदमी प्रति वर्ग-मील की आबादी थी, जबकि इंगलैंड और वेल्स में ७०३, बेल्जियम में ७०२, हालैंड में ६३९ और जर्मनी में ३४८ आदमी प्रति वर्ग-मील की आबादी थी।

क्या आबादी की बढ़ती खाने-पीने की चीजों की पैदावार की बढ़ती से आगे निकल गयी है? भारत में हालांकि खेती के विकास की तरफ मुजरिमाना लापरवाही बरती गयी है, और जितनी जमीन पर खेती हो सकती है, उसके सिर्फ एक हिस्से पर ही खेती होती है, फिर भी आधुनिक काल के जो आंकड़े मिलते हैं, उनसे यह बात नहीं निकलती कि आबादी की बढ़ती, पैदावार की बढ़ती से आगे निकल गयी हो। देश में पैदा होने वाली खाने-पीने की चीजों की कुल मात्रा अब भी बहुत अपर्याप्त है। लेकिन इसका कारण यह नहीं है कि आबादी की बढ़ती ने पैदावार की बढ़ती को पीछे छोड़ दिया है, बल्कि इसका कारण यह है कि भारत में पैदावार के अब भी बहुत पिछड़े हुए तरीके बरते जाते हैं, यहां जमीन के स्वामित्व का पुराना ढर्रा आज भी कायम है, और तरह-तरह के भारी बोझों ने खेती की कमर तोड़ रखी है।

१८९१ और १९२१ के बीच आबादी ९.३ प्रतिशत बढ़ी। इसी काल में वह रकबा जिस पर अनाज बोया जाता था, १९ प्रतिशत यानी आबादी की बढ़ती के मुकाबले दुगनी रफ्तार से बढ़ गया। १९२१ से १९३१ तक के काल के लिए हमारे पास प्रोफेसर पी. जे. थॉमस के आंकड़े हैं। उनके अनुसार, इस

काल की आबादी में जबकि १०.४ प्रतिशत की बढ़ती हुई, तब खेती की पैदावार में १६ प्रतिशत की और औद्योगिक पैदावार में ५१ प्रतिशत की बढ़ती हो गयी। प्रोफेसर राधाकमल मुकर्जी माल्थस के पक्के शिष्य हैं, लेकिन वह भी यह मानने पर मजबूर हैं कि "आबादी में जितनी बढ़ती हुई है, उससे खेती की कुल पैदावार की बढ़ती आगे निकल गयी है।" (१९३८)

भारत की मौजूदा हालतों में जब कि जमीन पर एक खास किस्म का स्वामित्व कायम है और किसानों को केवल कुछ विशेष प्रकार के सीमित अधिकार ही प्राप्त हैं, जब कि पैदावार का ढर्रा बाबा आदम के जमाने का है और तरह-तरह के मुफ्तखोर किसानों की पीठ पर चढ़े हुए हैं, और जब कि देश में जितने लोग मेहनत करने की स्थिति में है, उनका अपव्यय हो रहा है—ऐसी हालतों में यहां जीवन-निर्वाह के जितने साधन पैदा होते हैं, वे जनता की आवश्यकताओं के लिए काफी हैं, यह कोई नहीं कहता। नहीं, मौजूदा पैदावार तो बहुत ही नाकाफी है। डा. ऐकरौयड ने (१९४१ में) बताया है कि मर्द हो या औरत, यदि कोई व्यक्ति बिना मसक्कत किये साधारण ढंग का जीवन बिताता है, तो उसे हजम हो जाने वाले भोजन के रूप में रोजाना २,४०० कैलोरी जीवन-शक्ति मिलनी चाहिए; मगर भारत में लाखों और करोड़ों लोग ऐसे हैं जिनको केवल १,७५० कैलोरी रोजाना ही मयस्सर होती है। इसके अलावा, चर्बी वाले पदार्थों, प्रोटीन वाले पदार्थों, और शरीर की रक्षा करने वाले पदार्थों की आम तौर पर भोजन में सख्त कमी रहती है।

इन तथ्यों से भारत की उस मौजूदा सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था का दिवालियापन साबित हो जाता है, जो यहां के बेशुमार प्राकृतिक साधनों को जनता की जरूरतों को पूरा करने के लिए विकसित नहीं करती। लेकिन इन तथ्यों से यह साबित नहीं होता कि भारत की आबादी जरूरत से ज्यादा बढ़ गयी है। इसके विपरीत, सभी विशेषज्ञ यह बात मानते हैं कि यदि भारत के साधनों का सही ढंग से उपयोग किया जाय, तो आज इस देश की जितनी आबादी है, या निकट भविष्य में कभी भी जितनी हो सकती है, उससे कहीं बड़ी आबादी इन साधनों के सहारे बड़ा खुशहाल जीवन बिता सकती है। भारत में आज खेती के लायक जितनी जमीन है, उसका लगभग एक-तिहाई भाग अभी तक तोड़ा नहीं गया है। और जिस भाग पर खेती होती भी है, उसे ऐसी आदिम ढंग की पिछड़ी हुई परिस्थितियों में जोता-बोया जाता है कि बहुत ही कम पैदावार होती है। यदि गेहूं की फसल को लें, तो इंगलैंड और स्काटलैंड में कम आदमियों से काम लेते हुए फी एकड़ जितनी उपज होती है, भारत में उसकी लगभग एक-तिहाई उपज होती है।

साम्राज्यवाद के अर्थशास्त्री और साम्राज्यवाद के प्रचारक किस तरह

असली सवाल से साफ़ कन्नी काट जाते हैं, उसकी सबसे अच्छी मिसाल यहीं मिलती है। ये लोग कहते हैं कि "मौजूदा हालतों में" होने वाली पैदावार नाकाफ़ी है और इसलिए भारत में "जरूरत से ज्यादा आबादी" है। "मौजूदा हालतों में" कहने का यह मतलब हुआ कि ये महानुभाव यह मानकर चलते हैं कि भारतीय जनता पर लदा हुआ साम्राज्यवादी और सामन्ती बोझा, सूदखोर महाजनों की लूट, विकास का गला घोंटा जाना, और आर्थिक अव्यवस्था, आदि भगवान के दिये हुए ऐसे वरदान हैं, जो जैसे आज हैं सदा वैसे ही बने रहेंगे। डा. एंस्टे ने भी इसी तरह की दलीलें दी हैं। और भारत में खेती की जांच करने के लिए जो भारी-भरकम शाही कमीशन नियुक्त किया गया था, उसे जमीन के स्वामित्व, किसानों के अधिकारों तथा लगान और मालगुजारी की व्यवस्था जैसे बुनियादी सवालों की जांच करने की मनाही कर दी गयी थी।

१९३३ में लन्दन के स्वास्थ्य विज्ञान तथा उष्ण कटिबंध की बीमारियों के स्कूल में "एशिया में गर्भ-निरोध" पर विचार करने के लिए जो सम्मेलन हुआ था, उसके अध्यक्ष ने कहा था कि डा. कुक्जिस्की "आबादी की समस्याओं के जीवित विद्वानों में सबसे अधिक प्रतिष्ठित और अधिकारी विद्वान हैं।" इन्हीं डा. कुक्जिस्की ने इस सम्मेलन में भारत सम्बंधी इस मिथ्या धारणा का निर्ममता से खंडन किया था। उन्होंने कहा था :

> "इन चीजों की तरफ हमें स्थिर और अपरिवर्तनवादी दृष्टिकोण से नहीं देखना चाहिए। हमसे कहा जाता है कि भारत में इस समय २० करोड़ एकड़ जमीन पर खेती हो रही है, और उसकी आबादी को अच्छी तरह खिलाने के लिए ३५.३ करोड़ एकड़ जमीन पर खेती करने की आवश्यकता है। लेकिन इतनी सारी जमीन पर खेती करना क्यों आवश्यक है, और किन परिस्थितियों में इतनी सारी जमीन पर खेती करना आवश्यक है? वह तभी आवश्यक है जब हम रासायनिक खादों का इस्तेमाल नहीं करें और जब हम खेती में सुधार नहीं करें। जिस आदमी को आधुनिक खेती का जरा भी ज्ञान है, वह इस बात से इंकार नहीं कर सकता कि २० करोड़ एकड़ जमीन पर सभी भारतीयों के लिए ढेरों खाने-पीने की चीजें पैदा की जा सकती हैं; और इसके लिए हमें भारतीय किसानों को कोई बहुत शिक्षा देने की भी आवश्यकता न होगी। एक-दो साल में वे आसानी से जितना सीख सकते हैं, उतना ही इसके लिए पर्याप्त होगा। जिस प्रकार स्वास्थ्य-रक्षा के उपाय के जरिये भारत में मौतों की ऊंची रफ्तार को कम किया जा सकता है, उसी प्रकार खेती में सुधार करके खाने-पीने की चीजों के अभाव को दूर किया जा सकता है।"

भारत और योरप के देशों में निर्णायक भेद आबादी के बढ़ने की रफ्तार का नहीं है। आबादी के बढ़ने की रफ्तार तो योरप के देशों में यहां से ऊंची है। भारत और योरप की हालतों में जो भेद है, वह इस कारण पैदा हुआ है कि योरप में जो आर्थिक विकास तथा उत्पादन का विस्तार हो चुका है और जिसने आबादी के तेजी से बढ़ने के लिए उपयुक्त परिस्थितियां पैदा कर दी हैं, वह आर्थिक विकास और उत्पादन का विस्तार भारत में नहीं हुआ है; बल्कि जैसा कि हम आगे देखेंगे, वह ब्रिटिश पूंजीवाद की कारंवाइयों के कारण और उसकी जरूरतों को पूरा करने के लिए रोक दिया गया है। इसी का नतीजा है कि आबादी के एक अधिकाधिक बढ़ते हुए भाग को लाचार होकर आदिम ढंग की, बहुत ही पिछड़ी हुई और तरह-तरह के बोझों से दबी हुई खेती का सहारा लेना पड़ता है। एक ओर देश की दौलत खिचकर बाहर चली गयी है और औद्योगिक विकास तथा तरक्की के अन्य रास्ते बन्द कर दिये गये हैं; और दूसरी ओर, उस खेती की भी कमर तोड़ दी गयी जिसे अधिकांश जनता के लिए जीविका का एकमात्र साधन बना दिया गया है। खेती की ओर भी लापरवाही दिखायी जा रही है, उसका भी पतन हो रहा है।

भारत के लोगों की भयंकर गरीबी का यही रहस्य है। उसका कोई ऐसा प्राकृतिक कारण नहीं है जो मनुष्य की क्षमता या नियंत्रण के बाहर हो। न ही उसका कारण आबादी के बढ़ने की मनगढ़ंत कहानी है। उसका कारण वे सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियां हैं, जो साम्राज्यवादी शासन से उत्पन्न हुई है। इसके प्रमाण, और उन प्रमाणों से निकलने वाले राजनीतिक निष्कर्ष को हम आने वाले अध्यायों में पेश करेंगे।

अध्याय ३

दो दुनियाएं

१९१७ के पहले यह दलील देना सम्भव था कि भारत के साधनों का विकास न करने और जनता का स्तर ऊपर न उठाने के लिए सिद्धान्त की दृष्टि से साम्राज्यवाद की निन्दा करना, एक कल्पनावादी दृष्टिकोण से आलोचना करने के समान है। उस समय तक यह कहना मुमकिन था कि जो लोग इस तरह की आलोचना करते हैं, वे यह यहीं देखते कि हद से ज्यादा अविकसित उत्पादन कौशल और एक विशाल, पिछड़ी हुई तथा मुख्यतया निरक्षर जनसंख्या के कारण किसी भी एशियाई देश के विकास के रास्ते में कितनी भयानक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। लेकिन आज इस तरह की दलील देने का कोई साहस नहीं कर सकता। खास तौर पर १९१७ के बाद से सोवियत संघ में समाजवादी क्रान्ति ने जो सफलताएं प्राप्त की हैं, और एक ऐसे विशाल देश में जहां उत्पादन का कौशल बहुत ही पिछड़ा हुआ था, हद दर्जे की अव्यवस्था फैली हुई थी, लोग प्रायः निरक्षर थे और जहां योरपीय तथा एशियाई दोनों तरह की कौमें रहती थीं, उसने जैसे महान परिवर्तन कर दिखाये हैं, उनसे सबके सामने इस बात का एक व्यावहारिक उदाहरण पेश हो गया है कि ऐसे देशों में क्या किया जा सकता है। सोवियत संघ का अनुभव सभी देशों की जनता की आंखें खोल रहा है, और भारत की जनता इस चीज से अलग नहीं है।

१. समाजवाद और साम्राज्यवाद के बीस वर्ष

समाजवादी क्रान्ति की विजय के पैंतीस वर्ष बाद, १९५३ के आते-आते, सोवियत संघ और भारत के आर्थिक विकास में जो भयानक अन्तर दिखाई देता है, वह दर्शक को चकित कर देता है। सोवियत संघ आज दुनिया की उत्पादक शक्तियों की सबसे अगली पांत में, अमरीका के साथ खड़ा हुआ है, और उसने उन तमाम देशों को पीछे छोड़ दिया है, जहां आधुनिक उद्योगधंधों का विकास बहुत पहले शुरू हो गया था। भारत आज भी दुनिया के औपनिवेशिक तथा अर्ध-औपनिवेशिक देशों के निचले आर्थिक स्तर पर पड़ा हुआ है।

इस पूरे काल में दोनों देशों का कितना विकास हुआ, इसकी आंकड़ों के

द्वारा तुलना करना किसी हद तक कठिन है, क्योंकि १९४७ के पहले के संयुक्त भारत के अलग-अलग क्षेत्रों के और १९४७ के बाद के भारत और पाकिस्तान के कोई ऐसे आंकड़े नहीं मिलते जिनकी सोवियत संघ के आंकड़ों से तुलना की जा सके। लेकिन यदि हम दूसरे महायुद्ध के पूर्व के बीस वर्षों के आंकड़ों को लें, और कभी-कभार बाद के आंकड़ों पर भी एक नजर डाल लें, तो साम्राज्यवाद और समाजवाद के अन्तर्गत होने वाले विकास का तुलनात्मक अध्ययन ज्यादा सही ढंग से किया सकता है।

इस तुलनात्मक अध्ययन के लिए हम १९१७ के जारशाही रूस को नहीं लेंगे, जब कि उसकी पूरी व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गयी थी, हालांकि समाजवादी शासन को देश इसी हालत में मिला था। बल्कि हम १९१३-१४ के जारशाही रूस को लेंगे जब कि वह उन्नति के शिखर पर था और उसका मुकाबला १९३७ के रूस से करेंगे, उससे हमें मालूम हो जायगा कि बीस वर्ष में समाजवाद ने देश में क्या किया। उसके बाद हम पहले महायुद्ध के पहले के, यानी १९१४ के भारत को लेंगे और देखेंगे कि बीस वर्ष में, यानी बीसवीं सदी के चौथे दशक तक, साम्राज्यवाद ने क्या कर दिखाया। अन्त में, हम एक और भी अधिक उपयोगी तुलना करेंगे। हम देखेंगे कि इसी काल में सोवियत संघ के मध्य एशियाई प्रजातन्त्रों में कितना विकास हुआ है। इन प्रजातन्त्रों में वे तमाम विशेष कठिनाइयां और समस्याएं मौजूद थीं जो भारत में पायी जाती हैं और वहां की जनता के विकास का साधारण स्तर शुरू में भारत से कहीं अधिक पिछड़ा हुआ था।

उत्पादक शक्तियों के विकास की जो मूल कसौटी है, हम यहां उसी बात से आरम्भ करेंगे।

सोवियत संघ में औद्योगिक पैदावार का सूचक अंक १९१३ में १०० था; १९३७ तक वह बढ़कर ८१६ (१९५१ तक २,४१२) हो गया। राष्ट्र की कुल पैदावार में उद्योग-धंधों की पैदावार का भाग १९१३ में ४२ प्रतिशत था। १९३७ तक वह बढ़कर ७७ प्रतिशत हो गया; यानी रूस जो पहले प्रधानतया खेतिहर देश था, वह प्रधानतया औद्योगिक देश बन गया। देश में कुल जितने काम करने वाले लोग थे १९१३ में उनके १६ प्रतिशत लोग कल-कारखानों में काम करते थे; १९३७ तक ३१ प्रतिशत लोग कल-कारखानों में काम करने लगे। १९१३ में राष्ट्रीय आय (यदि १९२६-२७ के दामों को आधार माना जाय तो) २१ अरब रूबल थी; १९३७ तक वह बढ़कर ९६ अरब रूबल हो गयी, अर्थात पहले से साढ़े चार-गुनी हो गयी। फिर १९५१ तक राष्ट्रीय आय १९३८ की सवा दो गुनी हो गयी; यानी १९१३ से १९५१ तक राष्ट्रीय आय दस-गुनी हो गयी।

भारत में अभी हाल तक औद्योगिक पैदावार का, या कुल राष्ट्रीय उत्पादन अथवा राष्ट्रीय आय का साधारण सूचक अंक निकालने का कोई प्रयत्न ही नहीं किया गया था। मुख्य उद्योगों में औद्योगिक पैदावार का सूचक अंक निकालने का एक गैर-सरकारी प्रयत्न डी. बी. मीक ने किया था। उन्होंने १९१०-११ से लेकर १९१४-१५ तक के पांच वर्षों के सूचक अंक को १०० मानकर हिसाब लगाया था कि १९३२-३३ का सूचक अंक १५६ था, यानी कुल ५६ प्रतिशत बढ़ती हुई थी, जो कि सोवियत संघ में हुई बढ़ती की रफ्तार का सोलहवां हिस्सा होती है। १९११ और १९२१ में जनगणना के साथ-साथ उद्योग-धंधों में काम करने वालों की भी गणना हुई थी, हालांकि १९३१ में वह नहीं हुई। उससे पता चला था कि "संगठित उद्योगों" में, अथवा २० से अधिक मजदूरों से काम लेने वाले कारखानों में, १९११ में २१ लाख आदमी काम करते थे, और १९२१ तक उनकी संख्या २६ लाख हो गई थी। इसका मतलब यह हुआ कि ऐसे मजदूरों की संख्या में हर साल २.४ प्रतिशत की बढ़ती होती थी, जो यदि २० वर्ष तक बराबर होती रहती, तो कुल ४८ प्रतिशत की बढ़ती के बराबर होती (असल में, युद्ध और उसके तुरन्त बाद के वर्षों में बढ़ती की जो रफ्तार थी वह उसके बाद कायम नहीं रही)। यह सोवियत बढ़ती की रफ्तार का उन्नीसवां भाग होती है। सरकारी कागजों में उद्योग-धंधों में काम करने वाले मजदूरों की संख्या १९११ में १७५ लाख बतायी गई थी और १९३१ में १५३ लाख, जिसका मतलब यह हुआ कि आबादी के बढ़ने के बावजूद उद्योग-धंधों में काम करने वाले मजदूरों की संख्या में निरपेक्ष रूप से १२.६ प्रतिशत की कमी हो गई। यह इस बात की झलक थी कि छोटे पैमाने के हाथ के उद्योग अब भी नष्ट होते जा रहे थे, और उसके अनुरूप आधुनिक उद्योगों का विकास नहीं हो रहा था। इसका परिणाम यह हुआ कि खेती पर निर्भर करने वाले लोगों की संख्या, जो कि १९११ में कुल आबादी की ७२ प्रतिशत थी, १९२१ में बढ़कर ७३ प्रतिशत हो गई, और १९३१ में भी इसी स्तर पर रही; लेकिन उद्योग-धंधों में काम करने वालों की संख्या जो कि ११.७ प्रतिशत थी, १९३१ तक १० प्रतिशत रह गयी (बाद के आंकड़ों के लिए देखिए अध्याय खेती का संकट)।

यह तो हुआ साधारण चित्र। दोनों देशों की सबसे महत्वपूर्ण भौतिक उपज के आंकड़ों की और सही-सही तुलना करके इस चित्र को और ठोस बनाया जा सकता है। जिन बीस वर्षों की हम चर्चा कर रहे थे, उनमें भारत में कोयले की पैदावार में ३४ प्रतिशत की बढ़ती हुई, जबकि रूस में इन्हीं वर्षों में ३४० प्रतिशत की बढ़ती हुई थी। इस्पात की पैदावार भारत में युद्ध के पहले आरम्भ ही हुई थी, और १९३४-३५ तक वह १० लाख टन तक नहीं

पहुंची थी। सोवियत संघ में इस्पात की पैदावार १९३७ तक १७५ लाख टन तक पहुंच गयी थी, जो कि युद्ध के पहले की पैदावार से १३० लाख टन ज्यादा थी। १९५२ तक सोवियत संघ की इस्पात की पैदावार ३५० लाख टन तक पहुंच गयी, जबकि भारत में उसकी पैदावार १९५१ में भी केवल १५ लाख टन ही थी। १९१३ में रूस में १९० करोड़ किलोवाट घंटे बिजली तैयार होती थी; १९३७ तक वहां ३,६५० करोड़ किलोवाट घंटे बिजली तैयार होने लगी। भारत में इस काल में कितनी बिजली तैयार होती थी, इसके कोई आंकड़े नहीं मिलते, हालांकि इतना मालूम है कि १९३५ में अनुमान लगाया गया था कि यहां २५० करोड़ किलोवाट-घंटे बिजली पैदा होती है। १९५२ तक सोवियत संघ में बिजली की पैदावार ११,७०० करोड़ किलोवाट-घंटे तक पहुंच गयी थी, जबकि भारत में वह १९५२ तक केवल ६२१ करोड़ किलोवाट घंटे तक ही पहुंची थी। यानी सोवियत संघ में भारत से उन्नीस-गुनी अधिक बिजली तैयार होती थी।

खेती के क्षेत्र में यह अंतर और भी तीखा हो जाता है, क्योंकि सोवियत संघ की अधिकतर आबादी में जो रूपान्तर हुआ है, उसका मौलिक महत्व है। जारशाही रूस में गरीबी के मारे, जमीन के भूखे किसान सदा जमींदारों, सूदखोर महाजनों और धनी किसानों की दया पर निर्भर करते थे। आज वे ही सामूहिक खेती करने वाले स्वतंत्र और समृद्ध किसान बन गये हैं और वे अपने बड़े पैमाने के पंचायती खेतों पर अधिक से अधिक उन्नत मशीनों और कौशल का प्रयोग करते हुए खेती करते हैं। जब से खेतों का सामूहीकरण पूरा हुआ, तब से पांच वरस के अन्दर इन किसानों ने अपनी नकद आय तिगुनी कर ली थी। १९१३ और १९३७ के बीच सोवियत संघ में फसल के रकबे में एक-तिहाई की बढ़ती हुई, अनाज की फसल डेढ़-गुनी हो गयी, और कपास की पैदावार साढ़े तीन-गुनी हो गयी। भारत में खेती का संकट वर्ष-प्रति-वर्ष अधिक गहरा होता जा रहा है। अगले अध्यायों में हम उसका विस्तार से अध्ययन करेंगे। जमींदारों, सूदखोर महाजनों और तहसील उगाहने वालों के मिले-जुले दबाव ने किसानों की कमर तोड़ दी है, उनका दिवाला निकाल दिया है, और अधिकाधिक किसानों की जमीनें छिनती जा रही हैं। जिस काल पर हम विचार कर रहे हैं, उस काल में फसल के रकबे और फसल के परिमाण में जो बढ़ती हुई है, वह आबादी की बढ़ती से मुश्किल से ही बढ़ पायी है।

आइए, अब हम उन सामाजिक उपायों पर विचार करें जो इन दोनों देशों में राज्यों ने शिक्षा, स्वास्थ्य और जन-कल्याण के लिए किये हैं।

जारशाही रूस में ७८ प्रतिशत से अधिक आबादी निरक्षर थी। १९३० में सोवियत सरकार ने एक आदेश के द्वारा सार्वजनिक अनिवार्य प्राथमिक

शिक्षा की स्थापना की और १९३४ के आदेश के द्वारा सभी लोगों के लिए सात वर्ष की शिक्षा अनिवार्य बना दी गयी। अब वहां के सभी बड़े शहरों में सार्वजनिक माध्यमिक शिक्षा (अर्थात दस वर्ष की शिक्षा जो सत्रह वर्ष की आयु तक चलती है) अनिवार्य कर दी गयी है। १९६० तक वह देश के सभी हिस्सों में अनिवार्य हो जायगी। भारत में १९११ में ९४ प्रतिशत लोग निरक्षर थे और १९३१ तक भी ९२ प्रतिशत लोग निरक्षर रहे। १९५१ तक निरक्षर लोगों की संख्या थोड़ी कम होकर ८४ प्रतिशत हो गयी। सोवियत संघ में प्राथमिक और माध्यमिक स्कूलों में शिक्षा प्राप्त करने वाले बच्चों की संख्या १९३७ में कुल आबादी की १७.२ प्रतिशत थी। भारत में जिन बच्चों को सरकारी कागजों में किसी भी प्रकार की शिक्षा प्राप्त करते हुए दिखाया गया है, उनकी संख्या १९३४-३५ में कुल आबादी की ४.९ प्रतिशत थी। लेकिन जांच करने पर प्रकट हुआ कि जिन बच्चों को केवल चार वर्ष की सीमित प्राथमिक शिक्षा मिल रही थी, उनकी भी असली संख्या कुल आबादी की केवल ०.८ प्रतिशत थी। यदि विश्वविद्यालयों और उच्च शिक्षा-संस्थाओं के विद्यार्थियों की संख्या को लिया जाय तो १९३४-३५ के ब्रिटिश भारत में कुल आबादी के साथ उसका जो अनुपात था, वह १९३७ के सोवियत अनुपात का आठवां हिस्सा होता था। औद्योगिक कौशल की शिक्षा का किसी भी अविकसित देश के लिए बड़ा महत्त्व होता है। इस क्षेत्र में, भारत में कुल आबादी के अनुपात में विद्यार्थियों की संख्या सोवियत संघ की संख्या का ७८वां हिस्सा थी।

जहां तक अखबारों और प्रकाशनों का सम्बंध है, इन बीस वर्षों में सोवियत संघ में अखबारों की संख्या ८५९ से बढ़कर ८,५२१ हो गयी थी, जबकि भारत में यह ८२७ से बढ़कर १,७४८ ही हुई थी; और सोवियत संघ में पुस्तकों की संख्या ८६७ लाख से बढ़कर ६,७३० लाख तक पहुंच गयी थी, जब कि भारत में पुस्तकों की संख्या में बीस बरस के अरसे में केवल एक-तिहाई की बढ़ती हुई थी।

जारशाही रूस में १९१३ में जन-स्वास्थ्य पर १,२८० लाख रूबल खर्च किये गये थे। सोवियत संघ में १९२८ में इस मद पर ६,९९० लाख रूबल और १९३७ में ९०,५०० लाख रूबल खर्च किये गये; यानी इस मद के खर्च में सत्तर-गुनी बढ़ती हुई, और १९५२ तक तो इस मद का खर्चा २२८,००० लाख रूबल तक पहुंच गया। भारत में केन्द्रीय सरकार और प्रांतीय सरकारें सब मिलाकर सार्वजनिक स्वास्थ्य पर जो खर्चा करती थीं, वह १९२१-२२ में ४७३ लाख रुपये बैठा था और १९३५-३६ में ५७२ लाख रुपये। १९१३ में जारशाही रूस के अस्पतालों में १३८,००० बीमारों के रहने का इंतजाम था; १९३७ तक सोवियत रूस के अस्पतालों में १४३,००० बीमारों के रहने का

इन्तजाम हो गया। ब्रिटिश भारत में १९१४ में ४८,४३५ बीमारों के रहने का इन्तजाम था, और १९३४ तक केवल ७२,२७१ बीमारों के रहने का इन्तजाम हो पाया। जारशाही रूस में १९१३ में मृत्यु-संख्या २८.३ फी हजार थी। भारत में १९१४ में मृत्यु-संख्या ३० फी हजार थी; यानी, दोनों देशों में मृत्यु-संख्या लगभग बराबर थी। लेकिन सोवियत संघ में यह गिरकर १९२६ में २०.९ फी हजार पर आ गयी, जबकि भारत में वह उस साल भी २६.७ फी हजार रही। १९५३ तक सोवियत संघ में मृत्यु-संख्या ८.९ फी हजार रह गयी, लेकिन १९४९ तक वह भारत में १६ फी हजार बनी रही। या सार्वजनिक सफाई और छूत की बीमारियों पर उसके प्रभाव को लीजिए। १९१३ और १९२९ के बीच सोवियत संघ में टाइफस बुखार में ७२ प्रतिशत की कमी हो गयी, डिप्थीरिया में ८० प्रतिशत की और चेचक में ९० प्रतिशत की। भारत में टाइफस बुखार और डिप्थीरिया के कोई आंकड़े नहीं मिलते। चेचक से होने वाली मौतों में वहां १९१४ और १९३४ के बीच केवल इतनी कमी आयी कि उनकी संख्या आबादी के अनुपात में ३२ फी १० हजार से ३० फी १० हजार हो गयी। जारशाही रूस में १९१३ में डाक्टरों की संख्या १९,८०० थी। सोवियत रूस में १९३७ तक उनकी संख्या ९७,००० हो गयी। भारत में १९३४-३५ में जितने डॉक्टर विश्वविद्यालयों से परीक्षा पास करके निकले थे, उनकी कुल तादाद ६३० थी, जिसमें इंगलैंड में शिक्षा लेकर लौटने वाले चन्द लोग और जोड़े जा सकते थे।

अन्त में, हम मजदूरों की हालत पर विचार कर लें। सोवियत संघ में १९२२ में सब उद्योगों में आठ घंटे का दिन जारी किया गया और १९२७ में सब उद्योगों में सात घंटे का दिन। खतरनाक पेशों में या जमीन के नीचे काम करने वाले मजदूरों के लिए, दिमाग से काम करने वालों के लिए और १६ तथा १८ वर्ष के बीच के नाबालिगों के लिए उसी साल छः घंटे का दिन नियत किया गया (युद्ध आरम्भ होने तक यह व्यवस्था कायम रही)। वहां १४ वर्ष से कम के बच्चे किसी भी हालत में नौकरी पर नहीं रखे जा सकते, और १४ से १६ साल के बच्चों से केवल कुछ विशेष परिस्थितियों में ही काम लिया जा सकता है, और वह भी ४ घंटे से ज्यादा नहीं।

भारत में १९२२ के फैक्टरी एक्ट के द्वारा ग्यारह घंटे का दिन जारी किया गया और १९३४ के फैक्टरी एक्ट ने उसकी जगह दस घंटे का दिन जारी किया और बारह वर्ष से कम उम्र के बच्चों को नौकर रखने की मनाही कर दी गयी। लेकिन कारखानों की जांच करने वाले इंस्पेक्टरों की संख्या इतनी कम रखी गयी (व्हिटले कमीशन की रिपोर्ट के अनुसार १९२९ में उनकी संख्या पूरे भारत में केवल ३९ थी) कि एक साल में एक बार भी इंस्पेक्टर का हर कार-

खाने में पहुंचना नामुमकिन था। नतीजा यह हुआ कि कारखानों के मालिक खुलेआम कानून तोड़ते रहे। इसके अलावा, फैक्टरी एक्ट औद्योगिक मजदूरों के केवल एक छोटे से भाग पर लागू है (१९३१ की जनगणना से पता चला था कि भारत में कुल १७७ लाख आदमी उद्योग-धंधों तथा यातायात में काम करते हैं, १९३६ में इनमें से सिर्फ १६ लाख पर फैक्टरी एक्ट लागू था)। भारत के अधिकतर मजदूरों के लिए काम के घंटों की कोई सीमा नहीं है। उनके अधिकारों की रक्षा की कोई व्यवस्था नहीं है। छोटे से छोटे बच्चों के शोषण की भी कोई सीमा नहीं है। व्हिटले कमीशन की रिपोर्ट में कहा गया था कि कमीशन को पांच-पांच बरस के बच्चे बारह-बारह घंटे काम करते हुए मिले थे।

यह तुलनात्मक चित्र ठोस वास्तविकता और निर्विवाद तथ्यों का चित्र है।

फिर भी प्रथम महायुद्ध के पहले जारशाही रूस और अंग्रेजों द्वारा शासित भारत की जनता की हालत में कोई बहुत बड़ा अन्तर नहीं था। यह परिवर्तन बीस साल के समाजवादी शासन से पैदा हुआ। इसलिए, जाहिर बात है कि भारत में भी ऐसा ही परिवर्तन हो सकता है, बशर्ते कि यहां आवश्यक राजनीतिक परिस्थितियां पैदा हो जायें और वर्ग-शक्तियों के सम्बंध में जरूरी तब्दीलियां हो जायें।

२. मध्य-एशियाई प्रजातंत्रों का अनुभव

सोवियत संघ के मध्य-एशियाई प्रजातंत्रों के अनुभव से यह अन्तर और भी स्पष्ट हो जाता है। भारत जितना पिछड़ा हुआ है, २० वर्ष पहले ये प्रजातंत्र उससे कहीं अधिक पिछड़े हुए थे। इसलिए, उन्होंने जो उन्नति की है और आज वे विकास की जिस अवस्था में है, उससे भारत के लिए विशेष रूप से मूल्यवान सबक मिलते हैं। एशियाई अर्थव्यवस्था और एशियाई सामाजिक परिस्थितियों से, तथा स्त्रियों की स्थिति और धर्म, आदि से सम्बंधित सभी विशेष प्रकार की समस्याएं इन प्रजातंत्रों में अपने बहुत ही उग्र रूप में मौजूद थीं। इसलिए साम्राज्यवाद की औपनिवेशिक नीति और पिछड़ी हुई जातियों के प्रति समाजवाद की नीति में जो भारी अन्तर है, वह जितना इन प्रजातंत्रों में स्पष्ट होता है उतना और कहीं नहीं होता। क्रान्ति के पहले मध्य एशिया अर्ध-गुलाम और औपनिवेशिक मजदूरों की भूमि थी। अब वह समान अधिकार वाली जातियों, समाजवादी खेती और नव-निर्मित उद्योग-धंधों की भूमि बन गयी है।

सोवियत संघ में पांच मध्य-एशियाई सोवियत समाजवादी प्रजातंत्र है: तुर्कमानिस्तान, उजबेकिस्तान, ताजिकिस्तान, किरगीजिया और अजरबैजान।

ताजिकिस्तान भारत से चन्द मील की दूरी पर है। पहले उसी से शुरू करें।

पुराने जमाने में ताजिक लोगों का जीवन सुखी नहीं था। क्रान्ति के समय तक वे रूसी जारशाही और बुखारा के अमीर की सामन्ती-मजहबी तानाशाही की गुलामी में जकड़े हुए थे। जारशाही साम्राज्य के टूटने के बाद जो गृह-युद्ध आरम्भ हुए, वे अन्तिम रूप से १९२५ तक समाप्त नहीं हुए। १९२५ में ताजिकिस्तान एक स्वायत्तशासी प्रजातंत्र बन गया और १९२९ में वह एक स्वतंत्र संघबद्ध प्रजातंत्र के रूप में सोवियत समाजवादी प्रजातंत्र संघ में शामिल हुआ।

ताजिक लोगों को जारशाही ने कितने घोर पिछड़ेपन की हालत में रख छोड़ा था, इसका कुछ अनुमान इस बात से लग सकता है कि क्रान्ति से पहले वहां के केवल ०.५ प्रतिशत लोग ही पढ़-लिख सकते थे (भारत में, इसके मुकाबले १९११ में ६ प्रतिशत लोग साक्षर थे)। १९३३ तक वहां के ६० प्रतिशत लोग साक्षर हो गये (जब कि भारत में १९३१ तक केवल ८ प्रतिशत साक्षर हो पाये थे), और १९४३ तक तो वहां साक्षरों की संख्या ७५ प्रतिशत हो गयी। १९३६ तक ताजिक प्रजातन्त्र में ३,००० स्कूल (यानी, आबादी के हर ५०० लोगों के लिए १ स्कूल), ५ उच्च शिक्षा की संस्थाएं और ३० से ज्यादा औद्योगिक कौशल के (टेक्निकल) स्कूल हो गये थे। १९३९ तक वहां स्कूलों के विद्यार्थियों की संख्या ३२८,००० तक पहुंच गयी थी (जब कि १९१४ में यह संख्या १०० थी) और उच्च शिक्षा की संस्थाओं की संख्या २१ हो गयी थी। १९५२ तक पूरा समय देने वाले विद्यार्थियों की संख्या कुल आबादी के अनुपात में ५८० फी लाख हो गयी थी, जब कि भारत में यह संख्या केवल ९० फी लाख हो गयी थी।

१९२४ में ताजिकिस्तान में कुल १,००५,००० एकड़ जमीन जोती-बोई गई थी। १९३६ तक १,६२६,००० एकड़ जमीन जोती-बोयी जाने लगी। अधिकतर किसान परिवारों ने खेती का सामूहिक तरीका अपना लिया है। कपास की खेती की प्रायः पूरी क्रिया में अब मशीनों का उपयोग होने लगा है। सिंचाई का विकास विशेष महत्व रखता है। १९२९ में ताजिकिस्तान ने सिंचाई पर ३० लाख रूबल खर्च किये, १९३० में १२० लाख रूबल और १९३१ के बजट में इस मद में ६१० लाख रूबल रखे गये थे, जो कि ५० रूबल प्रति निवासी बैठता था। और इस सब में जो रुपया खर्च हुआ, उसमें से अधिकतर स्थानीय जनता पर कर लगाकर नहीं वसूल किया गया था, बल्कि सोवियत संघ की केन्द्रीय सरकार से मिला था। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि जिस देश में कोई उद्योग-धंधों को जानता तक न था, वहां बड़ी तेजी से औद्योगिक विकास हुआ, और जहां एक भी सड़क न थी, वहां आधुनिक सड़कों का जाल बिछ गया।

अब सार्वजनिक स्वास्थ्य को लीजिए। १९१४ में ताजिस्तान में १३ डाक्टर थे, और १९३९ तक ४४० हो गये। १९१४ में वहां पूरी आबादी के लिए अस्पतालों में केवल १०० बीमारों के रहने का इन्तजाम था, १९३९ तक वहां ३,६७५ बीमारों के रहने का इन्तजाम हो गया। १९१४ में यहां के जच्चाखानों में एक भी मरीज के रहने का इन्तजाम नहीं था, १९३७ में २४० मरीजों के रहने का इन्तजाम हो गया। १९१४ में वहां जच्चाओं और बच्चों की सहायता का एक भी केन्द्र न था, १९३७ तक ऐसे केन्द्रों की संख्या ३६ तक पहुंच गयीं।

अब आइए, उजबेकिस्तान को देखें जो इन प्रजातन्त्रों में सबसे बड़ा है और जिसकी आबादी ५५ लाख है। क्रांति से पहले वहां के केवल ३ या ५ प्रतिशत लोग साक्षर थे। १९३२ तक वहां के प्राथमिक स्कूलों में विद्यार्थियों की संख्या ५३१,००० और माध्यमिक स्कूलों में १३०,००० तक पहुंच गयी थी, और उसी वर्ष ७१०,००० व्यक्ति निरक्षरता-निवारण संस्थाओं में पढ़ रहे थे। सामूहिक खेती के तेज विकास के अलावा, उद्योग-धंधों की भी इतनी अधिक उन्नति हुई कि जहां १९१३ में उद्योग-धंधों से केवल २,६९० लाख रूबल के मूल्य की पैदावार हुई थी, वहां १९३६ में उनसे ११,७५० लाख रूबल की पैदावार हुई; और जहां १९२८ में ३४० लाख यूनिट बिजली पैदा हुई थी, वहां १९३६ में २,३०० लाख यूनिट बिजली पैदा हुई। १९१४ और १९३७ के बीच उजबेकिस्तान में डाक्टरों की संख्या १२८ से बढ़कर २,१८५ हो गयी। क्रान्ति से पहले इस प्रदेश के पास अपनी कोई वर्णमाला तक न थी। लैटिन के ढंग की एक नयी वर्णमाला के द्वारा यह कठिनाई हल कर दी गयी। और १९३५ तक इस प्रजातन्त्र में पांच भाषाओं में ११८ अखबार निकलने लगे, जिनकी साल भर में १० करोड़ से ज्यादा प्रतियां निकलती थीं।

इस विराट परिवर्तन का खर्चा कहां से आया? इस सवाल का जवाब एकदम साफ कर देता है कि पिछड़ी हुई जातियों का औपनिवेशिक शोषण करने के साम्राज्यवादी तरीके में और समाजवाद के अन्तर्गत समानता के आधार पर जातियों के सहयोग में कितना भारी अन्तर है। साम्राज्यवादी शासन में औपनिवेशिक देशों की पिछड़ी हुई, गरीबी की मार से दुखी जातियों से हर साल बेशुमार खिराज वसूला जाता है, जो साम्राज्यवादी देशों के शोषक वर्ग की दौलत को बढ़ाता है। समाजवाद में पिछड़ी हुई जातियों के तेजी से उन्नति करने में जो अतिरिक्त खर्चा होता है, वह सोवियत संघ के बजट में उनके लिए अनुपात से अधिक रकम रखकर पूरा किया जाता है। इसका मतलब यह होता है कि परिवर्तन के इस काल में ये पिछड़ी जातियां राज्य को जितना देती हैं उससे कहीं अधिक उनको हर साल मिलता जाता है। आगे दी गयी

तालिका से मालूम होगा कि १९२७-२८ में सोवियत संघ के अलग-अलग प्रजातन्त्रों में फी आदमी किस मद पर कितना रूबल खर्च करने की व्यवस्था की गयी थी।

१९२७-२८ में सोवियत प्रजातंत्रों का प्रति आदमी खर्च का बजट

मद	रूसी प्रजातंत्र	यूक्रेन	श्वेत-रूस	ट्रांसकाकेशिया	उजबेकिस्तान	तुर्कमानिस्तान	औसत
शासन प्रबंध	०.६९	०.८६	१.०६	२.२३	१.६०	२.४५	१.०२
आर्थिक प्रबंध	१.०८	०.८८	१.५७	१.१३	१.०४	१.४६	१.०६
सामाजिक-सांस्कृतिक	२.१६	१.९२	२.५७	३.५९	२.४८	३.८४	२.२०
राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था	१.६५	१.६२	२.३७	४.९५	३.३९	८.९०	१.९१
स्थानीय बजट	५.८७	५.५६	५.५७	६.७०	५.७७	५.५८	५.८३
अन्य खर्च	०.०४	—	—	०.५३	०.२०	—	०.०६
कुल जोड़	११.७६	१०.८४	१३.१४	१९.१३	१४.४८	२२.२३	१२.०८

सोवियत संघ का १९३९ का बजट भी इसी प्रकार का चित्र उपस्थित करता है। उससे प्रकट होता है कि जहां पूरे सोवियत संघ तथा प्रजातन्त्रों के कुल बजट में गुजरे साल के मुकाबले में १२.४ प्रतिशत की बढ़ती हुई थी, वहां कजाकिस्तान के बजट में २०.१ प्रतिशत और तुर्कमानिस्तान के बजट में २२.४ प्रतिशत की बढ़ती हुई थी। १९२८-२९ और १९३९ के बीच पूरे सोवियत संघ का सामाजिक तथा सांस्कृतिक खर्चा २५ गुना हो गया था; लेकिन तुर्कमानिस्तान का इन मदों का खर्चा इसी काल में २९ गुना और कजाकिस्तान का ३१ गुना हो गया था। नये कल-कारखाने बनाने के मामले में भी इसी प्रकार पिछड़े हुए इलाकों के प्रति विशेष ध्यान दिया जाता था। १९२३ में रूसी कम्युनिस्ट पार्टी की बारहवीं कांग्रेस में स्तालिन ने घोषणा की थी : "सरहदी इलाकों में, सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़े हुए प्रजातन्त्रों में—

और ध्यान रहे कि ये प्रजातन्त्र अपने किसी दोष के कारण पिछड़े हुए नहीं हैं, बल्कि इसलिए पिछड़े हुए हैं कि पहले इन्हें कच्चा माल सप्लाई करने वाले प्रदेश समझा जाता था—स्कूलों और भाषा का विकास करने के अलावा, रूसी मजदूर वर्ग को ऐसे तमाम उपाय करने होंगे जिनसे इन प्रजातन्त्रों में उद्योग-धंधों के केन्द्रों का निर्माण हो सके।"

मध्य-एशियाई सोवियत प्रजातन्त्रों के समान अधिकारों और तेज उन्नति का यह चित्र देखकर और उसका भारत के विकास में आये हुए ठहराव तथा उसके शोषण से मुकाबला करके हरेक आदमी का दिल कटुता से भर उठेगा। लेकिन यह एक ऐसा चित्र है जो इसके साथ-साथ हमारे मन में यह उत्कट आशा और दृढ़ विश्वास भी पैदा करता है कि भविष्य में, जब साम्राज्यवादी शासन के जुए को उतार फेंकने के बाद भारत की मेहनतकश जनता खुद अपने देश की मालिक बन जायगी, तब भारत में भी इतनी ही तेजी से उन्नति हो सकेगी।

अध्याय ४

भारत की गरीबी का रहस्य

भारत में साम्राज्यवाद की भूमिका को समझने के लिए जरूरी है कि कुछ इतिहास पर नजर डाली जाय और बीते हुए जमाने का अध्ययन करके उन गतिशील शक्तियों का पता लगाया जाय जो आज के जमाने में भी जिन्दा हैं। भारत के इतिहास का इस गतिशील दृष्टिकोण से सबसे पहले आधुनिक समाज-वाद के संस्थापक कार्ल मार्क्स ने अध्ययन किया था। उन्होंने सबसे पहले उन सामाजिक शक्तियों पर वैज्ञानिक प्रणाली की तेज रोशनी डाली थी जिनकी प्रेरणा से ब्रिटिश शासन के पहले भी और बाद में भी भारत का विकास हुआ था। उन्होंने सबसे पहले भारत में ब्रिटिश शासन की विनाशकारी भूमिका को खोलकर बताया था और साथ ही उसकी भारत को पुन: जीवन देने वाली भूमिका को और भविष्य के लिए उसके क्रान्तिकारी महत्व को स्पष्ट किया था।

१. भारत पर मार्क्स के विचार

इंगलैंड की लेबर पार्टी के प्रमुख सिद्धांतवेत्ता हैराल्ड लास्की ने १९२७ में भी यह मत प्रकट किया था कि "मार्क्सवाद की बनी-बनायी स्थापनाओं की दृष्टि से भारत की समस्या का अध्ययन करना समाजवाद की प्रगति में गम्भीर बौद्धिक मदद देना नहीं बल्कि केवल कल्पना के घोड़े दौड़ाना है।"

लास्की साहब को इस बात की जरा भी जानकारी न होना कि मार्क्स ने अपने चिन्तन तथा कार्य का एक बड़ा भाग निरन्तर भारत का अध्ययन करने में लगाया था, पश्चिमी योरप के समाजवादी चिन्तन की सीमाओं का एक अच्छा उदाहरण है। सच तो यह है कि भारत पर मार्क्स के प्रसिद्ध लेख उनकी वैसी रचनाओं में गिने जाते हैं जो विचारों को सबसे अधिक उत्तेजना देती हैं, और उनमें जिन प्रश्नों की चर्चा की गयी है, उनके सम्बन्ध में आधुनिक चिन्तन का श्रीगणेश मार्क्स के इन लेखों से ही होता है। मार्क्स ने ये लेख १८५३ में एक लेख-माला के रूप में लिखे थे जब कि ईस्ट इंडिया कम्पनी का चार्टर (अनुमति-पत्र) आखिरी बार पार्लियामेंट के सामने स्वीकृति के लिए आया था। मार्क्स की रचनाओं का अधिक पूर्ण अध्ययन करने पर पता चलेगा कि एशियाई अर्थ-

व्यवस्था, विशेषकर भारत और चीन में पायी जाने वाली एशियाई अर्थ-व्यवस्था की खास-खास विशेषताओं पर उन्होंने सदा बहुत ध्यान दिया था और वह इस बात का अध्ययन कर रहे थे कि योरप के पूंजीवाद का इस व्यवस्था पर क्या प्रभाव हुआ था और संसार के भावी विकास के लिए तथा साथ ही भारतीय एवं चीनी जनता की मुक्ति के लिए उससे क्या नतीजे निकाले जा सकते हैं। मार्क्स ने कितने ध्यान के साथ भारत की समस्याओं का अध्ययन किया था, इसका एक उदाहरण यही बात है कि पूंजी में भारत का पचास बार जिक्र आया है और मार्क्स-एंगेल्स के पत्र-व्यवहार में तो इससे भी ज्यादा बार भारत की चर्चा की गयी है।

कम्युनिस्ट घोषणापत्र (जिसमें मार्क्स और एंगेल्स ने इस ओर ध्यान दिलाया था कि पूंजीवादी उत्पादन के विकास के लिए भारत और चीन के बाजारों के खुल जाने का कितना भारी महत्व है) लिखने के बाद, और १८४८ की क्रान्तिकारी लहर के दब जाने के बाद, शीघ्र ही मार्क्स ने इस बात की खोज-बीन में अपना ध्यान लगाया कि यह लहर क्यों दब गयी। उन्होंने पाया कि इसका सबसे बड़ा कारण पूंजीवाद का योरप के बाहर, एशिया, आस्ट्रेलिया और कैलिफ़ोर्निया में फैल जाना था।

> "हम इस बात से इंकार नहीं कर सकते कि पूंजीवादी समाज एक बार फिर सोलहवीं सदी में से गुजर रहा है। मुझे आशा है कि जिस प्रकार पहली सोलहवीं सदी ने पूंजीवादी समाज को जन्म दिया था, उसी प्रकार यह दूसरी सोलहवीं सदी उसकी मौत की घंटी बजायेगी। पूंजीवादी समाज का खास काम है संसारव्यापी बाजार को कायम कर देना, या कम-से-कम उसका ढांचा खड़ा कर देना और उसके आधार पर उत्पादन का संगठन करना। चूंकि दुनिया गोल है, इसलिए कैलिफोर्निया और आस्ट्रेलिया में उपनिवेश कायम हो जाने तथा चीन और जापान के बाजारों के खुल जाने के बाद मालूम होता है कि यह काम पूरा हो गया है। अब हमारे लिए वजनदार सवाल यह है : योरप में क्रान्ति होने ही वाली है और शुरू से ही उसका समाजवादी रूप होगा। लेकिन दुनिया के इससे कहीं अधिक बड़े भाग में चूंकि अब भी पूंजीवादी समाज की प्रगति का बोलबाला है, इसलिए क्या इस छोटे से कोने में यह क्रान्ति लाजिमी तौर पर कुचल नहीं दी जायगी ?"

योरप के बाहर पूंजीवाद के प्रसार का पूंजीवाद के विकास के लिए तथा योरप में समाजवादी क्रांति के लिए क्या महत्व है—यही वह मुख्य विचार है

जिसे मार्क्स ने उन्नीसवीं सदी के छठे दशक में ही समझ लिया था और जिसे बाद के एक सौ वर्षों की घटनाओं ने पूर्णतया सही साबित कर दिया है।

२. भारत की ग्रामीण अर्थव्यवस्था का विनाश

मार्क्स ने अपना विश्लेषण "एशियाई अर्थव्यवस्था" की विशेषताओं से शुरू किया, जिसको सबसे पहले पूंजीवाद के धक्के ने उखाड़ा था। एंगेल्स ने जून १८५३ में लिखा था : "सारे पूरब को समझने की कुंजी यह है कि वहां जमीन पर व्यक्तिगत अधिकार नहीं है।" लेकिन जमीन पर व्यक्तिगत स्वामित्व का न होना कोई अनोखी बात नहीं है। योरप की अर्थव्यवस्था का आदिम प्रारम्भिक स्वरूप इससे भिन्न नहीं था। उसमें भेद बाद के विकास से पैदा हुआ। मार्क्स ने लिखा था :

> "कुछ दिनों से लोगों में यह बेसिर-पैर की धारणा फैल गयी है कि अपने आदिम रूप में सामूहिक सम्पत्ति स्लाव जातियों की या शायद केवल रूसियों की ही विशेषता है। हम साबित कर सकते हैं कि वही आदिम रूप रोमन, ट्यूटन तथा कैल्ट लोगों में था, और उसके अनेक उदाहरण हिन्दुस्तान में आज भी मिल सकते हैं, हालांकि अब वे कुछ हद तक तबाही की हालत में हैं। सामूहिक स्वामित्व के एशियाई और विशेष कर भारतीय रूपों का अध्ययन करने से हमें पता चलेगा कि आदिम साम्यवाद के विभिन्न रूपों से किस तरह भिन्न-भिन्न प्रकार की ऐसी धाराएं फूट निकलीं जिन्होंने उस समाज को नष्ट कर दिया। उदाहरण के लिए, हम पायेंगे कि रोमन और ट्यूटन व्यक्तिगत सम्पत्ति के जो विविध प्रकार के मूल रूप थे, उनका सम्बंध भारतीय साम्यवाद के विभिन्न रूपों से है।"

तब फिर पश्चिम की तरह पूरब में भी आदिम साम्यवाद से भू-सम्पत्ति और सामन्तवाद का विकास क्यों नहीं हुआ ? एंगेल्स का सुझाव है कि इसका कारण वहां की जलवायु और भौगोलिक परिस्थिति है।

> "यह कैसे हुआ कि पूरब के लोग भू-सम्पत्ति और सामन्तवाद तक नहीं पहुंचे ? मेरी समझ में इसका मुख्य कारण वहां की जलवायु है। इसके साथ ही वहां की खास तरह की धरती भी इसका एक कारण है। विशेष रूप से, उन बड़े रेगिस्तानी इलाकों का इस सम्बंध में बहुत महत्व है जो सहारा से लेकर अरब, ईरान, भारत और तातारों के प्रदेश से होते हुए एशिया के सबसे ऊंचे पठारों तक फैले हुए हैं। वहां खेती की

पहली शर्त यह है कि मनुष्य खुद सिंचाई का प्रबंध करे; और यह काम या तो गांव की पंचायत के जिम्मे होता है या प्रान्तीय अथवा केन्द्रीय सरकार के।"

खेती जिन परिस्थितियों में होती थी, उनमें भूमि पर निजी स्वामित्व होना सम्भव नहीं था। इसीलिए यहां उस विशेष प्रकार की "एशियाई अर्थ-व्यवस्था" का जन्म हुआ, जिसमें नीचे गांवों में तो आदिम साम्यवाद के अवशेष पाये जाते थे और ऊपर निरंकुश केन्द्रीय सरकार होती थी, जिसका काम लड़ाई और लूटमार के साथ-साथ सिंचाई का प्रबंध करना और सार्वजनिक उपयोग के निर्माण-कार्य करना भी था।

अतः, भारत को समझने की कुंजी वहां की ग्राम-व्यवस्था है। ग्राम-व्यवस्था का सबसे अच्छा वर्णन मार्क्स ने पूंजी में दिया है :

"भारत की ये छोटी-छोटी और अत्यन्त प्राचीन बस्तियां, जिनमें से कुछ आज तक चली आती हैं, जमीन के सामूहिक स्वामित्व, खेती तथा दस्तकारी की मिलावट, और एक ऐसे श्रम-विभाजन पर आधारित हैं जो कभी नहीं बदलता और जो नयी बस्ती शुरू करने के समय पहले से बनी बनायी और तैयार योजना के रूप में काम में आता है। ये बस्तियां सौ से लगाकर कई हजार एकड़ तक के रकबे में फैली रहती हैं, और हर बस्ती खूब गठी हुई और अपने में पूर्ण होती है तथा अपनी जरूरत की सभी चीजें पैदा कर लेती है। पैदावार का मुख्य भाग सीधे बस्ती के ही काम में आता है और वह बाजार में बिकने वाले माल का रूप नहीं धारण करता। इसलिए भारतीय समाज में मोटे तौर पर, मालों के विनिमय से जो श्रम-विभाजन पैदा हुआ, उससे यहां उत्पादन स्वतंत्र है। केवल फालतू पैदावार ही बाजार में बिकने वाला माल बनती है और उसका भी एक हिस्सा उस वक्त तक बाजार में बिकने नहीं जाता जब तक कि वह राज्य के हाथों में नहीं पहुंच जाता। बाबा आदम के जमाने से यह रीति चली आ रही है कि पैदावार का एक निश्चित भाग बतौर लगान के जिन्स की शक्ल में ही राज्य को दे दिया जाता है।

"भारत के अलग-अलग हिस्सों में इन प्राचीन बस्तियों का विधान अलग-अलग ढंग का है। जिनका सबसे सरल विधान है, उनमें सब लोग मिलकर खेती करते हैं, और पैदावार आपस में बांट लेते हैं। इसके साथ-साथ कातने और बुनने का काम हर कुनबे में सहायक धंधे के रूप में होता है। इस प्रकार, एक ओर गांव के आम लोग होते हैं जो एक ही प्रकार के काम में लगे रहते हैं। दूसरी ओर, 'मुखिया' होता है जो जज,

पुलिस और तहसीलदार का काम एक साथ करता है। पटवारी खेती-बारी का हिसाब रखता है और उसके बारे में हर बात अपने कागजों में दर्ज करता है। एक दूसरे कर्मचारी का काम होता है कि अपराधियों पर मुकदमा चलाये, अजनबी मुसाफिरों की हिफाजत करे और उन्हें अगले गांव तक सकुशल पहुंचा आये। पहरेदार पड़ोस की बस्तियों से गांव की सरहद की रक्षा करता है। आबपाशी का हाकिम सिंचाई के लिए सार्वजनिक तालाबों से पानी बांटता है। ब्राह्मण धार्मिक अनुष्ठान कराता है। पाठशाला का पंडित बच्चों को बालू में लिखना-पढ़ना सिखाता है। ज्योतिषी जोतने-बोने, फसल काटने और खेती के दूसरे कामों के लिए मुहूरत विचारता है। लोहार और बढ़ई खेती के औजार बनाते हैं और उनकी मरम्मत करते हैं। कुम्हार सारे गांव के लिए बर्तन-भांडे तैयार करता है। इनके साथ नाई, धोबी, सुनार और कहीं-कहीं कवि भी होता है जो कुछ बस्तियों में सुनार का और कुछ में पाठशाला के पंडित का भी काम करता है। इन दस-बारह आदमियों की जीविका पूरी बस्ती के सहारे चलती है। अगर आबादी बढ़ी तो खाली जमीन पर, उसी पुराने ढांचे के मुताबिक एक नयी बस्ती खड़ी हो जाती है।

"अपने में पूर्ण, इन बस्तियों में उत्पादन का संगठन बहुत ही सरल ढंग से किया जाता है। ये बस्तियां लगातार एक ही ढंग की बस्तियों को जन्म देती रहती हैं और जब कोई बस्ती अकस्मात बर्बाद हो जाती है, तो उसी जगह पर और उसी नाम से, वैसी ही दूसरी बस्ती उठ खड़ी होती है। एशियाई समाजों में जो कभी कोई परिवर्तन नहीं होता दिखाई देता, उसकी कुंजी इन बस्तियों में उत्पादन के संगठन की यह सरलता ही है। एशियाई समाजों की अपरिवर्तनशीलता के बिलकुल विपरीत एशियाई राज्य लगातार बिगड़ते और बनते रहते हैं और हुकूमत करने वाले राजबंशों में होने वाले परिवर्तन तो मानो कभी रुकते ही नहीं। पर राजनीति के आकाश में जो तूफानी बादल उठते हैं, वे समाज के आर्थिक तत्वों के ढांचे को नहीं छू पाते।"

ऐसी थी वह परम्परागत भारतीय अर्थव्यवस्था जिसे ब्रिटिश शासन के रूप में विदेशी पूंजीवाद ने जड़-मूल से चकनाचूर कर दिया। अंग्रेजों से पहले और लोगों ने भी भारत को जीता था, लेकिन एक बात में अंग्रेजों की जीत और उनके पहले के विजेताओं की जीतों में अन्तर था। वह यह कि जहां पहले के विदेशी विजेताओं ने यहां के आर्थिक आधार को हाथ नहीं लगाया था और अन्त में वे उसी में घुल-मिल गये थे, वहां अंग्रेजों की जीत ने इस आधार को

चकनाचूर कर दिया और वे ऐसी विदेशी ताकत ही बने रहे, जो बाहर से काम करती थी और भारत से खिराज वसूल करके बाहर ले जाती थी। एक मामले में भारत में विदेशी पूंजीवाद की जीत, योरप में पूंजीवाद की जीत से भी भिन्न थी। वह इस बात में कि यहां ध्वंसात्मक क्रिया के साथ-साथ उसी पैमाने की नयी शक्तियों का उदय नहीं हुआ। इसलिए ब्रिटिश शासन के नीचे भारतीय जनता के दुखों के साथ "एक विशेष प्रकार की उदासी" आ मिली; क्योंकि उसकी "पुरानी दुनिया तो बिछुड़ गयी थी, मगर नयी का कहीं पता न था।"

> "लेकिन इस बात में कोई सन्देह नहीं हो सकता कि हिन्दुस्तान पर अंग्रेजों ने जो मुसीबत ढायी है, वह हिन्दुस्तान पर अब तक पड़ी तमाम मुसीबतों से बुनियादी तौर पर भिन्न और कहीं ज्यादा गहरी मुसीबत है। मेरा संकेत योरप की उस निरंकुश तानाशाही की तरफ नहीं है जिसे अंग्रेजों की ईस्ट इंडिया कम्पनी ने एशियाई तानाशाही पर ऊपर से थोप दिया है, और जो एशिया की अपनी तानाशाही से मिलकर एक ऐसा भयानक दैत्य बन गयी है कि उसके सामने सालसेट के मन्दिरों की भयंकर मूर्तियां भी फीकी पड़ जाती हैं।...
>
> "हिन्दुस्तान में अनेक गृह-युद्ध छिड़े हैं, विदेशी आक्रमण हुए हैं, क्रान्तियां हुई हैं, देश को विदेशियों ने बार-बार जीता है, अकाल पड़े हैं। एक के बाद दूसरी होने वाली घटनाएं ऊपर से देखने में भले ही अजीबो-गरीब ढंग से पेचीदा, जल्दी-जल्दी होने वाली, और सत्यानाशी मालूम पड़ती हों, परन्तु वे हिन्दुस्तान में सतह के नीचे नहीं जाती थीं। लेकिन इंगलैंड ने तो भारतीय समाज के पूरे ढांचे को तोड़ डाला है, और उसके पुनर्निर्माण के अभी तक कोई चिन्ह नहीं दिखलाई दे रहे हैं। पुरानी दुनिया का इस तरह बिछुड़ जाना और नई का कहीं पता न लगना—यह हिन्दुस्तानियों के वर्तमान दुखों पर एक विशेष प्रकार की उदासी की परत चढ़ा देता है, और ब्रिटिश शासन के नीचे हिन्दुस्तान को उसकी समस्त प्राचीन परम्पराओं और उसके सम्पूर्ण पुराने इतिहास से काट देता है।"

३. भारत में ब्रिटिश शासन की विनाशकारी भूमिका

यह विनाशकारी भूमिका किस प्रकार पूर्ण हुई, इसका मार्क्स ने बड़े ध्यान से अध्ययन किया था और १८१३ के पहले के और उसके बाद के युगों का अन्तर बखूबी स्पष्ट कर दिया था। १८१३ के पहले भारत पर ईस्ट

इंडिया कम्पनी को एकाधिकार मिला हुआ था। १८१३ के बाद यह एकाधिकार तोड़ दिया गया और इंगलैंड के पूंजीवादी उद्योग-धंधों के माल ने भारत पर चढ़ाई बोलकर रही-सही कसर भी पूरी कर दी।

पहले युग में विनाश के प्रारम्भिक कदम उठाये गये। एक तो ईस्ट इंडिया कम्पनी ने सीधे-सीधे भारत को बेतहाशा लूटा। दूसरे, उसने सिंचाई और सार्वजनिक उपयोग के निर्माण-कार्यों की ओर ध्यान देना बन्द कर दिया। पहले की सरकारें इन कामों की ओर ध्यान देती थीं और नहरों, सड़कों, आदि को अच्छी हालत में रखती थीं। अब उनकी ओर से आंखें मूद ली गयीं। तीसरे, कम्पनी ने जमीदारी की अंग्रेजी प्रथा, जमीन पर व्यक्तिगत अधिकार तथा जमीन को बेचने और खरीदने की रीति जारी कर दी और इंगलैंड का पूरा फौजदारी कानून यहां लागू कर दिया। चौथे, भारत में बने हुए मालों पर सीधे-सीधे प्रतिबंध लगाकर या उसके आयात पर भारी चुंगी लगाकर, पहले इंगलैंड में और फिर योरप में भी आने से उन्हें रोक दिया गया।

लेकिन इस सबसे भी "अन्तिम आहुति नहीं पड़ी।" वह उन्नीसवीं सदी के पूंजीवाद के युग में पड़ी।

ईस्ट इन्डिया कम्पनी के एकाधिकार का अंग्रेज धन-कुबेरों के उस गुट से घनिष्ठ सम्बन्ध था जिसने ह्विग-क्रांति के द्वारा इंगलैंड में अन्तिम रूप से अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी।

> "पार्लमेंट ने ईस्ट इंडिया कम्पनी के अस्तित्व को उस डच राजा के अभ्युदय के काल में स्वीकार किया जब कि ह्विग-दल वाले ब्रिटिश साम्राज्य के विभिन्न भागों से राज्य-कर वसूल करने वाले बन चुके थे, 'बैंक आफ इंगलैंड' का जन्म हो चुका था, इंगलैंड में बाहर से आने वाले माल पर भारी चुंगी लगा कर देशी उद्योगों की रक्षा करने की व्यवस्था बाकायदा जारी हो गयी थी, और योरप में निश्चित रूप से शक्ति-संतुलन कायम हो चुका था। दिखावटी स्वतंत्रता का यह युग, वास्तव में, उन इजारेदारियों का युग था जो एलिजाबेथ और चार्ल्स प्रथम के काल की तरह अब शाही आज्ञापत्र से नहीं बनती थी, बल्कि जिनको पार्लमेंट ने यह अधिकार दिया था और जिनका उसने राष्ट्रीयकरण कर दिया था।"

इस एकाधिकार के खिलाफ इंगलैंड के कारखानेदार बराबर आन्दोलन कर रहे थे। उनकी मांग थी कि भारत के बने हुए माल को इंगलैंड में न आने दिया जाय और उनकी यह मांग मान भी ली गयी। उनके अलावा वे व्यापारी लोग भी इस एकाधिकार के खिलाफ आन्दोलन कर रहे थे जो भारतीय व्यापार से लाभ उठाने से वंचित रह गये थे। इंडिया-बिल के सवाल पर १७८३ में

फौक्स की सरकार के पतन के पीछे यही संघर्ष काम कर रहा था। यह बिल कम्पनी के डायरेक्टरों तथा मालिकों के कोटों को तोड़ देना चाहता था। बाद में १७८६ से लेकर १७६५ तक, वारेन हेस्टिंग्ज के मुकदमे को लेकर जो लम्बा संग्राम चला, उसके पीछे भी यही बात थी। लेकिन जब तक औद्योगिक क्रांति पूरी नहीं हो गयी और उसके कारण इंगलैंड का कारखानेदार पूंजीवाद सामने नहीं आया, तब तक यह एकाधिकार खत्म नहीं हुआ। यही कारण है कि कम्पनी की इजारेदारी कहीं १८१३ में जाकर टूट पायी और वह अन्तिम रूप से तो १८३३ में जाकर समाप्त हुई।

भारत का आर्थिक ढांचा भी १८१३ के बाद ही निर्णायक ढंग से तब टूटा जब इंगलैंड के कारखाने में बने हुए माल ने उस पर धावा बोला। उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में भारत के आर्थिक ढांचे के इस तरह टूटने का क्या प्रभाव हुआ, इसका मार्क्स ने अकाट्य तथ्य देते हुए चित्र खींचा है। १७८० और १८५० के बीच इंगलैंड से भारत में आने वाले माल की कीमत ३८६,१५२ पौंड से बढ़कर ८,०२४,००० पौंड हो गयी। यानी, इंगलैंड से जितना माल दूसरे देशों को जाता था, १७८० में उसका केवल बतीसवां भाग भारत गया था, जबकि १८५० तक उसका आठवां भाग वहां जाने लगा। १८५० में ब्रिटेन के सूती उद्योग का बना हुआ जो माल विदेशी बाजारों में जाता था, उसका चौथाई हिस्सा अकेले भारत के बाजार में खपता था; और उस समय ब्रिटेन की आबादी का आठवां हिस्सा सूती उद्योग में लगा हुआ था और इस उद्योग से ब्रिटेन की सम्पूर्ण राष्ट्रीय आय को बारहवां हिस्सा मिलता था।

भारत में ग्राम-व्यवस्था की रचना "खेत-बारी और उद्योग-धंधों के घरेलू एके" के अधिकार पर हुई थी। "करघा और चर्खा पुराने भारतीय समाज की धुरी थे।" लेकिन "जब अंग्रेजों के चरण भारत में पड़े तो उन्होंने भारत के करघे को तोड़ डाला और चरखे को नष्ट कर दिया।" और ऐसा करके ब्रिटेन ने "एशिया की महानतम और सच कहा जाय तो एशिया की एकमात्र सामाजिक क्रान्ति कर डाली।" इस क्रान्ति ने न केवल उद्योग-धंधों के पुराने नगरों को नष्ट कर दिया और उनके निवासियों को गांवों में खदेड़ दिया तथा इस तरह गांवों की आबादी बहुत बढ़ा दी, बल्कि उसने गांवों के आर्थिक जीवन का संतुलन भी नष्ट कर दिया। इससे खेती के लिए बुरी तरह छीना-झपटी होने लगी, जो आज दिन तक बराबर बढ़ती ही गयी है। इसके साथ ही काश्तकारों से बड़ी बेरहमी के साथ ज्यादा से ज्यादा मालगुजारी वसूल की जाने लगी, लेकिन बदले में खेती और सिंचाई वगैरा की बढ़ती के लिए कुछ भी नहीं किया गया। इसका नतीजा यह हुआ कि खेती का विकास रुक गया

(१८५०-५१ में राज्य की आमदनी का केवल ०.८ प्रतिशत सार्वजनिक निर्माण-कार्य पर खर्च किया गया था)।

लेकिन क्या मार्क्स ग्राम-व्यवस्था के पतन और भारतीय समाज के पुराने आधार के विनाश पर आंसू बहाते हैं? मार्क्स ने देखा था कि हर देश की तरह भारत में भी पूंजीवादी सामाजिक क्रान्ति से जनता को अपार कष्ट हुआ है और वह जानते थे कि भारत में तो और भयानक कष्ट हुआ है, क्योंकि यहां यह क्रांति ऊपर बतायी हुई परिस्थितियों में हुई है। परन्तु इसके साथ मार्क्स ग्राम-व्यवस्था के घोर प्रतिक्रियावादी स्वरूप को भी देखते थे और समझते थे कि यदि मानवता को प्रगति करना है, तो इस व्यवस्था का नष्ट होना लाजिमी है। उन्होंने बड़े जोरदार शब्दों में बताया है कि इन "सुन्दर ग्रामीण बस्तियों" में मानवता का कैसा भयानक पतन हुआ था। योरप की तरह भारत में भी जो लोग आगे की ओर देखने के बजाय पीछे की ओर देखा करते हैं, और जो लोग भारत में अंग्रेजी हुकूमत से लड़ने का तरीका यह समझते हैं कि अंग्रेजों के पहले के चरखे और करघे वाले भारत को फिर से जीवित किया जाय, उनके लिए मार्क्स के ये शब्द आज भी उतने ही महत्व-पूर्ण हैं जितने मार्क्स के समय में थे :

"इसमें सन्देह नहीं कि उन असंख्य, मेहनती, पितृ-सत्तात्मक एवं निरीह सामाजिक संगठनों का टूटना और बिखर जाना और दुखों के सागर में डूबने-उतराने लगना, तथा उनके अलग-अलग सदस्यों का अपनी प्राचीन सभ्यता को और जीविका कमाने के अपने पुस्तैनी साधनों को खो बैठना—ये ऐसी घटनाएं हैं जिन्हें देखकर मनुष्य का हृदय ग्लानि से भर जाता है। परन्तु, साथ ही हमें यह न भूलना चाहिए कि ये सुन्दर ग्रामीण बस्तियां, जो ऊपर से भले ही बड़ी निर्दोष दिखती हों, सदा पूरब की तानाशाहियों के ठोस आधार का काम करती आयी हैं। उन्होंने मानव मस्तिष्क को संकुचित से संकुचित सीमाओं में जकड़ रखा था; उसे अंधविश्वास का निस्सहाय साधन और पुराने रीति-रिवाजों का गुलाम बना रखा था; उन्होंने उसके सम्पूर्ण गौरव तथा गरिमा और उसकी ऐतिहासिक शक्तियों को नष्ट कर दिया था।

"हमें उस बर्बर अहमन्यता को न भूलना चाहिए जो अपना सारा ध्यान जमीन के एक छोटे से टुकड़े पर लगाये हुए, बड़े-बड़े साम्राज्यों को टूटते और मिटते देखती रही, जो अवर्णनीय अत्याचारों को बिना एक शब्द भी मुंह से निकाले सहन करती रही, जिसने बड़े-बड़े शहरों में कत्ले-आम होते देखा और देखकर इस तरह मुंह फेर लिया मानो कोई स्वा-

भाविक घटना घट रही हो, और जो स्वयं भी हर उस आक्रमणकारी का शिकार बनती रही जिसने उसकी ओर किंचितमात्र भी ध्यान दिया।

"हमें यह न भूलना चाहिए कि प्रतिष्ठा और गौरव से हीन इस निश्चल और सर्वथा जड़-जीवन ने, इस निष्क्रिय ढंग के अस्तित्व ने, दूसरी ओर अपने से बिलकुल भिन्न, विनाश की विवेकहीन, उद्देश्यहीन, और उच्छृंखल शक्तियों को जन्म दे रखा था और मनुष्य-हत्या को भी हिन्दुस्तान की एक धार्मिक प्रथा बना दिया था।

"हमें यह न भूलना चाहिए कि इन नन्हीं बस्तियों को जांत-पांत के भेद-भाव और दासता की प्रथा ने दूषित कर रखा था। उन्होंने मनुष्य को बाह्य परिस्थितियों का स्वामी बनाने के बजाय, उनका दास बना दिया था; उन्होंने स्वयं अपना विकास करने वाली एक सामाजिक व्यवस्था को कभी न बदलने वाली प्राकृतिक नियति का रूप दे दिया था, और इस प्रकार एक ऐसी प्रकृति-पूजा को जन्म दिया था कि मनुष्य अपनी मनुष्यता खोता जा रहा था और प्रकृति का स्वामी इन्सान, बानर हनुमान और गऊ शबला के सामने घुटने टेकता था।"

इसलिए, मार्क्स ने हालांकि भारत में अंग्रेजों की आर्थिक नीति को "सुअरपन" कहा है, परन्तु इसके साथ ही, वह अंग्रेजों की जीत को "इतिहास का अचेतन साधन" समझते हैं।

"यह सच है कि हिन्दुस्तान में एक सामाजिक क्रांति लाने में इंगलैंड निकृष्टतम उद्देश्यों से प्रेरित होकर काम कर रहा था, और अपने इन उद्देश्यों को पूर्ण करने का उसका ढंग अति मूर्खतापूर्ण था। परन्तु प्रश्न यह नहीं है। प्रश्न तो यह है : क्या एशिया की सामाजिक अवस्था में बिना एक बुनियादी क्रांति के मानव जाति अपने लक्ष्य तक पहुंच सकती थी? यदि नहीं, तो मानना पड़ेगा कि इंगलैंड ने चाहे जितने पाप किये हों, इस क्रांति को लाने में उसने इतिहास के एक अचेतन साधन का काम किया है।"

४. ब्रिटिश शासन की "पुनः जीवन देने वाली" भूमिका

मार्क्स की राय में, इंगलैंड को भारत में "दो काम करने थे : एक ध्वंसात्मक काम था; दूसरा रचनात्मक। उसे पुराने एशियाई समाज को नष्ट करना था और एशिया में पश्चिमी समाज का भौतिक आधार तैयार करना था।"

मार्क्स ने "पुन: जीवन देने" की शुरूआत किन बातों में देखी ? उन्होंने इसके कई चिन्ह बताये हैं :

१) "राजनीतिक एकता...मुगल बादशाहों के शासन काल में स्थापित एकता से कहीं अधिक मजबूत और व्यापक एकता" जिसे "बिजली का तार और मजबूत करेगा तथा स्थायी बना देगा;"

२) "देशी सेना" (यह १८५७ के विद्रोह के पहले मार्क्स ने लिखा था। १८५७ के बाद यह सेना तोड़ दी गयी और अंग्रेजी फौजों की संख्या जान-बूझकर बढ़ा दी गयी। उनकी तादाद पूरी सेना की एक तिहाई तक पहुंच गयी और सभी फौजों पर अंग्रेजों का कड़ा नियंत्रण कायम हो गया);

३) "एशियाई समाज में पहली बार स्वतंत्र अखबार और छापेखाने कायम हुए" मार्क्स ने यह बात १८३५ की उस घोषणा के बाद लिखी थी जिसमें भारत के लिए अखबारों और छापेखानों की स्वतंत्रता का ऐलान किया गया था। परन्तु बाद में, १८७३ से ब्रिटिश सरकार अखबारों और छापाखानों का गला घोंटने वाले एक के बाद दूसरे अनेक कानून बनाती गयी; और पतनोन्मुख साम्राज्यवादी शासन के आधुनिक युग में तो वह लगातार अपना शिकंजा मजबूत करती गयी);

४) "एशियाई समाज में जिस चीज की सबसे बड़ी कमी थी—यानी जमीन पर व्यक्तिगत स्वामित्व की—वह चालू हो गया;"

५) अंग्रेजों ने, चाहे जितनी कम संख्या में और चाहे जितना मन मसोस-कर क्यों न हो, भारतीय लोगों का एक शिक्षित वर्ग तैयार किया, "जिसे सरकार चलाने के लिए आवश्यक ज्ञान और योरपीय विज्ञान की जानकारी प्राप्त थी;"

६) भाप से चलने वाले जहाजों ने भारत का "योरप के साथ नियमित और आसान सम्पर्क स्थापित कर दिया।"

इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह थी कि औद्योगिक पूंजीवाद द्वारा भारत के शोषण का एक लाजिमी नतीजा यह हुआ कि अंग्रेजों के लिए भारत में रेलों, सड़कों और सिंचाई के साधनों का विकास करना जरूरी हो गया। इस नवीन विकास के परिणामों को ध्यान में रखकर ही मार्क्स ने वह भविष्यवाणी की थी जो उनकी भारत-सम्बन्धी घोषणाओं में सबसे अधिक प्रसिद्ध है :

> "मैं जानता हूं कि अंग्रेज कारखानेदार केवल इसी उद्देश्य को सामने रख कर भारत में रेलें बनवा रहे हैं कि उनके द्वारा कम खर्च में अधिक कपास और दूसरा कच्चा माल अपने उद्योग-धंधों के लिए निकाल

सकें। लेकिन, यदि आप एक बार किसी देश के आवागमन के साधनों में मशीनों का इस्तेमाल शुरू कर देते हैं और यदि उस देश में कोयला और लोहा भी मिलते हैं, तो फिर आप उस देश को मशीनें बनाने से नहीं रोक सकते। यह नहीं हो सकता कि आप एक विशाल देश में रेलों का जाल बिछाये रहें और उन औद्योगिक प्रक्रियाओं को वहां आरम्भ न करें, जो रेल-यातायात की तात्कालिक और रोजमर्रा की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए जरूरी होती हैं और जिनका यह परिणाम होना लाजिमी है कि उद्योग की जिन शाखाओं का रेलों से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है, उनमें भी मशीनों का उपयोग होने लगे। इसलिए, रेल व्यवस्था से हिन्दुस्तान में सचमुच आधुनिक उद्योग-धंधों की नींव पड़ गयी है।...रेल व्यवस्था से उत्पन्न होने वाले ये उद्योग-धंधे उस पुश्तैनी श्रम-विभाजन को भंग कर देंगे, जिस पर भारत की प्रगति और उसकी शक्ति के रास्ते में सबसे बड़ी रुकावट, भारत की वर्ण-व्यवस्था, टिकी हुई है।"

तो इसका क्या यह मतलब है कि मार्क्स भारत में साम्राज्यवाद को एक प्रगतिशील शक्ति समझते थे? क्या उनकी दृष्टि में साम्राज्यवाद में भारतीय जनता को आजाद करने और उसे सामाजिक प्रगति के पथ पर ले जाने की सामर्थ्य थी? नहीं; मार्क्स की राय उल्टी थी। जब मार्क्स ने भारत में अंग्रेजों के पूंजीवादी शासन की "पुन: जीवन देने वाली" भूमिका की चर्चा की थी, तो उन्होंने यह बात साफ कर दी थी कि वह साम्राज्यवाद की केवल इस भूमिका का जिक्र कर रहे हैं कि उसने नवीन प्रगति के लिए आवश्यक भौतिक परिस्थितियां तैयार कर दी हैं। लेकिन यह नवीन प्रगति स्वयं भारतीय जनता ही कर सकती थी, और वह भी इस शर्त पर कि या तो खुद सफल क्रांति करके या ब्रिटेन में औद्योगिक मजदूर वर्ग की विजय के परिणाम-स्वरूप—जो भारतीय जनता को भी आजाद करेगी—वह साम्राज्यवादी शासन से मुक्त हो जाय। मार्क्स ने लिखा था:

"अंग्रेज पूंजीपति वर्ग ने हिन्दुस्तानियों के बीच समाज के जो नये बीज बिखेरे हैं, उनके फल हिन्दुस्तानी उस वक्त तक नहीं चख सकेंगे जब तक कि या तो स्वयं ब्रिटेन में वर्तमान शासक वर्गों का स्थान औद्योगिक मजदूर वर्ग न ले लेगा, या हिन्दुस्तानी खुद इतने शक्तिशाली न हो जायेंगे कि अंग्रेजों की गुलामी के जुए को एकदम उतार फेंकें।"

एक शताब्दी पहले मार्क्स ने भारत में साम्राज्यवाद का जो विश्लेषण किया था, वह इस अचूक भविष्यवाणी के साथ समाप्त हुआ था।

अध्याय ५

भारत में ब्रिटिश शासन का पुराना आधार

आज हम मार्क्स के विश्लेषण को आगे ले जा सकते हैं और विकास के एक पूरे नये युग पर उसे लागू कर सकते हैं।

भारत में साम्राज्यवादी शासन के इस इतिहास में तीन मुख्य युग सामने आते हैं। पहला युग प्रारम्भिक पूंजीवाद का युग है जिसकी प्रतिनिधि ईस्ट इंडिया कम्पनी थी। जहां तक साम्राज्यवादी व्यवस्था के साधारण स्वरूप का सम्बंध है, यह युग अठारहवीं सदी के अन्त तक चला जाता है। दूसरा, औद्योगिक पूंजी का (यानी, मशीनें इस्तेमाल करने वाले पूंजीवादी उद्योगों का) युग है, जिसने उन्नीसवीं सदी में भारत के शोषण का एक नया आधार तैयार किया। तीसरा, बैंक-पूंजी का आधुनिक युग है, जिसने शोषण की पुरानी व्यवस्था के खंडहरों पर भारत को लूटने की अपनी एक खास ढंग की व्यवस्था जारी की, और जो कि उन्नीसवीं सदी के अन्तिम वर्षों में पहले-पहल शुरू होकर बीसवीं सदी में विकास को प्राप्त हुई।

१. भारत की लूट

ईस्ट इंडिया कम्पनी का युग आम तौर पर १६०० से १८५८ तक माना जाता है। १६०० में उसे पहला चार्टर (सरकारी अनुमति-पत्र) मिला था और १८५८ में उसका राज्य अन्तिम रूप से सम्राट के अधिकार में चला गया। पर वास्तव में १६९८ में, जब से उसका पुनर्गठन हुआ और उसे नया चार्टर मिला, तब से वह उस महाजनी शासक वर्ग की बनायी हुई एकाधिकारी कम्पनियों का एक अच्छा नमूना बन गयी थी, जिसने ह्विग-क्रान्ति के द्वारा इंगलैंड पर अपना पंजा जमा लिया था। भारत पर कम्पनी के प्रभुत्व का मुख्य काल अठारहवीं सदी का उत्तरार्ध था।

भारत के साथ व्यापार करने में ईस्ट इंडिया कम्पनी का मूल उद्देश्य वही था जो सौदागरी मत की एकाधिकारी कम्पनियों का सदा हुआ करता था— अर्थात, समुद्र पार के किसी देश के माल और पैदावार के व्यापार पर अपना इजारा (एकाधिकार) कायम करके मुनाफा कमाना। ईस्ट इंडिया कम्पनी का प्रधान लक्ष्य अंग्रेजी माल के लिए बाजार की तलाश करना नहीं था, बल्कि उसकी कोशिश यह थी कि भारत और पूर्वी द्वीप-समूह की पैदावार (खासकर

मसाले, और सूती तथा रेशमी सामान) उसे मिल जाय, क्योंकि इन चीजों की इंगलैंड और योरप में बड़ी मांग थी, और इसलिए पूरब का दूर फेरा करने पर बड़ा मोटा मुनाफा कमाया जा सकता था।

परन्तु कम्पनी के सामने शुरू से ही यह समस्या थी कि व्यापार के जरिये भारत से यह सब माल लेने के लिए जरूरी था कि बदले में भारत को कुछ दिया जाय। सत्रहवीं सदी के शुरू में इंगलैंड विकास की जिस मंजिल तक पहुंच पाया था, उसमें उसके पास भारत को देने के लिए कोई भी मूल्यवान चीज न थी। उसकी पैदावार इतनी अच्छी न थी कि भारत की पैदावार का मुकाबला कर सके। उस वक्त तक इंगलैंड में केवल एक उद्योग का विकास हुआ था। वह था ऊनी सामान तैयार करने का उद्योग। लेकिन ऊनी सामान भारत के किसी काम का न था। इसलिए, भारत में माल खरीदने के लिए अंग्रेजों को बहुमूल्य धातुएं निकालनी पड़ती थीं। लेकिन प्रारम्भिक पूंजीवाद के व्यापारिक दृष्टिकोण से यह एक बहुत ही शोचनीय और घृणित बात समझी जाती थी, क्योंकि उस जमाने में तो इन बहुमूल्य धातुओं को ही देश की एकमात्र असली दौलत समझा जाता था, और व्यापार का जरूरी उद्देश्य यह माना जाता था कि लेन-देन पूरा करने के बाद अपने देश में बाहर से बहुमूल्य धातुएं आयें, यानी उसकी असली दौलत में बढ़ती हो।

ईस्ट इंडिया कम्पनी के "उठाईगीर" सौदागर शुरू से ही इस समस्या का कोई हल खोजने की चेष्टा कर रहे थे। वे कोई ऐसी तरकीब निकालना चाहते थे कि अपनी जेब से कुछ भी नहीं या बहुत कम देना पड़े और भारत का माल हाथ लग जाय। शुरू में उन्होंने घुमा-फिराकर व्यापार करने की तरकीब निकाली। खास तौर पर वे यह तरकीब करते कि अपने बाकी उपनिवेशों से, अफ्रीका और अमरीका से वे लूट का जो माल जमा करते थे, उससे भारत में उनका खर्चा पूरा हो जाता था, जहां कि अभी उनके पास सीधे-सीधे लूटने की ताकत नहीं थी।

परन्तु जैसे ही, लगभग अठारहवीं सदी के बीच तक, भारत पर कम्पनी का प्रभुत्व कायम होने लगा, वैसे ही जोर-जबर्दस्ती के तरीके भी अधिकाधिक इस्तेमाल होने लगे। ऐसे तरीकों से विनिमय में अपना पलड़ा भारी रखा जाता था और कम से कम देकर ज्यादा से ज्यादा सामान हथियाया जाता था। अब व्यापार और लूट का भेद बड़ी तेजी से मिटने लगा। १७६२ तक ऐसी हालत हो गयी कि बंगाल के नवाब को लाचार होकर कम्पनी के दलालों के बारे में कम्पनी के सामने जाकर अपना दुखड़ा रोना पड़ा था। १७७२ में विलियम बोल्ट्स ने इन दलालों की हरकतों का इन शब्दों में वर्णन किया था: "अंग्रेज अपने बनियों और काले गुमाश्तों के जरिये मनमाने ढंग से यह तै कर देते हैं

कि माल बनाने वाला हर आसामी उन्हें कितना माल देगा और बदले में उसे कितना दाम दिया जायगा।"

लेकिन जब १७६५ में कम्पनी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी मिल गयी और मालगुजारी वसूल करने का काम कम्पनी के हाथों में आ गया, तब "व्यापार" के मुनाफे के अलावा, सीधी और बेतहाशा लूट का एक नया रास्ता खुल गया।

ईस्ट इंडिया कम्पनी ने जो व्यवस्था कायम की थी, उसका क्या स्वरूप था? क्लाइव ने डायरेक्टरों के नाम १७६५ के एक खत में उसका ऐसे स्पष्ट और कामकाजी ढंग से वर्णन किया है कि लगता है मानो किसी महाजन का बही-खाता हो। इस बही-खाते में १५ लाख पौंड का "खरा नफ़ा" दिखाया गया था। और सचमुच कम्पनी के इन्तजाम के पहले छः वर्षों की मालगुजारी की आमदनी में से खर्चे की रकम घटाकर देखा जाय, तो ४,०३७,१५२ पौंड का खरा नफा बचा था।

लेकिन कुल आमदनी इतनी ही न थी। कम्पनी के अफसरों न अलग-अलग भी बेशुमार दौलत इकट्ठा की थी। खुद क्लाइव, जो खाली हाथ भारत आया था, ढाई लाख पौंड की दौलत लेकर यहां से लौटा। इसके अलावा, वह भारत में अपनी एक जागीर भी बना गया था जिससे २७,०००[1] पौंड सालाना की आमदनी होती थी। उसने खुद कहा था कि अंग्रेज अफसरों ने "दो साल में एक-एक लाख पौंड तक कमाये हैं।" कम्पनी की पूरी आमदनी का ज्यादा सही अनुमान निर्यात और आयात के आंकड़ों से लगाया जा सकता है। गवर्नर वेरेल्स्ट की रिपोर्ट के अनुसार १७६६-१७६८ तक के तीन साल में ६,३११,२५० पौंड का माल बाहर भेजा गया, जब कि बाहर से देश के अन्दर केवल ६२४,३७५ पौंड का माल आया। इस प्रकार, एक देश पर शासन करने वाली इस नये ढंग की व्यापारी कम्पनी के राज में देश के अन्दर जितना माल आया, उसका दस गुना बाहर भेजा गया।

इस तरह ईस्ट इंडिया कम्पनी के सौदागारों का सबसे प्यारा सपना पूरा हो गया। वे जो बरसों से भारत को बिना कुछ दिये यहां की दौलत खींच ले जाने की तरकीब ढूंढ रहे थे, वह आखिर उन्हें मिल ही गयी।

इस व्यवस्था का बंगाल की आबादी पर क्या असर हुआ, इसकी कल्पना की जा सकती है। कम्पनी की तरफ से बार-बार यह मांग की जाती थी कि लूट की आमदनी को और बढ़ाया जाय, और बढ़ाया जाय। इसका नतीजा यह हुआ कि जमीन की मालगुजारी को अंधाधुंध बढ़ा दिया गया। हालत यहां तक पहुंची कि अक्सर किसानों से बीज के नाज और बैल तक छीन लिये जाते थे। बंगाल के अन्तिम भारतीय शासक के शासन काल के आखिरी वर्ष

में, यानी १७६४-६५ में ८१७,००० पौंड की मालगुजारी वसूल हुई थी। कम्पनी के शासन के पहले वर्ष में, यानी १७६५-६६ में बंगाल में १,४७०,००० पौंड की मालगुजारी वसूल हुई। और जब १७६३ में लार्ड कार्नवालिस ने इस्तमरारी बन्दोबस्त किया, तो उन्होंने ३,४००,००० पौंड की मालगुजारी बांधी।

१७६९ में मुर्शिदाबाद में कम्पनी के रेजीडेंट बेचेर ने कम्पनी को यह रिपोर्ट दी थी : "यह सुन्दर देश, जो अधिक से अधिक निरंकुश और स्वेच्छाचारी शासन में भी फलता-फूलता रहा था, अब हुकूमत में अंग्रेजों का सचमुच इतना बड़ा हिस्सा होते हुए भी तबाही की हालत में पहुंच रहा है।"

१७७० में इस तबाही की हालत के बाद बंगाल में एक ऐसा अकाल पड़ा, जिसके लिए कम्पनी की सरकारी रिपोर्ट में कहा गया था कि उसका "वर्णन नहीं किया जा सकता। किसी समय पूर्णिया का सूबा हरा-भरा था। अब उसकी एक-तिहाई आबादी खत्म हो गयी है। दूसरे हिस्सों में भी ऐसी ही मुसीबत है।" अनुमान लगाया गया था कि इस अकाल में एक करोड़ आदमी काम आये थे। फिर भी अकाल के दौरान में मालगुजारी न सिर्फ कड़ाई और बड़ी निर्दयता से वसूल की गयी, बल्कि उसे और बढ़ा दिया गया। यह किस तरह हुआ, इसका हवाला वारेन हेस्टिंग्ज के १७७२ के इस नोट में है :

> "इस सूबे की एक-तिहाई आबादी खत्म हो चुकी थी, और इस कारण खेती में भी कमी आ गयी थी। लेकिन इस सबके बावजूद १७७१ में जितनी मालगुजारी वसूल की गयी, वह १७६८ से भी ज्यादा थी...। स्वभावतया यह आशा की जाती थी कि इतनी बड़ी विपत्ति के जैसे और परिणाम हुए हैं, वैसे ही मालगुजारी भी कम हो जायगी। ऐसा नहीं हुआ, इसका सबब यह था कि जोर-जबर्दस्ती से मालगुजारी का पुराना स्तर कायम रखा गया।"

१७८९ में गवर्नर जनरल लार्ड कार्नवालिस ने यह रिपोर्ट दी :

> "मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूं कि हिन्दुस्तान में कम्पनी के राज का एक-तिहाई इलाका अब जंगल बन गया है, जहां केवल डरावने जानवर रहते हैं।"

२. भारत और औद्योगिक क्रान्ति

अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में भारत को लूट कर जो दौलत मिली, उसी की नींव पर आधुनिक इंगलैंड की इमारत खड़ी की गयी।

अठारहवीं सदी के बीच के दिनों तक इंगलैंड मुख्यतया एक खेतिहर देश ही बना हुआ था। ऊनी उद्योग उन दिनों का खास उद्योग था। सामाजिक दृष्टि से, जहां तक वर्ग-विभाजन, सर्वहारा की उत्पत्ति तथा सुरक्षित पूंजीवादी शासन की स्थापना का सम्बन्ध है, औद्योगिक पूंजीवाद की ओर बढ़ने के लिए परिस्थितियां परिपक्व हो गयी थीं। उसका व्यापारिक आधार तैयार हो गया था। लेकिन औद्योगिक पूंजीवाद की अवस्था की ओर बढ़ने के लिए यह भी आवश्यक था कि एक काफी बड़े पैमाने पर पहले से पूंजी इकट्ठा हो जाय। अठारहवीं सदी के बीच के दिनों तक इंगलैंड में इस पैमाने पर पूंजी इकट्ठा नहीं हो पायी थी।

तभी १७५७ में प्लासी की लड़ाई हुई, और उसके बाद भारत की दौलत बरसाती नदी की तरह इंगलैंड की तरफ बह चली।

इसके कुछ ही समय बाद बड़े-बड़े आविष्कारों का एक तांता सा लग गया, जिनसे औद्योगिक क्रांति आरम्भ हुई। १७६४ में हारग्रीव्ज ने कातने की जेनी का आविष्कार किया। १७६५ में वाट ने भाप से चलने वाला इंजिन बनाया और १७६९ में उसका पेटेंट रजिस्टरी कराया। १७६९ में आर्कराइट ने वाटर-फ्रेम तैयार किया और १७७५ में रूई सफाई, खिचाई और कताई की मशीनों के पेटेन्ट रजिस्टरी कराये। १७७९ में क्रौम्पटन ने म्यूल नामक काटने की मशीन का आविष्कार किया। १७८५ में कार्टराइट ने मशीन का करघा (पावर लूम) बनाया। और १७८८ में लोहा गलाने की भट्ठियों में भाप का इंजिन इस्तेमाल किया गया।

इस काल में इन आविष्कारों का तांता लग गया। इससे मालूम होता है कि उनसे काम लेने के लिए सामाजिक परिस्थितियां परिपक्व हो गयी थीं। पहले जो आविष्कार हुए थे, उनको उपयोगी ढंग से काम में नहीं लिया गया था : "१७३३ में के ने फ्लाई-शटल नामक बुनने की मशीन का पेटेन्ट रजिस्टरी करा लिया था, और १७३८ में व्याट्ट पानी की ताकत से चलने वाली रोलरदार कातने की मशीन का पेटेंट रजिस्टरी करा चुका था; लेकिन मालूम होता है कि इन आविष्कारों में से कोई भी काम में नहीं लाया गया।"

इंगलैंड के औद्योगिक इतिहास के अधिकारी विद्वानों में डॉ. कनिंघम प्रमुख हैं। उन्होंने बताया है कि आविष्कारों का यह युग "अचानक और अकारण आविष्कारक प्रतिभा के फूट पड़ने के कारण" नहीं आरम्भ हुआ था, बल्कि उसके पीछे यह बात काम कर रही थी कि इंगलैंड में इस वक्त तक इतनी काफी पूंजी जमा हो चुकी थी, जिससे इन आविष्कारों का बड़े पैमाने पर उपयोग करना सम्भव हो गया था। लेकिन कनिंघम का विचार है कि "बैंक आफ इंगलैंड तथा अन्य बैंकों की स्थापना से पूंजी के निर्माण में बड़ी

सहायता मिली थी।" किन्तु, १६९४ में केवल बैंक ऑफ इंगलैंड की स्थापना से ही शुरू में पूंजी जमा नहीं हो सकती थी। अठारहवीं सदी के बीच के दिनों तक बंक-पूंजी और चल-पूंजी फिर भी कम थी। तब फिर अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में यकायक पूंजी का संचय कैसे होने लगा? मार्क्स ने बताया है कि आधुनिक दुनिया में पूंजी का प्राथमिक संचय, चाहे वह पूंजीवाद के विकास की शुरू की मंजिलों में होने वाले वाला प्राथमिक संचय हो, और चाहे बाद की मंजिलों में, सबसे ज्यादा उपनिवेशों की लूट से हुआ है। मार्क्स ने दिखाया है कि शुरू की यह पूंजी मैक्सिको और दक्षिणी अफ्रीका की चांदी, दासों के व्यापार और भारत की लूट से जमा हुई थी। अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में इंगलैंड में अचानक पूंजी की जो बाढ़ आयी थी, उसका सबसे बड़ा कारण भारत में लूटी हुई दौलत थी।

इस प्रकार, भारत की लूट ने इंगलैंड में औद्योगिक क्रान्ति को सम्भव बनाने में एक अति-महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

लेकिन, जब एक बार भारत की लूट की मदद से इंगलैंड में औद्योगिक क्रान्ति हो गयी, तो उसके बाद नयी समस्या यह पैदा हुई कि कारखानों में बने ढेरों माल के लिए कहीं बाजार मिले। इससे आर्थिक व्यवस्था में एक क्रान्ति करना आवश्यक हो गया। प्रारम्भिक पूंजीवाद के व्यापारवादी सिद्धान्तों की जगह पर औद्योगीकरण के युग के स्वतंत्र व्यापार के सिद्धान्तों की स्थापना करना जरूरी हो गया। और इसका फिर यह परिणाम हुआ कि औपनिवेशिक व्यवस्था के तौर-तरीके भी पूरी तरह बदल गये।

नयी जरूरतों को पूरा करने के लिए आवश्यक था कि भारत में पुराने एकाधिकार की जगह एक स्वतंत्र बाजार का निर्माण किया जाय। उसके लिए जरूरी हो गया कि भारत, जो सारी दुनिया को अपना सूती माल भेजा करता था, अब खुद सूती माल बाहर से मगाने लगे। इसका मतलब यह था कि ईस्ट इंडिया कम्पनी की पुरानी व्यवस्था पूरी की पूरी बदल दी जाय। अतएव, अठारहवीं सदी के आखिरी पच्चीस वर्षों में राज्य की केन्द्रीय सरकार से अनुरोध किया गया कि वह भारत में कम्पनी की कारवाइयों को व्यवस्थित करे। भारत के व्यापार पर अकेली ईस्ट इंडिया कम्पनी के एकाधिकार के खिलाफ जितने भी विभिन्न प्रकार के लोग थे, वे सब मिल गये और उन्होंने संगठित रूप से कम्पनी के खिलाफ एक जबर्दस्त जिहाद छेड़ दिया। इस जिहाद को न केवल इंगलैंड के उठते हुए कारखानेदारों का समर्थन प्राप्त था, बल्कि वे ताकतवर व्यापारी भी उसका समर्थन कर रहे थे जिनका ईस्ट इंडिया कम्पनी के एकाधिकार में कोई हिस्सा नहीं था। यह जिहाद नये, बढ़ते हुए, औद्योगिक पूंजीवाद के आने की सूचना दे रहा था, जो यह मांग कर रहा था

कि भारत के बाजार में सबको घुसने की छूट होनी चाहिए और अफसरों के भ्रष्टाचार और लूटमार के कारण वहां के बाजार का भली-भांति शोषण करने के मार्ग में जितनी कठिनाइयां पैदा हो गयी हैं, उनको दूर किया जाना चाहिए।

यह ध्यान देने की बात है कि कम्पनी के खिलाफ इस जिहाद का श्रीगणेश १७७६ में एडम स्मिथ ने किया था, जो स्वतंत्र व्यापार के क्लासिकी अर्थशास्त्र के पिता और नए युग के अग्रदूत माने जाते हैं।

१७८२-८३ में ईस्ट इंडिया कम्पनी के पुराने आधार का विरोध और उसमें परिवर्तन की मांग, कामन्स सभा (हाउस आफ कामन्स) की सेलेक्ट कमिटी की बैठकों में होती रही। १७८३ में फौक्स ने अपना इंडिया बिल पेश किया जिसका उद्देश्य यह था कि डायरेक्टरों और मालिकों के कोर्टों को खत्म करके पार्लामेंट उनकी जगह पर कुछ कमिश्नरों को नियुक्त कर दे। कम्पनी के विरोध के कारण यह बिल पास नहीं हो सका। बिल गिर जाने के परिणामस्वरूप फौक्स की सरकार ने इस्तीफा दे दिया और उसकी जगह पिट ने नयी सरकार बनायी। अगली दो पीढ़ियों तक पिट के हाथ में ताकत रही। इस नाजुक मौके पर पता चला कि भारत इंगलैंड की राजनीति की एक मूल समस्या बन गया है। १७८४ में, हेस्टिंग्ज तथा कम्पनी के विरोध के बावजूद पिट का इंडिया एक्ट पास हो गया। उसमें हालांकि फौक्स के सुझाव के बदले भद्दी दोहरी व्यवस्था कायम करके पुरानी व्यवस्था से समझौता किया गया था, लेकिन फिर भी, उसमें राज्य द्वारा सीधे नियंत्रण के उसी मूल सिद्धान्त की स्थापना की गयी थी, जिसकी स्थापना करना फौक्स के सुझावों का उद्देश्य था। १७८८ में वारेन हेस्टिंग्ज पर मुकदमा चलाया गया। यह मुकदमा असल में सरकार की तरफ से चलाया गया था और वह व्यक्ति के खिलाफ इतना नहीं, जितना कि एक व्यवस्था के खिलाफ चलाया गया था। १७८६ में लार्ड कार्नवालिस को गवर्नर-जनरल बनाकर भेजा गया कि वह शासन-प्रबंध में भारी परिवर्तन करें और अलग-अलग अफसरों द्वारा मनमानी लूट और भ्रष्टाचार के तरीके की जगह पर अच्छी तनखा पाने वाली सिविल सर्विस कायम करें। पहले जिस मनमाने ढंग से मालगुजारी लगातार बढ़ायी जा रही थी, उससे देश वीरान बनता जा रहा था और शोषण का आधार ही मिटता जा रहा था। लार्ड कार्नवालिस ने इस प्रथा को खतम करने की कोशिश की, बंगाल में जमीन का इस्तमरारी बन्दोबस्त किया, जिससे जमींदारों का एक नया वर्ग ब्रिटिश हुकूमत के सामाजिक आधार के रूप में पैदा हो गया, और सरकार को एक बंधी रकम हर साल देने लगा।

इन सब परिवर्तनों का उद्देश्य सुधार करना था। वास्तव में, इन परिवर्तनों

के द्वारा भारत का अधिक वैज्ञानिक ढंग से शोषण करने के लिए जमीन साफ की गयी थी, जो पूरे पूंजीपति वर्ग के हित में था। इन परिवर्तनों ने एक नये युग के लिए मार्ग प्रशस्त किया, जिसमें औद्योगिक पूंजी भारत का शोषण करने वाली थी, और पहले की अव्यवस्थित लूट-खसोट के मुकाबले भारत की समूची आर्थिक व्यवस्था को कहीं ज्यादा तबाह कर देने वाली थी।

३. उद्योग-धंधों का नाश

१८१३ में आखिर कारखानेदारों और दूसरे व्यापारियों का हमला कामयाब हो गया, और भारत के व्यापार पर ईस्ट इंडिया कम्पनी का एकाधिकार खत्म कर दिया गया। इसलिए कहा जा सकता है कि औद्योगिक पूंजीवाद द्वारा भारत के शोषण का नया काल १८१३ से आरम्भ हुआ। १८१३ की पार्लामेंटी जांच की कार्यवाही से पता चलता है कि उस समय तक चिन्तन की दिशा किस प्रकार एकदम बदल गयी थी और सबका ध्यान केवल ब्रिटेन के नये उठते हुए, और मशीनों से चलने वाले उद्योग-धंधों में बने माल के बाजार के रूप में भारत का विकास करने पर केन्द्रित हो गया था।

१८१३ के पहले भारत के साथ अपेक्षाकृत कम व्यापार होता था। लेकिन १८१४ और १८३५ के बीच, भारत में इंगलैंड के बने सूती कपड़े की खपत १० लाख गज से कुछ कम से बढ़कर ५१० लाख गज से अधिक हो गयी। इसी काल में भारत के बने सूती कपड़े के कटपीस के टुकड़ों की खपत इंगलैंड में साढ़े १२ लाख से गिर कर ३ लाख ६ हजार हो गयी, और १८४४ तक तो इंगलैंड में केवल ६३,००० टुकड़ों की खपत रह गयी। भारत कई शताब्दियों से अपना कपड़ा सारी दुनिया को भेजता आया था; लेकिन १८५० तक यह हालत पैदा हो गयी कि वह उल्टे विदेशी कपड़ा मंगाने लगा; और ब्रिटेन कुल जितना कपड़ा बाहर भेजता था, उसका चौथाई अकेले भारत में खपने लगा। लेकिन भारतीय बाजार में अंग्रेजी माल का बोलबाला कायम हो जाने और भारत के उद्योगों के चौपट हो जाने का केवल एक यही कारण नहीं था कि मशीनों से काम लेने वाले उद्योग कौशल की दृष्टि से आगे बढ़े हुए होते हैं। इस काम में राज्य ने भी सीधे-सीधे मदद की और एकतरफा स्वतंत्र व्यापार चालू कर दिया (इसका मतलब यह था कि अंग्रेजी माल को तो भारत में आने की पूर्ण स्वतंत्रता थी या उस पर महज नाममात्र की बन्दिश थी, लेकिन ब्रिटेन में आने वाले भारतीय मालों पर भारी चुंगी लगी हुई थी और

जहाजी कानूनों द्वारा भारत और योरप अथवा अन्य विदेशी क्षेत्रों के बीच प्रत्यक्ष व्यापार पर रोक लगा दी गयी थी)।

एक तरफ जहां इंगलैंड के मशीन में बने कपड़े ने भारत के बुनकरों को बर्बाद किया, वहां दूसरी तरफ, मशीन के बने सूत ने भारत के चरखे वालों को मिटा दिया। १८१८ और १८३६ के बीच भारत में इंगलैंड के बने सूत की खपत ५,२०० गुनी बढ़ गयी। रेशमी कपड़े, ऊनी कपड़े, लोहे, बर्तन, कांच और कागज के साथ भी यही हुआ।

भारत के उद्योग-धंधों के इस तरह जड़ से नेस्तनाबूद हो जाने का देश की अर्थव्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ा होगा, इसकी सहज ही कल्पना की जा है। इंगलैंड में भी हाथ के करघे से काम करने वाले पुराने बुनकर तबाह हुए थे; लेकिन वहां उनकी तबाही के साथ-साथ मशीन से चलने वाला नया उद्योग कायम हो गया था। मगर भारत में लाखों और करोड़ों कारीगरों और दस्तकारों के तबाह हो जाने पर भी किसी नये प्रकार के धंधों का विकास नहीं हुआ। पुराने औद्योगिक नगर—ढाका, मुर्शिदाबाद, सूरत, आदि—जो पहले बहुत घने बसे हुए थे, अंग्रेजी राज की कृपा से चन्द वर्षों के अन्दर ही ऐसे उजाड़ हो गये कि भयानक से भयानक युद्ध होने पर या विदेशी विजेताओं का शिकार होने पर भी उनकी वैसी दशा न होती। १८६० में सर हेनरी कॉटन ने लिखा : "ऐसा कोई साल नहीं जाता जब कमिश्नर और जिलों के अफसर इस बात की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित नहीं करते कि देश के सभी हिस्सों में उद्योग-धंधों से जीविका चलाने वाले वर्ग चौपट होते जा रहे हैं।" और १९११ में जो जनगणना हुई, उसकी रिपोर्ट से पता चला कि यह क्रिया उस समय भी जारी थी।

न केवल पुराने औद्योगिक केन्द्र और नगर वीरान हो गये और उनकी आबादी उजड़ कर गांवों में भर गयी, बल्कि सबसे बड़ी बात यह हुई कि पुरानी ग्रामीण अर्थव्यवस्था का आधार मिट गया। खेती और घरेलू उद्योगों की उस एकता पर मर्मान्तक प्रहार हुआ जो पुरानी व्यवस्था की नींव थी। लाखों तबाह और बर्बाद कारीगरों और दस्तकारों के लिए, कातने वालों, बुनकरों, कुम्हारों, चमड़े का काम करने वाले चर्मकारों, लुहारों, सुनारों आदि के लिए, वे चाहे शहरों के हों चाहे देहात के, इसके सिवा और कोई चारा न रह गया कि वे खेती के धंधे में जाकर भीड़ लगायें। इस तरह जो भारत, खेती और उद्योग-धंधों की मिली-जुली व्यवस्था का देश था, उसे जबर्दस्ती ब्रिटेन के कल-कारखानों वाले पूंजीवाद का खेतिहर उपनिवेश बना दिया गया। ब्रिटिश शासन के इसी काल से, और अंग्रेजी राज्य के प्रत्यक्ष प्रभाव के परिणामस्वरूप, भारत में खेती पर आबादी का वह जबर्दस्त और घातक

दबाव शुरू होता है, जिसे सरकारी साहित्य में लीप-पोत कर "जरूरत से ज्यादा आबादी बढ़ जाने" के एक चिन्ह के रूप में पेश किया जाता है।

ब्रिटेन के औद्योगिक पूंजीपतियों की यह नीति, अर्थात भारत को ब्रिटिश पूंजीवाद का ऐसा खेतिहर उपनिवेश बना देने की नीति जो ब्रिटेन को अपना कच्चा माल दिया करे और उससे कल-कारखानों का बना माल खरीदा करे, १८४० में मैंचेस्टर के व्यापार मंडल (चैम्बर्स आफ कामर्स) के अध्यक्ष थामस बैजले ने बिल्कुल स्पष्ट कर दी थी। उन्होंने कहा था :

> "भारत एक बहुत ही विशाल देश है और वहां की आबादी इतना अधिक अंग्रेजी माल खरीदा करेगी कि उसकी कोई सीमा न होगी। हमारे भारतीय व्यापार की पूरी समस्या यह है कि हम जो माल वहां भेजने को तैयार हैं, उसकी कीमत क्या भारत के लोग अपनी धरती की पैदावार देकर अदा कर सकते हैं।"

७५ बरस पहले क्लाइव ने जिस स्पष्ट और दो टूक ढंग से भारत के पुराने युग के शोषण का हिसाब लगाया था, ठीक उसी ढंग से यहां नये युग के शोषण का हिसाब लगाया गया है।

अंग्रेज पूंजीपतियों की नीति एक नयी अवस्था में प्रवेश कर चुकी है, इसका संकेत १८३३ में मिला जब अंग्रेजों को भारत में जमीन खरीद कर बागानों के मालिकों के रूप में वहां बस जाने की इजाजत दी गयी। उसी साल पश्चिमी द्वीप-समूह में गुलामी की प्रथा खत्म कर दी गयी थी। उसके बाद तुरन्त ही भारत में बागानों की यह नयी प्रथा जारी कर दी गयी, जो एक झीने आवरण से ढकी गुलामी के सिवा और कुछ न थी। और यह बात महत्व से खाली नहीं है कि भारत में जिन लोगों ने पहले-पहल जाकर बागानों का काम शुरू किया, उनमें से बहुत से पश्चिमी द्वीप-समूह के गुलामों के मालिक थे। इस प्रथा के जो भयानक नतीजे हुए, उनका पर्दाफाश १८६० के नील कमीशन के सामने हुआ। आज १० लाख से अधिक मजदूर चाय, रबड़ और काफी के बागानों से बंधे हुए हैं; यानी कपड़ा-मिलों, कोयला-खानों, इंजीनियरिंग के कारखानों और लोहे तथा इस्पात के उद्योगों में सब मिलाकर जितने मजदूर काम करते हैं, उनकी लगभग दो-तिहाई संख्या बागानों में काम करती है।

१८३३ के बाद कच्चे मालों का निर्यात खास तौर पर एकदम बढ़ गया। १८१३ में भारत से ९० लाख पाउंड कपास बाहर गयी थी, १८३३ में ३२० लाख पाउंड बाहर गयी, १८४४ में ८८० लाख पाउंड और १९१४ में ९,६३० लाख पाउंड। १८३३ में ३,७०० पाउंड भेड़ की ऊन बाहर गयी

थी, १८४४ में २७ लाख पाउंड बाहर गयी थी। १८३३ में २,१०० बुशल तिलहन बाहर गया था, १८४४ में २३७,००० बुशल बाहर गया।

इससे भी ज्यादा महत्व की बात यह थी कि भूखों मरने वाले भारत से अधिकाधिक माल बाहर भेजा जाने लगा। १८४९ में ८५८,००० पौंड कीमत का अनाज बाहर गया था, १८५८ में ३८ लाख पौंड की कीमत का अनाज बाहर गया—१८७७ में ७९ लाख पौंड का, १९०१ में ९३ लाख पौंड का और १९१४ में १९३ लाख पौंड का।

इसके साथ, उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में अकालों की संख्या और भयंकरता में भारी बढ़ती हो गयी। डब्ल्यू. एस. लिली ने अपनी पुस्तक भारत और उसकी समस्याएं में सरकारी अनुमानों के आधार पर अकालों में होने वाली मौतों के ये आंकड़े दिये थे :

वर्ष	अकाल से होने वाली मौतों की संख्या
१८००-२५	१,०००,०००
१८२५-५०	४००,०००
१८५०-७५	५,००,००००
१८७५-१९००	१५,०००,०००

१८८० में भारतीय अकाल कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में कहा था :

"भारत के लोगों की गरीबी, और अन्न संकट के समय उनको जिन खतरों का सामना करना पड़ता है, उनकी जड़ में सबसे बड़ी बात यह शोचनीय परिस्थिति है कि आबादी के अधिकांश भाग का एक मात्र व्यवसाय खेती है; और मौजूदा बुराइयों को दूर करने के लिए ऐसा कोई भी उपाय पूरी तरह कारगर नहीं हो सकता जिसमें लोगों के लिए तरह-तरह के बहुत से धंधे जारी करना शामिल नहीं हो। कारण कि आज जो फालतू आबादी खेती के धंधे में लगी हुई है, उसे वहां से हटाने और उद्योग-धंधों में या ऐसे ही किसी और काम से लगाने का यही तरीका है।"

इन शब्दों में औद्योगिक पूंजी ने भारत में अपने कारनामों पर खुद ही फतवा दे दिया है।

अध्याय ६

भारत में आधुनिक साम्राज्यवाद

उन्नीसवीं सदी में भारत पर ब्रिटेन की औद्योगिक पूंजी का आधिपत्य था। ीसवीं सदी में उसकी जगह, भारत पर ब्रिटेन की बंक-पूंजी का आधिपत्य कायम हुआ। इसके बहुत महत्वपूर्ण आर्थिक और राजनीतिक नतीजे हुए। इस काल को समझने के लिए सबसे पहले यह समझना आवश्यक है कि औद्योगिक पूंजी का युग बंक-पूंजी के युग में किस तरह बदला और उसके क्या परिणाम हुए।

१. बंक-पूंजी युग का श्रीगणेश

उन्नीसवीं सदी में औद्योगिक पूंजी जिस विशेष ढंग से भारत का शोषण करती थी, उसमें सीधी लूट-मार के पुराने तरीके एकदम खत्म नहीं हो गये थे। वे भी जारी थे, और साथ ही उनका रूप बदल गया था।

जिसे उस वक्त खुल्लमखुल्ला "खिराज" कहा जाता था, वह लूट का पैसा बराबर भारत से जाता रहा, और उन्नीसवीं सदी में व्यापार के विकास के साथ यह "खिराज" भी लगातार बढ़ता गया। बीसवीं सदी में वह और भी तेजी से बढ़ा, हालांकि व्यापार में अपेक्षाकृत गिरावट आ गयी। आधुनिक काल में इंगलैंड के द्वारा भारत का शोषण किस प्रकार बढ़ता गया है, इसका प्रमाण नीचे की तालिका में मिलेगा :

भारत से इंगलैंड जाने वाले खिराज में बढ़ती (लाख पौंड में)

	१८५१	१९०१	१९१३-१४	१९३३-३४
घरेलू खर्च की मद में ...	२५	१७३	१९४	२७५
आयात से निर्यात कितना ज्यादा हुआ ...	३३	११०	१४२	६९७

तालिका से पता चलता है कि भारत से इंगलैंड जाने वाला खिराज अधिकाधिक बढ़ता गया है। वास्तव में, इन आंकड़ों से इस बात पर पर्दा पड़ जाता है कि इस बीच शोषण के एक नये रूप ने जन्म ले लिया था। यह रूप

स्वतंत्र व्यापार पर आधारित उन्नीसवीं सदी के पूंजीवाद की परिस्थितियों में ही विकसित हुआ था, मगर अब वह बंक-पूंजी द्वारा भारत का शोषण बनता जा रहा था। यह बीसवीं सदी की नयी मंजिल थी।

उन्नीसवीं सदी के स्वतंत्र व्यापार पर आधारित पूंजीवाद की कुछ ऐसी आवश्यकताएं थीं, जिनसे मजबूर होकर अंग्रेजों को भारत में अपनी नीति में कुछ परिवर्तन करने पड़े।

एक तो इस बात की आवश्यकता थी कि कम्पनी को एक बार सदा के लिए खत्म कर दिया जाय, और उसकी जगह पर, ब्रिटेन के पूरे पूंजीपति वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में ब्रिटिश सरकार का सीधा शासन स्थापित कर दिया जाय। यह काम अंतिम रूप से १८५८ में पूरा हुआ।

दूसरे, व्यापार के लिए भारत को एकदम खोल देना जरूरी था। उसके लिए आवश्यक था कि रेल की लाइनों का जाल देश में बिछा दिया जाय; सड़कों का विकास हो; सिंचाई की व्यवस्था की तरफ अंग्रेजी राज्य में जो एकदम लापरवाही दिखायी गयी थी, उसकी तरफ फिर ध्यान देना शुरू किया जाय; बिजली से काम करने वाले तार की व्यवस्था की जाय; सारे देश में एक सी डाकव्यवस्था कायम हो; क्लर्कों और मातहत एजेंटों की भर्ती के लिए थोड़ी अंग्रेजी ढंग की शिक्षा की शुरूआत की जाय; और योरपीय ढंग की बैंक-व्यवस्था जारी की जाय।

लेकिन सक्रिय विकास की इस क्रिया का, विशेषकर रेल-निर्माण का एक और भी नतीजा लाजिमी रूप से होना था। भारत में अपना व्यापार फैलाने के उद्देश्य से औद्योगिक पूंजी को विकास के जो काम करने पड़े, जो रेलें, आदि बनानी पड़ीं, उनसे एक नयी मंजिल की नींव पड़ गयी। उनके कारण भारत में अंग्रेजों ने अपनी पूंजी लगानी शुरू कर दी।

साम्राज्यवादी विस्तार के सामान्य क्रम में इस क्रिया को पूंजी का निर्यात कहा जायगा। लेकिन, जहां तक भारत का सम्बन्ध है, यहां इंगलैंड से बहुत कम पूंजी आयी। १९१४ तक का जो पूरा काल है, उसमें केवल १८५६ से लेकर १८६२ तक के सात वर्ष ही ऐसे हैं जब कि भारत से जितना माल इंगलैंड गया, उससे ज्यादा माल वहां से भारत आया, यानी निर्यात से आयात अधिक रहा। वरना आम तौर पर तो सदा निर्यात ही अधिक रहता था। इन सात वर्षों में जितनी कीमत का माल भारत से इंगलैंड गया, उससे २२५ लाख पौंड ज्यादा कीमत का माल इंगलैंड से भारत आया। यह देखते हुए कि अन्त में जाकर भारत में लगी हुई अंग्रेजी पूंजी १९१४ तक अनुमानतः ५,००० लाख पौंड के लगभग पहुंच गयी थी, यह कोई बहुत बड़ी रकम नहीं थी। इसलिए, भारत में अंग्रेजों ने जो पूंजी लगायी, वास्तव में, उसे पहले उन्होंने

भारत में ही, वहां की जनता को लूटकर जमा किया और फिर उसे भारत पर ब्रिटेन के कर्ज के रूप में हिसाब में चढ़ा दिया। इस पर तभी से भारत को बराबर सूद और मुनाफा देना पड़ रहा है।

भारत में लगायी गयी अंग्रेजी पूंजी का केन्द्र था सार्वजनिक कर्ज। जब १८५८ में शासन की बागडोर अंग्रेजी सरकार ने संभाली तो उसे ईस्ट इंडिया कम्पनी से विरासत में ७०० लाख पौंड का कर्जा मिला था। लेकिन यदि हिसाब ठीक-ठीक किया जाता तो इंगलैंड पर भारत का कर्ज निकलता। पर इससे कोई फर्क नहीं पड़ा। ब्रिटिश सरकार के हिसाब में भारत ही कर्जदार रहा और उसका यह कर्ज तेजी से बढ़ता गया। ब्रिटिश सरकार के हाथों में, यह कर्ज लगभग ७५ वर्ष के अन्दर बारह-गुने से ज्यादा हो गया। १६३६ तक वह ८,८४२ लाख पौंड तक पहुंच गया था, जिसमें से ५,३२४ लाख पौंड भारतीय कर्ज था और ३,५१८ लाख पौंड कर्ज इंगलैंड में था।

विशेष महत्व की बात यह थी कि इंगलैंड में जो स्टर्लिंग कर्ज था, वह तेजी से बढ़ रहा था। १८५६ तक वह ४० लाख पौंड के नीचे ही था; लेकिन १६३६ तक वह ३,५१८ लाख पौंड हो गया था।

यह कर्ज हुआ कैसे? एक तो युद्ध, आदि के उन खर्चों के कारण जो भारत के नाम चढ़ा दिये जाते थे (अक्सर ये ऐसे युद्ध और ऐसी फौजी कार्रवाइयां होती थीं, जो भारत के बाहर होती थीं), और बाद में रेल-निर्माण तथा सार्वजनिक निर्माण के अन्य ऐसे कामों के कारण जो ब्रिटिश सरकार ने भारत में शुरू किये थे।

रेल-निर्माण, और चाय, कॉफी, तथा रबड़ के बागानों और चन्द छोटे-छोटे कारखानों के विकास के साथ-साथ, उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में अंग्रेज पूंजीपति बड़ी तेजी से अपनी निजी पूंजी भारत में लगाने लगे। इसी काल में अंग्रेजों ने अपने अनेक निजी बैंक भी भारत में खोले। कम्पनी के एकाधिकार की बन्दिशें चूंकि अब हट गयी थीं, इसलिए बैंक खोलना मुमकिन था। १६०६-१० में सर जार्ज पैश ने अनुमान लगाया था कि भारत और लंका में कुल ३,६५० लाख पौंड की ब्रिटिश पूंजी लगी हुई है। लेकिन यदि यह देखा जाता कि यह पूंजी किन व्यवसायों में लगी हुई थी, तो साफ पता चल जाता कि भारत में ब्रिटिश पूंजी लगने का, या तथाकथित "पूंजी के निर्यात" का यह मतलब कतई न था कि भारत में आधुनिक उद्योग-धंधों का विकास हो गया था। १६१४ की लड़ाई के पहले भारत में जितनी ब्रिटिश पूंजी लगी थी, उसका ६७ प्रतिशत भाग सरकारी कामों में, यातायात में, बागानों में और बैंकों में लगा हुआ था। मतलब यह कि अंग्रेजों की अधिकतर पूंजी ऐसे कामों में लगी हुई थी जिनसे केवल उनको भारत में अपना व्यापार फैलाने में और

कच्चे मालों के भंडार तथा अंग्रेजी माल के बाजार के रूप में उसका शोषण करने में मदद मिलती थी, और जिन कामों का औद्योगिक विकास से कोई सम्बन्ध नहीं था।

२. बंक-पूंजी और भारत

उन्नीसवीं सदी में अंग्रेजों का उद्योग-धंधों के क्षेत्र में एकाधिकार कायम हो गया था और वे दुनिया के बाजार पर राज करते थे। लेकिन १८७५ के बाद यह प्रभुत्व कमजोर पड़ने लगा। यहां तक कि इस काल में भारत में भी उनका कारबार धीरे-धीरे किन्तु अनवरत गति से ढीला पड़ने लगा।

१८७४ से १८७९ तक के पांच वर्षों में भारत में जो कुल माल विदेशों से आया, उसका ८२ प्रतिशत भाग ब्रिटेन से आया था। इसके अलावा ११ प्र.श. ब्रिटिश साम्राज्य के दूसरे भागों से आया था, और बाकी दुनिया के हिस्से में भारत के बाजार का १/१४ से भी कम हिस्सा पड़ता था। लेकिन १८८४-८९ तक ब्रिटेन का हिस्सा ८२ प्रतिशत से ७९ प्रतिशत हो गया, १८९९ से १९०४ तक ६६ प्रतिशत रह गया, और १९०९-१४ तक तो केवल ६३ प्रतिशत रह गया।

लेकिन इसके साथ, भारत में लगी ब्रिटिश पूंजी से होने वाले मुनाफे और घरेलू खर्च की रकम बराबर बढ़ती जा रही थी। १९१३-१४ में ब्रिटेन और भारत के बीच कुल १,१७० लाख पौंड का व्यापार हुआ था, जिससे अंग्रेज व्यापारियों, कारखानेदारों और जहाजों के मालिको को १९१३ में अनुमानतः अधिक से अधिक कुल २८० लाख पौंड का मुनाफा हुआ था।

परन्तु भारत में लगी ब्रिटिश पूंजी १९११ तक अनुमानतः ४,५०० लाख पौंड तक, और १९१४ तक ५,००० लाख पौंड तक पहुंच गयी थी। यदि इस पूंजी पर सूद की दर बहुत कम करके केवल ५ प्रतिशत ही रखी जाय, तो भी उससे २५० लाख पौंड की आमदनी जरूर होती होगी। इसमें उस पूंजी से होने वाला मुनाफा और आय जोड़नी होगी जिसका प्रतिनिधित्व भारत में काम करने वाली गैर व्यापारी कम्पनियां करती थीं। इसके अलावा, उसमें बैंकों का कमीशन, एक्सचेंज के लेन-देन की आमदनी, और बैंकों तथा बीमा कम्पनियों की अन्य आय जोड़नी होगी। सब मिलाकर ४०० लाख पौंड की आमदनी होती थी। इसलिए, जाहिर है कि १९१४ तक भारत के साथ व्यापार करने वाली व्यापारी कम्पनियों, कारखानेदारों, और जहाजी कम्प-

नियों को कुल मिलाकर जितना मुनाफा होता था, उससे कहीं ज्यादा बड़ी रकम यहां लगी हुई ब्रिटिश पूंजी के मुनाफे तथा सीधे खिराज के रूप में चली जाती थी। अर्थात, **बीसवीं सदी में बंक-पूंजी द्वारा भारत का शोषण ही इस देश की लूट का मुख्य रूप बन गया था।**

१६१४-१८ की लड़ाई के समय और उसके बाद के काल में इस क्रिया में बहुत ज्यादा तेजी आयी, और भारत के बाजार में ब्रिटेन का हिस्सा एकदम गिर गया।

लेकिन जहां एक ओर, शोषण का पुराना आधार मिट रहा था, वहां दूसरी ओर बंक-पूंजी के शोषण से होने वाले मुनाफे का नया आधार बराबर तैयार होता और फैलता जा रहा था। यदि बहुत कम करके भी अनुमान लगाया जाय तो १६२६ तक भारत में कुल ५,७३० लाख पौंड की ब्रिटिश पूंजी लग गयी थी और १६३३ तक वह १०,००० लाख पौंड पर पहुंच गयी थी। उस समय विदेशों में अंग्रेजों की जितनी पूंजी लगी हुई थी, उसका पूरे संसार का जोड़ अनुमानतया ४०,००० लाख पौंड था। भारत में लगी हुई पूंजी इस जोड़ के चौथाई से कम नहीं होती थी। मगर १६११ में सर जौर्ज पैश ने हिसाब लगाया था कि भारत में लगी हुई ब्रिटिश पूंजी, विदेशों में लगी हुई कुल ब्रिटिश पूंजी का केवल ११ प्रतिशत होती थी। नवें हिस्से का इस तरह बढ़कर चौथाई हो जाना, ११ प्रतिशत का बढ़कर २५ प्रतिशत हो जाना —यह बताता है कि आधुनिक काल में ब्रिटिश बंक-पूंजी के लिए भारत का महत्व किस तरह बढ़ता गया है। साम्राज्यवाद की आधुनिक नीति को समझने की भी यही कुंजी है। इस नीति के जरिये भारत में ब्रिटेन की बंक-पूंजी के हितों की रक्षा करने के लिए विशेष उपायों की व्यवस्था की गयी थी।

भारत से इंगलैंड जो खिराज वसूलता था, उसकी कुल कितनी कीमत होती थी? शाह और खम्भाता का अनुमान था कि १६२१-२२ में इंगलैंड ने भारत से १,५०० लाख पौंड का खिराज वसूला था। सर एम. विश्वेश्वरैया ने हिसाब लगाया था कि १६३४ में यह रकम १,२१० लाख पौंड तक पहुंची थी (उन्होंने कई महत्वपूर्ण बातों को ध्यान में नहीं रखा था, जिनको हिसाब में शामिल करने पर पूरी रकम कम से कम १,३५० लाख पौंड हो जाती)। और लारेंस के रोजिजर ने १६४५ में हिसाब लगाया था कि इंगलैंड भारत से हर साल १,३५० लाख पौंड का खिराज वसूलता है।

जिन मदों का बिलकुल ठीक-ठीक हिसाब नहीं लगाया जा सकता, उनसे जो थोड़ा बहुत अन्तर हो सकता है, उसका पूरा-पूरा ध्यान रखने पर भी, इस आम नतीजे पर पहुंचने से कोई नहीं बच सकता कि आधुनिक काल में भारत का पहले काल से कहीं अधिक तीव्र शोषण हुआ है। हिसाब लगाया गया था कि

जिस समय ब्रिटिश सम्राट ने खुद भारत के शासन की बागडोर संभाली, उसके पहले के ७५ बरसों में इंगलैंड ने कुल १,५०० लाख पौंड भारत से खिराज के रूप में वसूले थे। आधुनिक काल में, दूसरा महायुद्ध शुरू होने के पहले के बीस बरसों में, अनुमान लगाया जाता है कि इंगलैंड ने भारत से हर साल १,३५० लाख से लेकर १,५०० लाख पौंड तक खिराज वसूला। इस काल में भारत में राजनीतिक संकट जो इतना गहरा हो गया और साम्राज्यवाद के खिलाफ भारत में विद्रोह ने जो इतना जोर पकड़ लिया, उसका मूल कारण शोषण की यह अत्यधिक बढ़ती थी।

३. औद्योगीकरण का मसला

कभी-कभी यह मत प्रकट किया जाता है कि भारत में ब्रिटिश शासन के बंक-पूंजी वाले आधुनिक रूप से कम से कम इतना लाभ तो हुआ ही कि भारत के उद्योग-धंधों की उन्नति हो गयी और उसका आर्थिक विकास हुआ। तथ्यों को देखने से पता चलता है कि यह मत सच्चाई से काफी दूर है। यह सही है कि आधुनिक काल में भारत में उद्योगों का किसी कदर विकास हुआ है; लेकिन इसी काल में संसार के अन्य प्रमुख गैर-योरपीय देशों में जितना विकास हुआ है, उसके साथ भारत के विकास की किसी भी मायने में तुलना नहीं की जा सकती। (देखिए, अध्याय ३) भारत का जो कुछ औद्योगिक विकास हुआ भी है, वह आर्थिक तथा राजनीतिक दोनों ही क्षेत्रों में ब्रिटिश बंक-पूंजी के सख्त विरोध का सामना करके और उससे संघर्ष करके हुआ है।

१९१४ तक साम्राज्यवाद भारत के औद्योगिक विकास का खुल्लमखुल्ला और बिना किसी लाग-लपेट के विरोध करता था। भारत के औद्योगिक विकास को तब सिर्फ सरकारी फरमानों या सरकारी उदासीनता से ही नहीं रोका जाता था, बल्कि चुंगी के मामले में एक खास तरह की नीति बरत कर भी औद्योगिक विकास पर बंदिश लगा दी गयी थी। इसीलिए, १९१४ तक औद्योगिक विकास बहुत ही धीरे-धीरे और बहुत ही कम हुआ।

पहले महायुद्ध के शुरू होने पर सरकार ने अपनी नीति में मौलिक परिवर्तन की घोषणा की। सरकारी तौर पर ऐलान किया गया कि जिस प्रकार राजनीतिक क्षेत्र में ब्रिटिश शासन का लक्ष्य भारत में जिम्मेदार सरकार कायम करना है, उसी प्रकार आर्थिक क्षेत्र में उसका लक्ष्य भारत का औद्योगीकरण करना है।

नीति में परिवर्तन की इस घोषणा के कारण युद्ध की परिस्थितियों से उत्पन्न हुए थे। उसके तीन प्रकार के कारण बताये जा सकते हैं।

सबसे पहले, सैनिक और सामरिक कारण थे। भारत में आधुनिक उद्योग-धंधों का चूंकि बहुत मामूली विकास भी नहीं हुआ था, इसलिए बहुत ही जरूरी फौजी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए भी सात समुद्र पार से आने वाले सामान पर ही भरोसा करना पड़ता था।

दूसरे, आर्थिक होड़ से पैदा होने वाले कारण थे। भारत के बाजार पर अंग्रेजों ने जो एकाधिकार कायम कर रखा था, उसे उनके विदेशी प्रतिद्वंद्वी नष्ट किये डाल रहे थे। उनको रोकने के लिए भारत में बाहर से आने वाले माल पर चुंगी लगाना जरूरी था। चुंगी की इस प्रणाली से दो काम बनते थे। एक तो उससे जिस हद तक विदेशी उद्योगपतियों के देश में घुसने के बजाय खुद भारत के अन्दर उद्योग-धन्धों का विकास होता था, उस हद तक अंग्रेजों के लिए इस बात की गुंजाइश रहती थी कि अपने आर्थिक तथा राजनीतिक प्रभुत्व के कारण वे अन्त में ब्रिटिश पूंजी के लिए ही मुनाफा खींच सकें। इसके विपरीत, यदि भारत का बाजार एक स्वतंत्र विदेशी पूंजीवादी शक्ति के हाथों में चला जाता, तो इसकी कोई गुंजायश न रहती। दूसरे, एक बार चुंगी की व्यवस्था हो जाने पर फिर इस बात के लिए भी जमीन तैयार हो जाती थी कि ब्रिटेन से आने वाले माल पर चुंगी कम कराके अंग्रेज फिर भारत के बाजार को हथिया लें।

तीसरे, अंदरूनी राजनीतिक कारण थे। लड़ाई के जमाने में, और लड़ाई के बाद के अशान्त काल में, भारत पर अपना कब्जा जमाये रखने की खातिर अंग्रेजों के वास्ते जरूरी था कि वे भारत के पूंजीपति वर्ग का सहयोग प्राप्त करें और इसके लिए आवश्यक था कि वे यहां के पूंजीपति वर्ग को कुछ आर्थिक तथा राजनीतिक सुविधाएं दें तथा और सुविधाएं देने का वादा करें। तभी अंग्रेजों को यहां के पूंजीपतियों का समर्थन मिल सकता था।

इस समय भारत के औद्योगिक पूंजीपतियों को बड़ी आशाएं हो गयीं कि सरकार अब उद्योगों के विकास में मदद करने की नीति पर चलेगी। लेकिन आने वाले वर्षों में उनकी इन आशाओं पर निर्मम तुषारापात होने वाला था।

४. औद्योगीकरण में अड़चनें

१९१४-१८ के युद्ध के बाद सरकार ने औद्योगिक विकास में जो मदद दी, उसकी चरम सीमा यह थी कि १९२४ में उसने लोहे और इस्पात के

उद्योग को संरक्षण और आर्थिक सहायता दी। इसके बाद सरकारी मदद कम होती गयी।

भारतीय औद्योगिक कमीशन ने एक लम्बी-चौड़ी योजना बनायी थी कि केन्द्र में एक शाही उद्योग-विभाग खोला जाय, जिसके मातहत हर प्रांत में काम करने वाले प्रान्तीय विभागों का एक जाल बिछा दिया जाय। पर यह योजना यों ही रह गयी। केन्द्रीय संगठन तो कभी बना ही नहीं, प्रान्तीय विभागों को, शिक्षा-विभाग की तरह, "हस्तान्तरित" विभागों की सूची में शामिल कर दिया गया। इसका मतलब यह था कि उनको खर्चे के लिए पैसा न मिले और जब उनकी तरफ से कोई काम न हो, तो उसकी जिम्मेदारी भारतीय मंत्रियों के सर डाल दी जाय।

१९२४ में लोहे और इस्पात के उद्योग को संरक्षण मिल जाने पर चुंगी-बोर्ड के पास कई और उद्योगों की भी दरखास्तें आयीं कि उन्हें भी संरक्षण दिया जाय। उनमें से केवल एक दरखास्त मंजूर की गयी। वह माचिस-उद्योग की दरखास्त थी। उसके मंजूर होने का कारण यह था कि भारत के माचिस उद्योग में विदेशी पूंजी लगी हुई थी। सबसे अधिक महत्व की बात यह हुई कि एक नये सिद्धान्त की स्थापना कर दी गयी। यह ब्रिटेन से आने वाले माल पर कम चुंगी लगाने या साम्राज्य के माल पर रियायत के साथ चुंगी लगाने का सिद्धांत था। यह रियायती चुंगी, चुंगी की पूरी व्यवस्था का मुख्य सूत्र बन गयी। उससे ब्रिटिश उद्योगों को अपने प्रतिद्वंद्वियों से होड़ करने में जो सीधी मदद मिली वह अलग है। उसके अलावा, चुंगी की व्यवस्था का भारत में उद्योगों के विकास पर जो प्रभाव पड़ा, उससे भी प्रधानतया विदेशी हितों का, और सबसे अधिक ब्रिटिश हितों का ही फायदा हुआ है। इस प्रकार, शुरू में जो व्यवस्था भारतीय उद्योगों को मदद पहुंचाने के साधन के रूप में जारी की गयी थी, वह जल्द ही ब्रिटिश उद्योगों को मदद पहुंचाने वाली रियायती चुंगी की व्यवस्था में बदल गयी।

१९१४-१८ की लड़ाई के खत्म होते ही दुनिया के अलग-अलग देशों में व्यापार में जो तेजी आयी थी, उसका रूप भारत में और जगहों से अधिक उग्र था। सूती कपड़े और जूट की मिलों ने बेशुमार मुनाफा कमाया; और युद्ध खतम होने के फौरन बाद के उन वर्षों में इस बेशुमार मुनाफे में हिस्सा बंटाने की उम्मीद से काफी अंग्रेजी पूंजी भारत चली आयी।

लेकिन १९२० और १९२१ के खत्म होते-होते तेजी एकबारगी मन्दी में बदल गयी। सरकार की एक्सचेंज (मुद्रा के विनिमय से सम्बन्धित) नीति ने तबाही की क्रिया को और तेज कर दिया। युद्ध के बाद की तेजी के दिनों में बनी बहुत सी भारतीय कम्पनियों का बाद के वर्षों में दिवाला निकल गया।

नीचे लिखे आंकड़े बड़े महत्व के हैं। १६०८ से १६१० तक भारत और लंका में ब्रिटेन से १४७ लाख पौंड की पूंजी आयी थी, १६२१ से १६२३ तक १०२ लाख पौंड की, १६२५ से १६२७ तक २१ लाख पौंड की, १६३२ से १६३४ तक ४२ लाख पौंड की, और १६३४ से १६३६ तक केवल १० लाख पौंड की पूंजी ब्रिटेन से आयी। ब्रिटिश भारत में रजिस्ट्री-शुदा कम्पनियों की परिदत्त पूंजी (पेड-अप कैपिटल) १६१४-१५ में ७,४४० लाख रुपये थी, और १६२४-२५ तक वह २३,६८० लाख रुपये हो गयी थी। इस प्रकार १६१४ से १६२४ तक के दस वर्षों में भारत में रजिस्ट्री-शुदा कम्पनियों की पूंजी में २२२ प्रतिशत की बढ़ती हुई थी। लेकिन, इसके बाद के दस वर्षों में, यानी १६२४ से १६३४ तक की पूंजी में केवल १ प्रतिशत की औसत वार्षिक बढ़ती हुई और उसके बाद के पांच वर्षों में केवल डेढ़ प्रतिशत की।

इससे यह बात जाहिर है कि १६२६ का संसारव्यापी अर्थ-संकट आने के पहले ही भारत के औद्योगिक विकास में बहुत अड़चनें पड़ने लगी थीं। भारतीय उद्योगों को एक नया और बहुत जबर्दस्त धक्का १६२७ में तब लगा जब सरकार ने भारतीय रुपये का मूल्य, जो युद्ध के पहले १ शिलिंग ४ पेंस था, स्थाई रूप से १ शिलिंग ६ पेंस नियत कर दिया। इस प्रकार, जब परिस्थितियां पहले से ही कठिन हो गयी थीं, तब संसारव्यापी आर्थिक संकट आया, और उसकी चोट भारत पर और देशों से अधिक गहरी लगी, क्योंकि भारत प्राथमिक उत्पादन पर बहुत ज्यादा निर्भर करता था। १६२८-२६ में भारत से ३३,६०० लाख रुपये का सामान बाहर गया था। १६३२-३३ तक यह हालत पैदा हो गयी कि उस साल केवल १३,५०० लाख रुपये का माल बाहर गया। लेकिन भारत से इंगलैंड जाने वाले खिराज, कर्जे के सूद, और घरेलू खर्च की मद की रकम में कोई कमी नहीं आयी। उल्टे, दामों के गिर जाने के कारण उसका बोझ अब पहले से दुगुना हो गया था। और यह पूरी रकम भारत से बेरहमी के साथ वसूल की गयी। उसके एवज में खजाना इंगलैंड भेजा गया। १६३१-३५ के दौरान ३२० लाख आउंस से कम सोना भारत से इंगलैंड नहीं गया। अर्थ-संकट के पहले इंगलैंड के खजाने में कुल जितना सोना था, उससे ज्यादा इन चार वर्षों में भारत से इंगलैंड चला गया। १६३६ और १६३७ में और सोना यहां से गया, जिसकी कीमत ३८० लाख पौंड होती थी। भारत के किसानों और आम गरीब लोगों में अपनी बचत का पैसा बैंकों में जमा करने का चलन नहीं है। यहां का प्रचलित ढंग यह है कि जो पैसा बचता है, उससे लोग सोना खरीद लेते हैं। वही सोना, यानी भारत के किसानों और आम गरीब लोगों की गाढ़ी मेहनत की कमाई की बचत, इस तरह इंगलैंड पहुंच गयी। जिस प्रकार औद्योगिक क्रान्ति के

दिनों में हुआ था, उसी प्रकार एक बार फिर १९३३-३७ में ब्रिटिश पूंजीवाद ने भारत को लूटकर दुनिया में अपने पैर जमाये ।

५. दूसरे महायुद्ध के पहले के बीस वर्षों का लेखा-जोखा

दो महायुद्धों के बीच जो बीस वर्ष गुजरे, उनमें भारत में कुछ औद्योगिक विकास अवश्य हुआ, यह निर्विवाद बात है । इसमें सबसे अधिक महत्व कपड़ा-उद्योग के विकास का था । लेकिन किसी देश के औद्योगीकरण के लिए निर्णायक महत्व कपड़ा-उद्योग का विकास नहीं होता । औद्योगीकरण के लिए निर्णायक महत्व भारी उद्योगों के विकास का होता है, लोहे तथा इस्पात और मशीनों के उत्पादन का होता है । और इसी क्षेत्र में भारत की कमजोरी बिलकुल स्पष्ट थी । सच्चे औद्योगीकरण के लिए पहले भारी उद्योगों से, लोहे तथा इस्पात और मशीनों के उत्पादन से शुरू करना होता है । यह बात सोवियत संघ की महान समाजवादी औद्योगिक क्रान्ति में साबित हो चुकी है । सोवियत संघ ने अपनी पहली पंचवर्षीय योजना में भारी उद्योगों पर जोर दिया और यह उसी का परिणाम था कि वह अपनी दूसरी पंचवर्षीय योजना में हल्के उद्योगों का विकास कर सका । **एक पराधीन, औपनिवेशिक देश का आर्थिक विकास किस प्रकार बिलकुल उल्टे क्रम से होता है, इसका भारत एक अच्छा उदाहरण है ।**

यदि हम इस बात की तुलना करके देखें कि १९१४ के पहले के मुकाबले, इस काल में उद्योग-धंधों तथा खेती में आबादी किस अनुपात में बंटी हुई है, तो औद्योगिक विकास का नीचा स्तर और भी स्पष्ट हो जाता है । जनगणना के आंकड़ों के अनुसार, १९११ और १९३१ के बीच उन लोगों की संख्या वास्तव में कम हो गयी जो उद्योग-धंधों पर निर्भर करते थे; और खेती के सहारे रहने वालों की संख्या इस बीच बढ़ गयी । यहां तक कि सरकारी कागजों में भी उद्योग-धंधों में काम करने वाले मजदूरों की जो संख्या दर्ज की गयी है, उसमें इन बीस वर्षों में २० लाख की कमी आ गयी । इस प्रकार, दूसरा महायुद्ध शुरू होने के पहले, भारत का जो सच्चा चित्र हमारे सामने आता है, उसके लिए "अनुद्योगीकरण" का उपयुक्त शब्द इस्तेमाल हुआ है । सचमुच, साम्राज्यवादी शासन में भारत का "औद्योगीकरण" नहीं हुआ है, बल्कि "अनुद्योगीकरण" हुआ है । १९१४ के बाद यहां विकास की जो गति रही, उसे तेज औद्योगीकरण हरगिज नहीं कहा जा सकता । कुछ बातों में तो यह गति १९१४ के पहले की गति से भी धीमी थी । १८९७ और १९१४ के

बीच कल-कारखानों में काम करने वाले मजदूरों की संख्या में ५३०,००० की बढ़ती हुई थी, जब कि १९१४ और १९३१ के बीच उनकी संख्या में केवल ४८०,००० की ही बढ़ती हुई। इस प्रकार न सिर्फ पहले के मुकाबले में १९१४ के बाद विकास की गति धीमी रही, बल्कि कुल बढ़ती भी पहले से कम हुई।

भारत में औद्योगीकरण की इस धीमी गति के क्या कारण हैं? इसका मुख्य कारण खुद साम्राज्यवादी व्यवस्था में निहित है। यह व्यवस्था ऐसे विरोधों को जन्म देती है जो भारतीय उद्योगों का विकास नहीं होने देते। ये विरोध न केवल इस रूप में प्रकट होते हैं कि साम्राज्यवाद भारत के औद्योगिक विकास का सीधे-सीधे विरोध करता है, बल्कि वे इस रूप में भी प्रकट होते हैं कि साम्राज्यवादी शोषण के एक लाजिमी नतीजे के तौर पर देश की खेतिहर आबादी हद से ज्यादा गरीब हो जाती है और उसकी वजह से भारतीय उद्योगों में बने हुए माल के लिए देश का अन्दरूनी बाजार बेहद सिकुड़ जाता है। **इस प्रकार, भारत में उद्योग-धंधों का सवाल खेती के सवाल से अलग करके हल नहीं किया जा सकता, और खेती का सवाल साम्राज्यवादी शोषण के मूल आधार से सम्बन्धित है।** अन्त में, ये विरोध ब्रिटिश बैंक-पूंजी के नागफांस के रूप में प्रकट होते हैं। देश की अर्थव्यवस्था के सभी निर्णायक महत्व के स्थानों पर अंग्रेजी बैंक-पूंजी का कब्जा रहता है। इसलिए, प्रत्येक भारतीय व्यवसाय उसकी दया पर निर्भर रहता है।

६. बैंक-पूंजी का नागफांस

भारतीय पूंजी के विकास के बावजूद, भारत की अर्थव्यवस्था पर ब्रिटिश पूंजी का एकाधिकार सुरक्षित है। पूरी राजनीतिक व्यवस्था ऐसी है जो इस एकाधिकार को कायम रखती है, और १९४७ में औपनिवेशिक शासन खत्म हो जाने के बाद भी यह बात सच रहती है। लोहे और इस्पात के उद्योग के क्षेत्र में भारतीय पूंजी को ब्रिटिश पूंजी से समझौता कर लेना पड़ा। यहां तक कि कपड़ा-उद्योग में भी, जो भारतीय पूंजी का मूल स्थान है, "मैनेजिंग एजेंसी" प्रथा के जरिये ब्रिटिश पूंजी का काफी नियंत्रण कायम रहा।

अंग्रेजी राज में मैनेजिंग एजेंसी प्रथा का विकास भारत के औद्योगिक विकास पर अंग्रेजों का नियंत्रण रखने के एक प्रधान अस्त्र के रूप में हुआ। इस प्रथा के द्वारा मैनेजिंग एजेंसी का काम करने वाली थोड़ी कम्पनियां बहुत-सी औद्योगिक कम्पनियों और कल-कारखानों को चालू करती हैं, उन पर नियंत्रण रखती हैं, बहुत हद तक उनके लिए पूंजी इकट्ठा करती हैं, और साथ

ही उनकी तमाम कारंवाइयों का और पैदावार का संचालन करती हैं तथा पैदावार को बेचती हैं। मुनाफे की मलाई इन कम्पनियों के हिस्सेदारों को नहीं मिलती, बल्कि उसे मैनेजिंग एजेंसियां डकार जाती हैं।

मैनेजिंग एजेंसी का काम करने वाली कम्पनियां भारतीय और अंग्रेजी दोनों प्रकार की हैं। लेकिन सबसे ताकतवर, सबसे पुरानी और जमी हुई मैनेजिंग एजेंसियां अंग्रेजों की हैं। जाहिर है कि लन्दन के साथ सबसे घनिष्ठ सम्बन्ध भी इन्ही एजेंसियों के हैं। १९२९-३२ के संसारव्यापी अर्थ-संकट के समय, इन मैनेजिंग एजेंसियों को सूती कपड़ों की मिलों पर अपने पंजे जमाने का मौका मिला, और कुछ ने तो भारतीय हिस्सेदारों से पूरी कम्पनियां ही छीन लीं। १९३१ की भारतीय केन्द्रीय बैंकिंग जांच समिति ने अपनी रिपोर्ट में इसका विवरण दिया है।

भारतीय उद्योगों पर ब्रिटिश पूंजी का शिकंजा आज भी कसा हुआ है। १९४७ से लेकर १९५२ के अन्त तक भारत में लगी हुई ८६० लाख पौंड की ब्रिटिश पूंजी अपने देश को लौट गयी। लेकिन दूसरी तरफ उल्टी क्रिया चलती हुई दिखाई दे रही है। नयी ब्रिटिश और अमरीकी पूंजी भारत में आ रही है। विदेशी कम्पनियों ने भारत में अपनी मातहत कम्पनियां खोल दी हैं और उनकी भारत में रजिस्टरी करा ली है। लिवर ब्रदर्स, डनलप, इम्पीरियल कैमिकल, जैसी भीमाकार कम्पनियों ने भारत में अपनी मातहत कम्पनियां कायम कर दी हैं। हाल के दिनों में अमरीकी पूंजी अधिकाधिक तेजी से भारत में घुसती आ रही है।

देश की अर्थव्यवस्था पर ब्रिटिश बंक-पूंजी का नियंत्रण मजबूत बनाने में विदेशी बैंकों की बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। ये बैंक सरकार की आर्थिक एवं मुद्रा सम्बन्धी नीति के साथ कदम से कदम मिलाकर चलते हैं। दूसरे महायुद्ध के पहले भारत की बंक-व्यवस्था चार प्रकार के बैंकों में संगठित थी।

(१) भारत का रिजर्व बैंक—इसकी स्थापना १९३५ में हुई (और राष्ट्रीयकरण १९४९ में हुआ)। इसे कायम करने का उद्देश्य यह था कि वह सरकार के बैंक के रूप में "बैंक आफ इंगलैंड" की तरह काम करे और कर्ज की व्यवस्था पर नियंत्रण रखे। इसका विधान शुरू में इस तरह का बनाया गया था कि यदि वैधानिक सुधारों के मार्ग पर चलकर कभी कुछ भारतीय प्रतिनिधि केन्द्रीय सरकार में आ भी जायें, तो आर्थिक शक्ति का यह दुर्ग उनकी पहुंच के बाहर रहे, अथवा लन्दन के टाइम्स (११ फरवरी १९२८) के शब्दों में वह "उस राजनीतिक दबाव से सुरक्षित रहे जिससे कर्ज और मुद्रा की व्यवस्था को पूर्णतया स्वतंत्र रहना चाहिए।"

(२) भारत का इम्पीरियल बैंक, जो रिजर्व बैंक के साथ मिलकर काम करता है। साथ ही उसकी व्यापारिक कार्रवाइयां भी जारी हैं। इसकी लगभग चार सौ शाखाएं और उपशाखाएं हैं और भारत के तमाम बैंकों में जितनी रकमें जमा हैं, उनकी एक तिहाई इस बैंक में जमा है। इस प्रकार, यह भारत की पूरी बैंक-व्यवस्था पर छाया हुआ है। १९३९ में इसके ग्यारह डायरेक्टर अंग्रेज थे और चार हिन्दुस्तानी।

(३) एक्सचेंज बैंक, अथवा भारत में काम करने वाले ब्रिटिश या विदेशी निजी बैंक। इन तमाम बैंकों के केन्द्रीय दफ्तर भारत के बाहर हैं, और इनका स्वरूप पूरी तरह गैर-हिंदुस्तानी है। दूसरे महायुद्ध के ठीक पहले भारत के तमाम बैंकों में कुल जितनी रकमें जमा थीं उनका पांचवां हिस्सा इन बैंकों में जमा था।

(४) सम्मिलित पूंजी के भारतीय बैंक, या ऐसे निजी बैंक जिनकी रजिस्टरी भारत में हुई है। इनका दर्जा बैंकों की व्यवस्था में सबसे नीचे है। भारतीय पूंजी केवल इसी एक क्षेत्र में कुछ हाथ-पैर मार पायी, लेकिन इनमें से भी कुछ बैंकों पर विदेशी नियंत्रण कायम हो गया था।

बैंकों के इन अन्तिम तीन गुटों के पास कितनी रकमें जमा थीं, उनकी यदि तुलना की जाय तो साफ मालूम हो जाता है कि सम्मिलित पूंजी के भारतीय बैंकों की तुलना में १९४३ तक भारत में इम्पीरियल बैंक और एक्सचेंज बैंकों की ही तूती बोलती थी।

भारत की बैंक-व्यवस्था पर अंग्रेजों का जो नियंत्रण कायम था, वह भारत के औद्योगिक एवं स्वतंत्र आर्थिक विकास को रोकने के लिए इस्तेमाल किया जाता था। भारत के कारखानेदार अक्सर बड़े जोरदार शब्दों में इसकी शिकायत किया करते थे। भारतीय केन्द्रीय बैंकिंग जांच समिति के अल्पमत की रिपोर्ट (१९३१) में और टी. सी. गोस्वामी तथा सर एम. विश्वेश्वरैया (१९३४) के बयानों में यह बात कही जा चुकी है।

७. बंक-पूंजी और दूसरा महायुद्ध

दूसरा महायुद्ध आरम्भ हो जाने पर साम्राज्यवादियों को यह आवश्यकता महसूस हुई कि पूरब में लड़ाई का सामान सप्लाई करने वाले अपने मुख्य अड्डे के रूप में भारत का विकास किया जाय। लेकिन इससे भी भारत के उद्योगों का विकास करने के सवाल पर साम्राज्यवादियों के रुख में कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं हुआ। लेकिन, फिर भी यह लाजमी हो

गया कि लड़ाई के जमाने में औद्योगिक कारबार में थोड़ी तेजी आये। मगर, जैसा कि भारतीय व्यापार एवं उद्योग सभाओं के संघ (फेडरेशन आफ इंडियन चेम्बर आफ़ कामर्स एंड इंडस्ट्री) के अध्यक्ष सर बद्रीदास गोयनका ने कहा था कि लड़ाई के जमाने में भारत में उत्पादन में जो कुछ भी उन्नति हुई, वह "मौजूदा कल-कारखानों और मशीनों को अंधाधुंध चलाकर और मजदूरों से कई-कई पालियों में काम कराके हुई है। लड़ाई में शामिल दूसरे देशों में जिस तरह नये कल-कारखाने खोलकर उत्पादन बढ़ाया गया, उस तरह हमारे यहां नहीं हुआ। हमारे यहां यह चीज नहीं के बराबर हुई।" इस बात की भी कोई परवाह न की गयी कि यदि भारत के विशाल साधनों का उपयोग नहीं किया जाता, तो युद्ध-उद्योग संकट में पड़ सकता था। अमरीकी टेक्निकल मिशन ने जो सिफ़ारिशें की थीं, भारत सरकार ने उन्हें नहीं माना, बल्कि उसने कमीशन की रिपोर्ट को प्रकाशित ही नहीं किया और उसे ताले में बन्द कर दिया।

भारत के विकास को रोकने की इस नीति को अमल में लाने के लिए पूर्वी क्षेत्र की सप्लाई काउंसिल की सेवाओं का खास तौर पर इस्तेमाल किया गया। इस संस्था का दफ्तर भारत में था। उसे इस उद्देश्य से कायम किया गया था कि वह ब्रिटिश साम्राज्य के विभिन्न देशों से लड़ाई का सामान और रसद वगैरा एक जगह इकट्ठा करे और वितरण करे। इसके लिए दलील यह दी गयी कि साम्राज्य के कई-कई देशों को एक ही चीज के उत्पादन में लगकर अपनी शक्ति का अपव्यय नहीं करना चाहिए। और इस दलील की बुनियाद पर ब्रिटिश सरकर ने इस काउंसिल के जरिए इसकी पक्की व्यवस्था कर दी कि भारत के उद्योग आगे न बढ़ने पायें। पूर्वी-क्षेत्र की सप्लाई काउंसिल जिस प्रतिक्रियावादी लक्ष्य को सामने रखकर काम कर रही थी और जिस तरह काम कर रही थी, उसे देखकर अंग्रेज पूंजीपतियों ने दिसम्बर १९४० में ही सन्तोष प्रकट किया था।

युद्ध के इस पूरे काल में भारत में जरा भी वास्तविक औद्योगिक विकास नहीं हुआ। उल्टे, इस काल में भारत का जैसा भयंकर शोषण हुआ, वैसा ब्रिटिश शासन के पूरे इतिहास में कभी नहीं हुआ था। इस बार पिछली लड़ाइयों से भी ज्यादा भारी बोझा भारतीय जनता के कंधों पर डाल दिया गया। भारतीय अर्थव्यवस्था को इस काल में कितना भारी बोझा घसीटना पड़ा, इसका पता लगाने के लिए भारत के सैनिक रक्षा के खर्च और ब्रिटिश सरकार के सैनिक रक्षा के खर्च को जोड़कर कुछ अन्दाज लगाया जा सकता है। १९३९ के आर्थिक समझौते में जिन मदों के खर्च को भारत की सैनिक रक्षा का खर्च माना गया था, वह बेहद बढ़ गया। यहां तक कि कुछ वर्षों में तो वह युद्ध के

पहले की कुल राष्ट्रीय आय का एक-तिहाई तक हो गया। करीब इतना ही वह खर्चा था, जो ब्रिटिश सरकार से भारत को वापिस मिलने वाला था। लेकिन इस रकम को भारत अपने किसी काम में नहीं ला सकता था—न तो सोने के रूप में और न किसी सामान की शक्ल में। रकम बराबर बढ़ती जा रही थी, लेकिन भारत उसमें से एक पाई भी अपनी जरूरत की मशीनें, वगैरा खरीदने के लिए इस्तेमाल नहीं कर सकता था।

भारत के मालिक की हैसियत से ब्रिटेन ने पूरा-पूरा फायदा उठाया। दूसरे देशों में इस तरह की रकम के बदले में—इस पौंड-पावने के बदले में—वहां लगी हुई ब्रिटिश तथा अन्य विदेशी पूंजी ले ली गयी। पर भारत को इसकी भी इजाजत नहीं मिली।

इसके अलावा, साम्राज्यवादी शासकों ने भारत के डालर-कोष को भी हड़प कर लिया। लड़ाई के जमाने में "डालर पूल एरेंजमेंट" नामक एक व्यवस्था की गयी थी। इसके मातहत "स्टर्लिंग क्षेत्र" के सभी देशों को इसके लिए मजबूर किया गया कि अमरीका के हाथ सामान बेचकर वे जितने डालर कमायें, सबको एक जगह इकट्ठा करते जायें। अपने इन डालरों के बल पर भारत और अन्य देश अमरीका से सीधे कुछ नहीं खरीद सकते थे। इन डालरों का केवल ब्रिटिश सरकार ही लड़ाई का सामान खरीदने के लिए इस्तेमाल कर सकती थी।

लड़ाई का खर्चा चलाने का यह साम्राज्यवादी तरीका पूरी तौर पर अंधाधुंध मुद्रा-प्रसार पर आधारित था। १९३९ और १९४५ के बीच ६ गुने ज्यादा नोट जारी किये गये, जब कि औद्योगिक कारबार का सूचक अंक १९३९-४० में ११४ से १९४५ में केवल १३२.५ तक ही बढ़ा। इस मुद्रा-प्रसार से कल कारखानों के मालिकों और फौजी ठेकेदारों को बेशुमार मुनाफा लूटने में मदद मिली, मगर भारत की अर्थव्यवस्था पर उसका भयंकर प्रभाव पड़ा। युद्ध का असली बोझा उस जनता पर पड़ा जो पहले से ही भूखों मर रही थी। मजूरियों और तनख्वाहों में बार-बार कटौती, खाने-पहनने की चीजों का अभाव, देशव्यापी अकाल, तबाही और बर्बादी—छः बरस तक भारतीय जनता को तरह-तरह की मुसीबतें उठानी पड़ीं।

इस प्रकार मुख्यतया भारत की अर्थव्यवस्था के प्रति साम्राज्यवाद के रुख के कारण भारत पहले से भी अधिक गरीब होकर युद्ध में से निकला। न सिर्फ भारत की आर्थिक व्यवस्था का विकास करने का एक बड़ा अच्छा मौका हाथ से निकल गया, बल्कि युद्धकालीन बोझ के कारण दूसरे महायुद्ध के समाप्त होने पर भारत की आर्थिक हालत बहुत ही नाजुक हो गयी और वह आसमान को छूने वाले मुद्रा-प्रसार, महंगाई और आम तबाही का शिकार हो गया।

८. साम्राज्यवादी और भारतीय इजारेदारों का गठबंधन

भारत में साम्राज्यवादी नीति का सदा यही उद्देश्य रहा है कि किसी तरह यहां अंग्रेजों के साम्राज्यवादी स्वार्थों को कायम रखा जाय, उनकी रक्षा की जाय, तथा उनको और मजबूत बनाया जाय। भारत में अंग्रेजों ने अभी तक जितनी वैधानिक योजनाएं चालू की हैं या राजनीतिक पैंतरे चले हैं, सबका मुख्य उद्देश्य यही था। यहां तक कि सबसे बाद में १९४७ का जो माउंटबैटन-समझौता हुआ और भारत तथा पाकिस्तान के डोमीनियनों की जो स्थापना हुई, यदि उसके पीछे छिपे हुए वास्तविक आर्थिक सम्बन्धों का अध्ययन किया जाय, तो पता चलेगा कि भारत संघ और पाकिस्तान की दिखावटी आजादी की आड़ में दरअसल ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने अपने आर्थिक प्रभुत्व को कायम रखने का प्रयास किया है और ऐसी व्यवस्था की है जिसमें वह भारत के आर्थिक विकास पर नियंत्रण रख सके और साम्राज्यवाद के हितों में उसे रोक सके।

लेकिन दूसरे महायुद्ध के बाद जो नाजुक जमाना आया, उसमें साम्राज्यवाद की मूल नीति को न सिर्फ राजनीतिक क्षेत्र में, बल्कि आर्थिक क्षेत्र में भी नये रूपों और तरीकों की तलाश करनी पड़ी। अब आर्थिक परिस्थितियों में बड़ा परिवर्तन हो गया था। खास तौर पर, ब्रिटिश पूंजीवाद पहले से बहुत कमजोर हो गया था। अमरीकी पूंजीवाद बड़े हमलावर ढंग से बढ़ा चला आ रहा था। और भारतीय पूंजीपति वर्ग की ताकत में भी, बहुत नीचे स्तर पर ही सही, कुछ इजाफा हो गया था। इन बदली हुई परिस्थितियों में साम्राज्यवादी नीति में भी परिवर्तन करना आवश्यक था। इसलिए, साम्राज्यवाद के हितों की रक्षा करने के वास्ते भारत के आर्थिक विकास पर लगाम कड़ी रखने और उसे रोकने की नीति, युद्ध के बाद के काल में नये ढंग से और नयी शक्ल में लागू की गयी। इन नये रूपों का सबसे अच्छा उदाहरण भारतीय कारखानेदारों के साथ किये गये वे सौदे हैं जिनके द्वारा मिली-जुली भारतीय-अंग्रेजी और भारतीय-अमरीकी कम्पनियां खोलने की व्यवस्था की गयी है।

भारतीय इजारेदारों (एकाधिकारी पूंजीपतियों) और साम्राज्यवादी इजारेदारों के बीच विरोध की आज भी बहुत सी बातें हैं। लेकिन, इसके बावजूद सबसे ताकतवर साम्राज्यवादी इजारेदारों और प्रमुख भारतीय इजारेदारों के बीच किसी माने में गठबंधन भी कायम हो गया है। यह गठबंधन बराबरी के आधार पर नहीं हुआ है, बल्कि उसमें भारतीय इजारेदारों की हैसियत नीची रखी गयी है। और इस गठबंधन के भीतर भी विरोध कायम है। लेकिन साथ ही, इस गठबंधन से यह भी प्रकट होता है कि व्यवसाय के क्षेत्र में दोनों

पक्षों के बीच समझौता हो गया है और राजनीतिक क्षेत्र में दोनों ने मिलकर उभरते हुए जन-विद्रोह को दबाने का निश्चय कर लिया है। बड़े पूंजीपतियों के बीच इस तरह के सौदे १९४५ से ही शुरू हो गये थे। इनसे वह आर्थिक पृष्ठभूमि तैयार हुई जिसमें नये वैधानिक समझौते किये गये और भारत तथा पाकिस्तान के डोमीनियनों की स्थापना हुई।

युद्ध से हालांकि भारतीय जनता की गरीबी और मुसीबत बहुत बढ़ गयी, लेकिन उससे पूंजीपतियों के ऊपर के स्तर का बड़ा फायदा हुआ। बड़े-बड़े व्यापारियों, सौदागरों, ठेकेदारों और कारखानेदारों की दौलत हद से ज्यादा बढ़ गयी। लड़ाई के कारण उन्होंने बेशुमार मुनाफे कमाये। युद्ध के खत्म होते-होते भारत के पूंजीपति वर्ग के पास विशाल परिमाण में पूंजी इकट्ठा हो गयी थी; लेकिन पूंजी के इस संचय का आधार यह नहीं था कि युद्ध-काल में भारत की उत्पादक शक्तियों का बहुत विकास हुआ हो, या कोई खास औद्योगिक उन्नति हुई हो। इसलिए युद्ध समाप्त होने पर भारतीय पूंजीपति वर्ग की इस मांग ने हद से ज्यादा जोर पकड़ लिया कि भारत का औद्योगीकरण होना चाहिए और पूंजीपतियों को अपनी पूंजी लगाने के नये मौके मिलने चाहिए। भारत का बड़े पैमाने पर औद्योगिक विकास करने के लिए अनेक गैर-सरकारी योजनाएं तैयार की गयीं। इनमें सबसे प्रसिद्ध वह योजना है जिसे टाटा गुट के प्रतिनिधियों और दूसरे बड़े पूंजीपतियों ने पेश किया था, और जो आम तौर पर बम्बई-योजना कहलाती है। अपनी अनेक कमजोरियों के बावजूद इस योजना ने सारे देश का ध्यान अपनी ओर खींचा, क्योंकि उसमें भारत के लोगों की अपने देश का औद्योगीकरण करने की जबर्दस्त इच्छा झलकती थी।

अतएव, साम्राज्यवाद ने नये युग के अनुरूप अपने को ढालने का प्रयत्न किया। अब भारत में ब्रिटिश स्वार्थों की रक्षा करने का एक यही तरीका था कि भारत के बड़े पूंजीपति वर्ग से समझौता कर लिया जाय। अब भारतीय औद्योगीकरण पर बाहर से नहीं, बल्कि अन्दर से हमला करने के लिए तैयारी आवश्यक थी। अब केवल भारतीय इजारेदारों की मदद से ही भारत को अंग्रेजी माल के बाजार के रूप में सुरक्षित रखा जा सकता था।

सर आर्किबाल्ड रोलैंड्स ने कहा कि भारत और ब्रिटेन के राजनीतिक सम्बन्ध भविष्य में कैसे भी रहें, यह दोनों के हित में है कि "उद्योग-धंधों, व्यापार तथा संस्कृति के क्षेत्रों में उनके संबंध को पहले से अधिक घनिष्ठ बनाया जाय।" लार्ड वेवेल ब्रिटेन के पूंजीपतियों को यह आश्वासन देते थे कि १९३५ के इंडिया ऐक्ट में "व्यापारिक हितों की सुरक्षा" की जो धाराएं हैं, वे हटायी नहीं जायेंगी। उसके साथ-साथ उन्होंने यह मत भी प्रकट किया कि भविष्य

में अंग्रेजों के आर्थिक हितों की पूर्ण सुरक्षा का सबसे अच्छा उपाय यह है कि भारत और ब्रिटेन के पूंजीपति साझे में व्यवसाय करें।

१९४५ के बाद से ही भारतीय तथा अंग्रेज इजारेदारों के बीच, और भारतीय तथा अमरीकी इजारेदारों के बीच भी, बहुत से सौदे होते आये थे। जून १९४५ में बिड़ला ब्रदर्स लिमिटेड और इंगलैंड के नफील्ड गुट के बीच एक समझौता हुआ। दिसम्बर १९४५ में टाटा गुट और इम्पीरियल कैमिकल इंडस्ट्रीज के बीच इसी तरह का एक समझौता हुआ। बिड़ला-स्टूडेबेकर समझौते, बालचन्द्र-क्राइस्लर समझौते और नेशनल रेयोन कार्पोरेशन की स्थापना के रूप में इसी प्रकार भारतीय और अमरीकी पूंजीपतियों के साझे में व्यवसाय करने की व्यवस्था की गयी।

भारत के बड़े और मझोले दर्जे के पूंजीपतियों के साथ इस तरह के सौदे करने के अलावा, अंग्रेज साम्राज्यवादियों ने योजना बनायी थी कि वे भारत के तानाशाही देशी राज्यों का विकास भविष्य के अपने मुख्य अड्डों के रूप में करेंगे। अप्रैल १९४५ में भारत सरकार ने अपनी औद्योगिक नीति के बारे में जो वक्तव्य निकाला था, उसमें देशी राज्यों के औद्योगिक विकास के लिए विशेष व्यवस्था की गयी थी। भारतीय नरेन्द्र-मंडल के मंत्री मीर मकबूल अहमद ने कहा था : "देशी रियासतों का विकास करने के मामले में भारतीयों और अंग्रेजों के साझे में काम करने की बड़ी सम्भावनाएं हैं।"

कई देशी रियासतें मैदान में आ भी गयी थीं और उन्होंने अंग्रेज पूंजी-पतियों से साझा कर लिया था। हैदराबाद राज्य ने अपनी गोदावरी घाटी योजना का ऐलान किया था। उसमें लगने वाली कुल पूंजी का ४० से लेकर ७० प्रतिशत तक भाग अंग्रेजों ने देने को कहा था। त्रावणकोर राज्य के रेत में बहुमूल्य थोरियम बहुत मिलता है। उसने थोरियम के विकास का पूरा अधिकार एक अंग्रेज कम्पनी के हाथों बेच दिया।

इस प्रकार, साम्राज्यवाद यह कोशिश कर रहा था कि भारत की धरती में अंग्रेजी बैंक-पूंजी की जड़ें और भी गहरे तक पहुंचा दे ताकि भारत में उसका भविष्य पूर्णतया सुरक्षित हो जाय। भारतीय उद्योगपतियों से समझौता करके इस बात की व्यवस्था की जा रही थी कि भारत में लगी हुई ब्रिटिश पूंजी हमेशा सुरक्षित रहे, और श्री घनश्यामदास बिड़ला ने, जो भारत के सबसे बड़े इजारेदारों में गिने जाते हैं, कहा था : "मैं नहीं समझता कि कभी ब्रिटिश पूंजी जब्त की जायगी। अंग्रेजी कम्पनियां इसी तरह काम करती रहेंगी।"

लेकिन इन सौदों और समझौतों से भारत का औद्योगीकरण हरगिज नहीं हो सकता था। जैसा कि बिड़ला तथा नफील्ड और टाटा तथा इम्पीरियल कैमिकल इंडस्ट्रीज के दो महत्वपूर्ण सौदों की शर्तों से बिलकुल साफ है, साझे

की इन दो कम्पनियों के बनने के फलस्वरूप भारत में बुनियादी और भारी उद्योग नहीं खुलेंगे, रासायनिक पदार्थ एक अनिश्चित समय तक इंगलैंड में ही बनते रहेंगे और एक भारतीय कम्पनी के नाम से भारतीय जनता के हाथ बेचे जायेंगे। इसी प्रकार, भारत में केवल ब्रिटेन में बने औजारों और पुर्जों को जोड़ने के वर्कशाप खोले जायेंगे। जैसा कि २७ दिसम्बर, १९४५ को बाम्बे क्रानिकल ने एक सम्पादकीय लेख में कहा था : (इस तरह भारत में) "एक नये प्रकार के स्थिर स्वार्थ पैदा हो जायेंगे, जो इस देश का अच्छी तरह औद्योगीकरण करने के रास्ते में भारी रुकावटें डालेंगे।"

भारतीय और अंग्रेज इजारेदारों के बीच इस तरह के आर्थिक समझौते १९४५ में ही बड़े पैमाने पर होने शुरू हो गये थे। १९४६ में इन सौदों से मिलता-जुलता जो राजनीतिक समझौता हुआ और आगे चलकर १९४७ में भारत और पाकिस्तान के डोमीनियनों की जो स्थापना हुई, उसके लिए इन आर्थिक समझौतों ने एक महत्वपूर्ण पृष्ठभूमि का काम किया था। बड़े-बड़े भारतीय और साम्राज्यवादी इजारेदारों के बीच आंशिक सहयोग के इन समझौतों का आगे चलकर किस तरह विकास हुआ, यह नयी डोमीनियन सरकारों की आर्थिक नीति के रूप में देखा जा सकता है; और यह इस बात में भी देखा जा सकता है कि इन सरकारों के संरक्षण में अंग्रेजी तथा अमरीकी पूंजी बढ़ती हुई तेजी के साथ भारत और पाकिस्तान में प्रवेश कर रही है।

९. भारत में साम्राज्यवाद का परिणाम

जब मार्क्स ने यह कहा था कि ब्रिटिश शासन भारत में "एक सामाजिक क्रांति का कारण बनेगा," तब उनका मतलब एक दोहरी क्रिया से था। एक तो पुरानी समाज-व्यवस्था के विनाश की क्रिया; दूसरी, नयी समाज व्यवस्था के लिए भौतिक आधार तैयार करने की क्रिया। ये दोनों क्रियाएं आज भी जारी हैं, हालांकि आधुनिक साम्राज्यवाद की नयी मंजिलों की विशेषताओं के सामने उनका महत्व फीका पड़ गया है। आधुनिक साम्राज्यवाद की नयी मंजिलें उस पुरानी क्रिया से ही पैदा हुई हैं। हाथ से चलने वाले पुराने उद्योगों के चौपट हो जाने का एक नतीजा आज भी इस शक्ल में देखा जा सकता है कि औद्योगिक मजदूरों की संख्या बराबर कम होती जा रही है। आधुनिक उद्योग-धंधों का प्रारम्भिक विकास हुआ है, मगर बहुत ही धीरे-धीरे।

लेकिन आज इसी क्रिया के जारी रहने के फलस्वरूप एक नयी परिस्थिति पैदा हो गयी है। भारत में उत्पादक शक्तियों के बड़े पैमाने पर विकास करने

और आधुनिक स्तर तक पहुंचने के लिए परिस्थितियां परिपक्व हो गयी हैं। पहले भारत में अंग्रेजों के पूंजीवादी प्रभुत्व ने अनजाने में एक क्रांतिकारी भूमिका अदा की थी। पर अब क्रांतिकारी भूमिका की बात तो दूर रही आधुनिक साम्राज्यवाद उत्पादक शक्तियों के विकास के रास्ते में सबसे बड़ी रूकावट बन गया है और भारत की प्रतिक्रियावादी आर्थिक तथा सामाजिक शक्तियों के साथ जुड़ गया है।

इसलिए, आधुनिक काल में भारतीय समाज की सभी प्रगतिशील शक्तियां साम्राज्यवाद को अपना मुख्य शत्रु मानती हैं और उसके खिलाफ विद्रोह करने के लिए तथा उस दकियानूसी आर्थिक व्यवस्था को खत्म करने के लिए, जिसे साम्राज्यवाद ने कायम रख छोड़ा है और जिसकी वह हिफाजत करता है, एक अधिकाधिक शक्तिशाली राष्ट्रीय आन्दोलन में एकजुट हो रही हैं। यह संघर्ष खेती के संकट के रूप में प्रकट होता है, जो इस बात का मापदन्ड है कि साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था कितनी दिवालिया हो गयी है, और जो निर्णायक परिवर्तन के लिए प्रेरक शक्ति का काम करता है।

अध्याय ७

खेती का संकट

भारत की मौजूदा समाज-व्यवस्था, जो साम्राज्यवादी शासन के अन्तर्गत विकसित हुई है, जनता के जीवन के लिए गला घोंटने वाला शिकंजा बन गयी है। इस व्यवस्था की नींव का पता लगाने के लिए खेती के सम्बन्धों के क्षेत्र में चलना होगा। परिवर्तन की अत्यंत शक्तिशाली प्रेरक शक्तियां भी इसी क्षेत्र में पैदा हो रही हैं और बल-संचय कर रही हैं। ये शक्तियां मौजूदा समाज-व्यवस्था को बदल डालेंगी और एक नयी व्यवस्था के लिए रास्ता खोल देंगी। लेकिन खेती की समस्या को देश की साधारण अर्थव्यवस्था से अलग करके उसका अध्ययन नहीं किया जा सकता। जब १९२६ में खेती की जांच करने के लिए एक शाही कमीशन नियुक्त किया गया, तो ब्रिटिश सरकार ने अपनी हिदायतों में उसे यह चेतावनी दी थी कि "भूमि के स्वामित्व तथा जोतों की मौजूदा व्यवस्था के विषय में, अथवा मालगुजारी तथा आबपाशी के बन्दोबस्त की मौजूदा प्रणाली के बारे में कोई सिफारिश करना कमीशन के क्षेत्र के बाहर होगा।" यह तो वैसे ही हुआ जैसे हैम्लेट नाटक से डेनमार्क के राजकुमार को निकाल दिया जाय।

खेती के मौजूदा संकट के पीछे जो बुनियादी सवाल काम कर रहे हैं, वे इस प्रकार हैं :

(१) खेती पर आबादी का जरूरत से ज्यादा दबाव, क्योंकि लोगों के लिए दूसरे सब आर्थिक रास्ते बन्द हैं;

(२) जमीन के इजारे का असर और किसानों पर जो तरह-तरह के बोझे लदे हुए हैं, उनका प्रभाव;

(३) खेती के कौशल का नीचा स्तर और उसके विकास को रोकने वाले कारण;

(४) औपनिवेशिक तथा अर्द्ध-औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था की परिस्थितियों के कारण खेती में ठहराव आ जाना और उसका पतन होने लगना;

(५) किसानों की अधिकाधिक तेजी से बढ़ती हुई गरीबी, जोतों का छोटे-छोटे टुकड़ों में बंटते जाना, और आम पैमाने पर किसानों के खेतों का उनके हाथों से निकलते जाना;

(६) इस सबके परिणामस्वरूप किसानों में वर्ग-भेदों का बढ़ना और उसके कारण किसानों की एक बढ़ती हुई संख्या का, जो कहीं-कहीं तो एक-तिहाई से लेकर आधी तक पहुंच जाती है, भूमिहीन सर्वहारा की हालत में पहुंच जाना।

इन तमाम कारणों का अध्ययन करके ही खेती के संकट का कोई हल निकाला जा सकता है।

१. खेती पर जरूरत से ज्यादा दबाव

भारत में आबादी का अधिकतर भाग खेती पर निर्भर करता है; मगर पश्चिमी योरप के उन देशों में, जहां काफी औद्योगीकरण हो चुका है, बिल्कुल दूसरी हालत है। अक्सर इस फर्क को इस तरह पेश किया जाता है जैसे यह कोई प्राकृतिक घटना हो; इससे भारतीय समाज के पिछड़े हुए स्वरूप का प्रमाण मिलता है, और इसलिए जिसकी वजह से हमारे लिए यह जरूरी हो जाता है कि इस समाज में किसी परिवर्तन का सुझाव देने के पहले खूब सोच-समझ लिया जाय।

इसका सबसे अच्छा उदाहरण १९१८ की मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट का यह अंश है : "यदि पूरे भारत को लिया जाय तो २२ करोड़ ६० लाख आदमी धरती के सहारे जीते हैं, और २० करोड़ ८० लाख प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से, अपनी या औरों की जमीन को जोत-बोकर जीविका कमाते हैं।" १९३० की साइमन कमीशन की रिपोर्ट में ऊपर का यह अंश उद्धृत करने के बाद यह आशाजनक निष्कर्ष निकाला गया था कि इस कारण परिवर्तन "सचमुच बहुत ही धीरे-धीरे होना चाहिए।"

साम्राज्यवाद परिस्थिति का सदा यही भोंडा चित्र पेश करता है। उससे यह बात कभी प्रकट नहीं होने पाती कि आबादी के तीन चौथाई भाग के एकमात्र धंधे के रूप में खेती पर आज जो हद से ज्यादा बढ़ा हुआ, असंतुलित और अपव्ययी दबाव दिखाई देता है, वह इस पैमाने पर केवल आधुनिक काल में ही दिखाई पड़ा है और सीधे-सीधे साम्राज्यवादी शासन का परिणाम है। अंग्रेजी राज्य में आबादी का खेती पर निर्भर करने वाला भाग बराबर बढ़ता गया है। यह इस बात का सूचक है कि साम्राज्यवाद के आने के पहले उद्योग-

धंधों और खेती के बीच जो संतुलन था, वह नष्ट हो गया है और भारत साम्राज्यवाद का खेतिहर पिछलग्गू बनकर रह गया है।

असली चित्र पिछले पचास वर्षों की जनगणना की सरकारी रिपोर्टों में मिलता है। १८९१ में आबादी का ६१.१ प्रतिशत भाग खेती पर निर्भर था; १९०१ में ऐसे लोगों की संख्या ६६.५ प्रतिशत हो गयी, १९११ में ७२.२ प्रतिशत और १९२१ में ७३.० प्रतिशत। १९३१ की जनगणना में ऐसे लोगों की संख्या ६५.६ प्रतिशत दिखायी गयी है। लेकिन संख्या सचमुच कम नहीं हुई थी, केवल वर्गीकरण के तरीके में थोड़ा परिवर्तन हो जाने से यह दिखावटी कमी हो गयी थी। और १९३१ की जनगणना के बाद सरकारी संख्या फिर बढ़ गयी और १९५१ में ६५.६ से बढ़कर ६९.८ हो गयी।

खेती पर इस तरह दबाव बढ़ने के साथ-साथ, उन लोगों की संख्या कम होती गयी है जो उद्योग-धंधों पर निर्भर करते हैं। ऐसे लोगों की संख्या १९११ में कुल आबादी की ५.५ प्रतिशत थी; वह १९३१ में ४.३ प्रतिशत रह गयी। १९४१ में लड़ाई का जमाना होने के कारण वह थोड़ी बढ़ गयी थी और ५.१ प्रतिशत हो गयी थी, लेकिन १९५१ में फिर ४.६ प्रतिशत रह गयी। १९११ में अविभाजित भारत की आबादी ३१ करोड़ ५० लाख थी। उसमें से १ करोड़ ७५ लाख आदमी उद्योग-धंधों में काम करने वाले मजदूर थे, जबकि १९५१ में भारत संघ की आबादी ३५ करोड़ ३० लाख हो जाने पर भी वहां केवल १ करोड़ ६७ लाख मजदूर उद्योग-धंधों में काम करते थे। इससे पता चलता है कि "अनुद्योगीकरण" की सत्यानाशी प्रक्रिया अब भी जारी है। अर्थात, हाथ से चलने वाले पुराने उद्योग-धंधे नष्ट हो गये हैं, लेकिन उनकी जगह लेने लायक आधुनिक उद्योगों का विकास नहीं हुआ है, जिसके फलस्वरूप खेती पर आबादी का दबाव बराबर बढ़ता जा रहा है।

इसके साथ ही खाने-पीने की चीजों की फसलों के मुकाबले देश से बाहर जाने वाली अन्य चीजों की फसलों की पैदावार बढ़ गयी है। १८९२-९३ और १९१९-२० के बीच खाने-पीने की चीजों की फसलों के रकबे में केवल ७ प्रतिशत की बढ़ती हुई, जबकि अन्य चीजों की फसलों का रकबा इसी अरसे में ४३ प्रतिशत बढ़ गया।

२. खेती पर जरूरत से ज्यादा दबाव के नतीजे

खेती पर दबाव बढ़ जाने का यह मतलब होता है कि भारत की मौजूदा पिछड़ी हुई खेती को एक बढ़ती हुई आबादी के हर बरस पहले से अधिक बड़े भाग को जीविका के साधन देने पड़ते हैं।

दूसरी ओर, जमीन के इजारे तथा किसानों की पीठ पर लदे हुए शोषण के असहनीय बोझ के कारण खेती का विकास ऐसे बंधनों में जकड़ कर रह गया है जो खेती का गला घोंटे डाल रहे हैं, और इस कारण मौजूदा ढंग की खेती बढ़ती हुई आबादी की इस बढ़ती हुई मांग को पूरा करने में अधिकाधिक असमर्थ होती जाती है।

इसी भंवर में फंसकर भारत की खेती दम तोड़ रही है। खेती के बढ़ते हुए संकट के पीछे यही चीज है। इसी का परिणाम हो रहा है कि खेती के विकास में ठहराव आ गया है; यहां तक की खेती पर लदे हुए असहनीय बोझ के कारण पैदावार के वर्तमान स्तर के भी गिरने के चिन्ह दिखाई दे रहे हैं, और खेती करने वालों की हालत तबाह और बर्बाद होती जा रही है।

खेती पर बढ़ते हुए दबाव का यह मतलब होता है कि हर खेती करने वाले को जितनी जमीन मिल सकती है, उसमें बराबर कमी आती जा रही है। १९११ में सर थॉमस होल्डरनेस्स ने लिखा था :

> "भारत की जमीन न सिर्फ इस बड़ी भारी आबादी को भोजन देती है, बल्कि उसके एक काफी बड़े हिस्से को उन चीजों की पैदावार के लिए अलग कर दिया गया है जो देश के बाहर भेजने के लिए बोयी जाती है...। इस तरह इस्तेमाल होने वाली जमीन को घटाने पर जो जमीन बचती है...हम देखेंगे कि वह भारत की कुल आबादी के बीच $\frac{3}{4}$ एकड़ फी आदमी से ज्यादा नहीं पड़ती। इसलिए, $\frac{3}{4}$ एकड़ फी आदमी से जो कुछ पैदा हो पाता है, उसी से भारत की आबादी को भोजन और कुछ हद तक कपड़ा भी मिलता है।"

खेती के जितने भी आंकड़े मिलते हैं, उनसे सारे भारत में जमीन पर अत्यधिक दबाव का ही चित्र सामने आता है। ये ऐसे तथ्य हैं जिनके महत्व से कोई इंकार नहीं कर सकता। उनसे जमीन के लिए भयानक भूख का—एक पुरानी और बराबर बढ़ती जाने वाली भूख का—परिचय मिलता है। ये सारे तथ्य केवल एक दिशा में इंगित करते हैं और यह वही दिशा है जिसकी ओर रूस की खेती के इसी प्रकार के तथ्य इंगित करते थे।

३. खेती में ठहराव और खेती का पतन

किन्तु समस्या यह नहीं है कि भारत में जमीन की ऐसी कमी है जो किसी हालत में और कभी भी पूरी हो ही नहीं सकती। भारत में जमीन की जो कमी मालूम पड़ती है, वह इस कारण पैदा हुई है कि आज भी खेती के लायक जितनी जमीन मौजूद है, उसका पूरा-पूरा उपयोग नहीं किया जाता। इसकी

वजह है—विविध बन्धन और विकास की तरफ लापरवाही। दूसरे, यह कमी इस कारण पैदा हुई है कि जिस जमीन पर खेती होती भी है, उस पर उत्पादन का स्तर बहुत नीचा है। इसकी वजह है मौजूदा समाज-व्यवस्था के असह्य बोझ जिन्होंने खेती के कौशल को पंगु बना रखा है, और कौशल की उन्नति तथा बड़े पैमाने के संगठन के रास्ते में आने वाली अनेक बाधाएं।

भारतीय अर्थशास्त्री आर. के. दास ने १९३० में अनुमान लगाया था कि खेती लायक देश में जितनी जमीन है, उसका ७० प्रतिशत भाग बेकार पड़ा है और केवल ३० प्रतिशत भाग पैदावार के काम में लाया जाता है। "१९३९-४० में ब्रिटिश भारत में खेती का रकबा" शीर्षक सरकारी आंकड़ों से पता चलता था कि उस साल देश में कुल ३५ करोड़ ५० लाख एकड़ जमीन ऐसी थी जिस पर खेती हो सकती थी; लेकिन उसमें से केवल ५९ प्रतिशत जमीन पर ही फसल बोयी गयी थी, १३.२ प्रतिशत जमीन को जोतकर बिना बोये छोड़ दिया गया था, और २७·३ प्रतिशत खेती के योग्य होने पर भी एकदम बेकार पड़ी थी। १९४९-५० के भारत संघ के आंकड़े बताते हैं कि जंगलों को छोड़ देने पर देश में जमीन का कुल रकबा ७१ करोड़ एकड़ था; उसमें से २८ करोड़ ३० लाख एकड़, यानी ४० प्रतिशत पर फसल बोयी गयी थी, ५ करोड़ ९० लाख एकड़, यानी ८ प्रतिशत को जोतकर बिना बोये छोड़ दिया गया था, और २३ करोड़ ३० लाख, यानी ३३ प्रतिशत जमीन एकदम खाली पड़ी थी, जिसे जोता भी नहीं गया था।

यह कैसी जमीन थी "जो एकदम खाली पड़ी थी" और "जिसे जोता भी नहीं गया था," और क्या कारण था जो उस पर खेती नहीं की गयी? इस प्रश्न का उत्तर सर जेम्स केर्ड की रिपोर्ट ने १८७९ में ही दे दिया था। उसमें कहा गया था: "देश के विभिन्न हिस्सों में ऐसी बहुत सी अच्छी जमीन बेकार पड़ी है जिस पर जंगल लगे हुए हैं और जिसे साफ करके खेती के योग्य बनाया जा सकता है। लेकिन इसके लिए पूंजी की दरकार होगी और लोगों के पास बहुत कम पूंजी है जो ऐसे कामों में लगा सकें।"

यह काम तो केवल एक सामूहिक संगठन ही कर सकता है और वह भी सरकारी मदद से। लेकिन साम्राज्यवाद ने इस जिम्मेदारी को कभी महसूस नहीं किया। शुरू में ब्रिटिश सरकार ने सिंचाई तथा सार्वजनिक निर्माण के कार्यों की ओर जो लापरवाही दिखायी थी, उसके लिए वह काफी कुख्याति प्राप्त कर चुकी है और मार्क्स ने तो बहुत दिन पहले उसका उल्लेख किया था। उन्होंने लिखा था: "भारत में अंग्रेजों ने अपने पूर्वाधिकारियों से विरासत में मिले अर्थ तथा युद्ध विभागों की जिम्मेदारी तो

अपने ऊपर ओढ़ी, मगर सार्वजनिक निर्माण के कार्यों की जिम्मेदारी की तरफ उन्होंने एकदम लापरवाही बरती। खेती के पतन का यही कारण था...।" १८३८ में जी. थाम्पसन ने, १८५४ में सर आर्थर कौटन ने, १८५८ में मौंटगोमरी मार्टिन ने और १८५८ में ही जॉन ब्राइट ने सार्वजनिक निर्माण के कार्यों के प्रति ईस्ट इंडिया कम्पनी की उदासीनता का उल्लेख किया था।

कोई यह न सोचे कि यह उदासीनता और लापरवाही केवल पुराने जमाने में ही दिखाई गयी थी और बाद के काल में अंग्रेजों का रुख यह नहीं रहा था। इसलिए, यहां बंगाल के सिंचाई-विभाग की समिति की १९३० की रिपोर्ट का उल्लेख कर देना अनुचित न होगा जिसमें साफ-साफ कहा गया था कि इस प्रान्त के आर्थिक जीवन के लिए नहरों और नदियों का बहुत ही निर्णायक महत्व है, लेकिन उनकी ओर जो लापरवाही दिखाई गयी है, उससे हालत इतनी बिगड़ गयी है कि "अब उसे सम्हाला नहीं जा सकता और यह इलाका लाजमी तौर पर धीरे-धीरे दलदल और जंगल में बदल जायगा।" १९३१ में पानी के प्रमुख इंजीनियर, सर विलियम विलकौक्स ने बंगाल की सिंचाई-व्यवस्था की बिगड़ी हुई हालत पर जो मत प्रकट किया था, वह भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। उन आधुनिक प्रशासकों और अफसरों की सर विलियम विलकौक्स ने सख्त आलोचना की है, जो "हर मुमकिन मौके पर विशेषज्ञों से सलाह लेने तो बैठ जाते हैं, पर जिन्होंने इस सत्यानाशी परिस्थिति में सुधार करने के लिए—जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी बिगड़ती ही जा रही है—कुछ भी नहीं किया है।"

इसलिए, सरकारी लापरवाही और उसके फलस्वरूप हालत का बराबर बिगड़ते जाना—यह अंग्रेजी राज के केवल पहले डेढ़ सौ बरसों के पुराने इतिहास की ही विशेषता नहीं है। आधुनिक काल में भी यह बात बदस्तूर जारी रही है। १९३० की एक सरकारी रिपोर्ट के शब्दों में "जमीन खेती से निकलती जा रही थी"—और यह ठीक उस वक्त हो रहा था जब कि देश में जमीन की भयानक कमी थी और जितनी जमीन पर खेती हो रही थी उसके लिए किसानों में भयंकर छीना-झपटी चलती थी।

गांवों में जरूरत से ज्यादा भीड़ लगा कर खेती करने वाले भारतीय किसानों को न सिर्फ खेती के लायक जमीन के केवल दो-तिहाई भाग पर ही अपनी फसलें पैदा करनी पड़ती हैं, बल्कि इस सीमित रकबे की खेती में भी समाज की परिस्थितियों, किसानों पर लदे कमरतोड़ बोझ, उनकी हद दर्जे की गरीबी और पिछड़े हुए कौशल का यह मतलब होता है कि उस देश में—जहां जमीन के सहारे जीने वालों की संख्या सभी देशों से अधिक है—पूरी अर्थ-व्यवस्था के असंतुलन के कारण, उत्पादन का स्तर अन्य किसी भी देश से नीचा है। १९४५ में भारत में गेहूं की उपज फी एकड़ केवल ६७१ पाउंड (अर्थात

लगभग ८ मन १५½ सेर) थी, जब कि उसी वर्ष अमरीका में गेहूं की उपज फी एकड़ १,०३३ पाउंड (अर्थात लगभग १३ मन) और फ्रांस में फी एकड़ १,००६ पाउंड (अर्थात लगभग साढ़े १२ मन) थी। भारत में (बर्मा के साथ) धान की पैदावार फी एकड़ ८०५ पाउंड (अर्थात लगभग १० मन २½ सेर) थी, जब कि उसी साल अमरीका में फी एकड़ १,४८२ पाउंड (अर्थात लगभग १८ मन २१ सेर) और जापान में २,३०७ पाउंड (अर्थात लगभग २८ मन ३८½ सेर) की उपज हुई थी। खेती पर आबादी का जबर्दस्त दबाव और कौशल का पिछड़ापन श्रम के भयानक अपव्यय के रूप में प्रकट होते हैं। भारत में २.६ एकड़ जमीन के पीछे एक आदमी खेती करने में लगा हुआ है, जब कि ब्रिटेन में १७.३ एकड़ और जर्मनी में ५.४ एकड़ के पीछे एक आदमी खेती का काम करता है।

लेकिन भारत में कम उपज होने का कारण यह नहीं है कि यहां की धरती प्राकृतिक रूप से ही कम उपजाऊ है। १९३१ की भारतीय सेंट्रल बैंकिंग जांच कमिटी ने अपनी रिपोर्ट (मैक्डूगल स्मृतिपत्र) में लिखा है: "कहा जाता है कि भारत की धरती कुदरती तौर पर कम उपजाऊ है। यह बात सही नहीं है। वह कम उपजाऊ हो गयी है, पहले से ऐसी नहीं थी।" इसके अलावा, इसी स्मृतिपत्र में यह भी कहा गया है कि यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि "भारत में जमीन के एक हिस्से पर हर साल दो फसल लगायी जाती है...। इससे जो फायदा होता है उससे सूखे से होने वाला नुकसान पूरा हो जाना चाहिए...। अतः ग्रामीण भारत की गरीबी के लिए यहां की धरती जिम्मेदार नहीं है।"

खेती का उत्पादन न सिर्फ आज बहुत नीचे स्तर पर है, बल्कि साम्राज्यवाद का पूरा इतिहास इस बात के प्रमाणों से भरा पड़ा है कि भारत की खेती की उत्पादन-शक्ति बराबर गिरती गयी है। यदि १९३६-३७ से लेकर १९३८-३९ तक का औसत निकाला जाय तो, दूसरे महायुद्ध के पहले भारत में अनाज की फी एकड़ उपज, ५७७ पाउंड (यानी, लगभग ७ मन साढ़े ८ सेर) थी; वह १९४४-४५ में ५३३ पाउंड (करीब ६ मन साढ़े २६ सेर) रह गयी; १९४९-५० में ५२० पाउंड (करीब ६ मन २० सेर) हो गयी; और १९५०-५१ में तो वह ४८० पाउंड (करीब ६ मन) पर पहुंच गयी।

इस तरह, यदि हम केवल आम परिस्थितियों को देखें और खेती की पैदावार की प्रवृत्तियों पर ही विचार करें, और आगे बढ़ते हुए सामाजिक विरोधों की ओर अभी ध्यान न दें, तो भी हर दृष्टिकोण से विकास के पूरे इतिहास से यही प्रकट होता है कि भारत की खेती का संकट दिन-ब-दिन अधिकाधिक गहरा होता जा रहा है। १९४७ के बाद हाल के जमाने में जो घटनाएं हुई हैं,

उन पर विचार करने पर भी यही पता चलेगा कि १९५१ के बाद पंचवर्षीय योजना के मातहत खेती की पैदावार में थोड़ी बढ़ती हो जाने के बावजूद, यह संकट हल होने से अभी बहुत दूर है, उल्टे और विकट रूप धारण करता जा रहा है।

इस बढ़ते हुए संकट का कारण प्राकृतिक परिस्थितियां नहीं हैं। न ही उसका कारण किसानों में कौशल अथवा क्षमता का अभाव है। जिन सीमाओं के भीतर उन्हें काम करना पड़ता है, उनको देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि भारतीय किसानों में इन गुणों का अभाव है। इस संकट का यह कारण भी नहीं है कि भारत के किसान स्वभाव से पिछड़े हुए हैं। नहीं; इस संकट का कारण साम्राज्यवादी शासन और वे सामाजिक संबंध हैं जिनको यह शासन कायम रखता है और जिनकी वजह से खेती पर आबादी का दबाव बढ़ता जाता है, जिनकी वजह से खेती के विकास में ठहराव आ गया है और उसका पतन होने लगा है, जिनके कारण अधिकतर किसानों को दिन-ब-दिन बढ़ती हुई परेशानी की जिन्दगी बितानी पड़ती है और आधा पेट खा कर रह जाना पड़ता है; और जिनके फलस्वरूप ऐसी परिस्थितियां पैदा हो गयी हैं जिनका एकमात्र परिणाम और एकमात्र हल समाज की जड़ों तक जाने वाली एक क्रान्ति ही हो सकती है। अब आवश्यक है कि खेती के इन सामाजिक सम्बन्धों पर विचार किया जाय। उनसे हमें पता चलेगा कि भारतीय क्रांति की कौन सी प्रेरक शक्तियां हैं।

अध्याय ८

किसानों पर बोझ

खेती की पैदावार में जो संकट दिखाई पड़ता है, वह खेती के सामाजिक सम्बन्धों के अन्दरूनी संकट का केवल बाहरी स्वरूप है।

साम्राज्यवादी शोषण की परिस्थितियों में तरह-तरह के छोटे मुफ्तखोरों की एक पूरी सेना तैयार हो जाती है, जो पूरी व्यवस्था पर निर्भर रहते हैं और उसके अभिन्न अंग बन जाते हैं। इसके परिणामस्वरूप न केवल किसानों पर लदा हुआ बोझा बढ़ता जाता है, बल्कि उनमें वर्ग-भेद भी बराबर बढ़ते जाते हैं और अधिकतर किसानों से उनके खेत छिनते जाते है। जिन किसानों से जमीन छिन जाती है उनकी हालत कम्मी या अर्द्ध-गुलाम किसान जैसी हो जाती है या फिर वे भूमिविहीन सर्वहारा की बढ़ती हुई सेना में भरती हो जाते हैं। यही वह क्रिया है जो आने वाले तूफान की सूचना दे रही है।

१. जमीन का इजारा

अंग्रेजी राज के पहले भारत में जो परम्परागत भूमि-व्यवस्था कायम थी, उसमें जमीन किसानों की समझी जाती थी और सरकार को उपज का एक हिस्सा मिल जाता था—जो हिन्दू राजाओं के राज में बारहवें भाग से ले कर छठे भाग तक हुआ करता था, और जिसे मुगल बादशाहों ने बढ़ाकर एक-तिहाई कर दिया था। जब मुगल साम्राज्य के खंडहरों पर अंग्रेजों ने अपने राज की इमारत खड़ी की, तो उन्होंने जमीन की आय से सरकारी खर्चा चलाने की प्राचीन पद्धति तो अपनायी, पर साथ ही उसका स्वरूप उन्होंने बदल दिया। और ऐसा करके दरअसल उन्होंने भारत की भूमि-व्यवस्था को ही बदल डाला। जिस समय उन्होंने शासन की बागडोर संभाली, उस समय तक भारत का पुराना शासन प्रबंध जर्जर और अव्यवस्थित हो चुका था।

उस समय किसानों को हद से ज्यादा चूसा और लूटा जाता था। लेकिन, फिर भी गांव की सामूहिक समाज-व्यवस्था और भूमि के साथ उसका परम्परागत सम्बन्ध, मोटे तौर पर उस वक्त तक नहीं टूटा था। किसानों को जो कुछ राज्य को देना पड़ता था, वह उस वक्त भी वार्षिक उपज का एक हिस्सा ही होता था; और पैदावार चाहे कम हो या ज्यादा, हर साल एक निश्चित जोत की एक निश्चित मालगुजारी देने की प्रथा अभी नहीं जारी हुई थी।

अव्यवस्था और अराजकता के असामान्य काल में किसानों को जिस बुरी तरह चूसा जाता था, वह नये विजेताओं को सामान्य ढंग मालूम पड़ा। उन्होंने समझा कि भारत में किसानों को कसकर चूसने का ही चलन है और उन्होंने इसी से शुरूआत की। उस काल के डॉ. बुकानन, बिशप हेबर, थॉम्पसन और गैरट जैसे लेखकों की रचनाओं से मालूम पड़ता है कि शुरू में नये शासकों में पहले से ज्यादा वसूल करके दिखाने की प्रवृत्ति काम कर रही थी, या शायद वसूलयाबी की पहले से अधिक कुशल और कारगर व्यवस्था के कारण किसान पहले से ज्यादा चूसे जाने लगे थे। १९२१ में डा. हैरोल्ड मैन्न ने दकन के एक गांव के हर तरह के आंकड़े जमा किये। उन्होंने पाया कि अंग्रेजों के पहले किसानों से ली जाने वाली मालगुजारी और अंग्रेजी राज कायम हो जाने के बाद ली जाने वाली मालगुजारी में बहुत फर्क है। उन्होंने लिखा: "अंग्रेजों द्वारा जीत लिये जाने के बाद (गांव की) हालत एकदम बदल गयी, जब कि १८२३ में २,१२१ रुपये की मालगुजारी वसूल की गयी जो न पहले कभी सुनी गयी थी, न देखी गयी थी, और गांव का खर्चा १८१७ का आधा रह गया।"

बंगाल में, मुगल बादशाह के प्रतिनिधियों के शासन का अंतिम वर्ष १७६४-६५ था। उस साल वहां ८१८,००० पौंड की मालगुजारी वसूल हुई थी। जब बंगाल की दीवानी ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथों में आयी तो उसने पहले साल ही, १७६५-६६ में मालगुजारी को बढ़ाकर १,४७०००० पौंड कर दिया। १७९३ में बंगाल में इस्तमरारी बन्दोबस्त हुआ। उस साल कम्पनी ने ३,०९१,००० की मालगुजारी वसूल की।

कम्पनी अपने पूरे राज से जो मालगुजारी वसूल करती थी, वह कुल मिलाकर १८००-०१ में ४२ लाख पौंड हुई थी और १८५७-५८ तक, जब भारत के शासन की बागडोर कम्पनी से लेकर खुद ब्रिटिश सरकार ने अपने हाथों में संभाली, वह बढ़कर १५३ लाख पौंड हो गयी थी (यह बढ़ती ज्यादातर इलाका बढ़ने से हुई थी, लेकिन साथ ही मालगुजारी की बढ़ी हुई दर भी उसका एक कारण थी)। ब्रिटिश सरकार के सीधे शासन में मालगुजारी की रकम बढ़कर १९००-०१ में १७५ लाख पौंड और १९११-१२ में २०० लाख पौंड हो गयी। १९३६-३७ में मालगुजारी २३९ लाख पौंड हो गयी थी।

आधुनिक काल में जमीन के जो बंदोबस्त हुए, उनके आंकड़ों को देखने पर लगेगा कि अंग्रेजी राज के शुरूआती जमाने के मुकाबले बाद में उपज का पहले से कम भाग किसान से लिया जाने लगा था। लेकिन उस वक्त तक शोषण के दूसरे तरीकों का महत्व इसी अनुपात में बढ़ गया था। पुराने जमाने के सीधे वसूल किये जाने वाले खिराज की जगह पर—जिसका कि मुख्य आधार किसानों से ली जाने वाली मालगुजारी थी—आधुनिक बंक-पूंजी के तरह-तरह के शोषण के रूपों का जाल देश में बिछ गया था और उसके कारण भारतीय अर्थव्यवस्था में छोटे मुफ्तखोरों की एक पूरी सेना पैदा हो गयी थी। फिर भी, आधुनिक काल में हर नये बंदोबस्त के समय मालगुजारी की दर को बढ़ा देने की ही प्रवृत्ति नजर आती है, जिसके फलस्वरूप जन-विद्रोह के आंदोलन जन्म लेते हैं। १९२८ में कांग्रेस के नेतृत्व में, नये बंदोबस्त के जरिये मालगुजारी बढ़ा देने के खिलाफ, बारदोली में ८७,००० किसानों का एक संयुक्त आंदोलन चला। इससे मजबूर होकर सरकार को यह मानना पड़ा कि मालगुजारी बढ़ाना अनुचित था और उसने उसकी दर और कम कर दी।

२. भूमि-व्यवस्था में रूपान्तर

शुरू के जमाने में मालगुजारी की दर में जो बढ़ती हुई, उससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह थी कि भारत के अंग्रेजों द्वारा जीत लिये जाने के बाद वहां की भूमि व्यवस्था में एक क्रांतिकारी परिवर्तन हो गया। अंग्रेजों के आने से पहले भारत में एक परम्परा थी कि साल भर की उपज का एक हिस्सा "राजा का भाग" माना जाता था जो साझे में खेती करने वाले किसान, जिनका जमीन पर संयुक्त स्वामित्व होता था, या अपने गांव का खुद प्रबंध करने वाला ग्रामीण समाज, खिराज या कर के रूप में शासक को दे देता था। सालाना पैदावार के घटने-बढ़ने के साथ "राजा का भाग" भी अपने आप घट-बढ़ जाता था। अंग्रेजों ने इस पुरानी परम्परा को खतम करके एक निश्चित नकद रकम के रूप में मालगुजारी लेना शुरू किया। यह रकम जमीन के हिसाब से तै की जाती थी, और साल भर में पैदावार चाहे कम हुई हो या ज्यादा, जो रकम पहले तय कर दी गयी थी वही वसूल की जाती थी। और ज्यादातर मालगुजारी अलग-अलग व्यक्तियों पर लगायी गयी थी, जो या तो खुद खेती करने वाले काश्तकार थे या सरकार द्वारा नियुक्त किये गये जमीदार थे। इसके बाद भी जो कसर बची थी, वह भारत

में इंगलैंड के ढंग की जमींदारी प्रथा और वहां की पूंजीवादी कानून व्यवस्था जारी करके पूरी कर दी गयी। यह भारी भरकम व्यवस्था भारत की अर्थ-व्यवस्था के लिए एक बिलकुल परदेशी चीज थी; और इस व्यवस्था को देश पर लागू करती थी एक ऐसी विदेशी नौकरशाही जो कानून बनाना, कानून लागू करना और न्याय करना, ये तीनों काम करती थी। इस परिवर्तन के द्वारा व्यवहार में अंग्रेज विजेताओं की हुकूमत का सारी जमीन पर अन्तिम अधिकार कायम हो गया और किसान महज दूसरे की जमीन पर लगान देकर खेती करने वाला बन गया। लगान न देने पर उसे जमीन से बेदखल किया जा सकता था। या, अंग्रेजी सरकार ने जमीनें कुछ ऐसे लोगों को दे दीं जिनको उसने जमींदार नामजद करना पसन्द किया। ये लोग भी सरकार की मर्जी से ही जमीन के मालिक थे और मालगुजारी न देने पर उनसे भी सारी जमीन छीन ली जा सकती थी। पुराने जमाने में अपना प्रबंध अपने आप करने वाले ग्रामीण समाज के पास अब न तो कोई शासन-संबंधी काम रह गया और न कोई आर्थिक काम। दोनों तरह के अधिकार उससे छीन लिये गये और जो जमीन पहले पूरे गांव की सामूहिक सम्पति समझी जाती थी, वह ज्यादातर अलग-अलग व्यक्तियों में बांट दी गयी।

इस प्रकार, औपनिवेशिक देशों में साम्राज्यवाद जो-जो काम करता है, वे सारे काम भारत में बड़ी बेरहमी के साथ और बड़े मुकम्मिल ढंग से किये गये। किसान जमीन के मालिक नहीं रहे, बल्कि लगान देकर दूसरे की जमीन पर खेती करने वाले काश्तकार बन गये; और जब यह क्रिया और आगे बढ़ी तो किसानों का एक बढ़ता हुआ हिस्सा भूमिहीन खेत मजदूरों में या ग्रामीण सर्वहारा के नये वर्ग में शामिल होता गया; और यहां तक कि खेती पर निर्भर रहने वाला आबादी का एक-तिहाई से ज्यादा भाग खेत-मजदूर बन गया। मार्क्स ने असल में इसी परिवर्तन की शुरू की मंजिलों का हवाला दिया था; जब उन्होंने इस बात पर जोर दिया था कि "इन छोटे-छोटे आर्थिक संगठनों को छिन्न-भिन्न करने के लिए अंग्रेजों ने भारत में शासकों और जमींदारों के रूप में अपनी प्रत्यक्ष राजनीतिक ताकत और आर्थिक ताकत दोनों का एक साथ इस्तेमाल किया।" इसके साथ मार्क्स ने यह फुटनोट भी जोड़ा था : "बंगाल में उन्होंने इंगलैंड की जमींदारी प्रथा की एक भोंडी नकल बड़े पैमाने पर खड़ी की, दक्षिण-पूर्वी भारत में उन्होंने लगान पर उठाये गये छोटे-छोटे खेतों की 'अलॉटमेंट प्रथा' जारी की और उत्तर-पश्चिम में उन्होंने भारतीय गांवों के पंचायती समाज को, जिसमें जमीन सब की साझे की सम्पति हुआ करती थी, इस तरह बदल डालने का प्रयत्न किया कि वह खुद अपना ही व्यंग-चित्र बन जाय।"

३. जमींदारी प्रथा का जन्म

पश्चिमी विजेताओं ने भारत में जमीन का बन्दोबस्त पहले-पहल इस तरह करने की कोशिश की कि इंगलैंड की जमींदारी प्रथा थोड़े परिवर्तित रूप में वहां जारी कर दी जाय। १७९३ में लार्ड कार्नवालिस ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा में जो मशहूर इस्तमरारी बन्दोबस्त किया था, वह इसी ढंग का था। बाद में, मद्रास प्रान्त के उत्तरी हिस्सों में भी इसी तरह का बन्दोबस्त किया गया। इन प्रान्तों में पहले से जमींदार चले आते थे, लेकिन वे जमीन के मालिक नहीं बल्कि कर या मालगुजारी वसूलने वाले सरकारी कर्मचारी थे। उन्हें इन प्रान्तों के पुराने शासकों ने नियुक्त किया था। जितनी मालगुजारी वे वसूल करते थे, उसके हिसाब से उन्हें उनका कमीशन या दलाली मिल जाती थी। अंग्रेजी सरकार ने इन जमींदारों को सदा-सदा के लिए जमीन का मालिक बना दिया और तै कर दिया कि उन्हें सदा एक निश्चित रकम ही सरकार को देनी पड़ेगी, जो कभी घटेगी-बढ़ेगी नहीं।

उस जमाने में ये शर्तें जमींदारों और काश्तकारों के लिए बहुत सख्त और तकलीफदेह लेकिन सरकार के लिए बहुत ही फायदेमन्द थीं। सरकार ने तय कर दिया था कि अब से बंगाल के जमींदार हर साल ३० लाख पौंड किसानों से वसूल करके उसे दिया करेंगे। पुराने शासकों के राज में जमींदार सरकार के लिए जो कुछ वसूल किया करते थे, उससे यह रकम बहुत ज्यादा थी। बहुत से पुराने जमींदार परिवारों ने इस नये जमाने में भी अपना पुराना ढंग बरतना चाहा और मुसीबत के वक्त किसानों पर कुछ रहम दिखाया और वसूली में उनके साथ ढिलाई की। ये लोग मालगुजारी की पहले से निश्चित रकम के बोझ को नहीं उठा सके और फौरन उनकी जमींदारियां नीलाम कर दी गयीं। और तब एक नयी तरह की जोंकों ने, धन के लोभी ऐसे व्यापारियों ने इन जमींदारियों को खरीद लिया जो किसानों की आखिरी छदाम तक छीन लेने के लिए नीच से नीच हथकंडों को इस्तेमाल करने में भी न हिचकिचाते थे। ऐसा था वह "भद्र जमींदारों" का नया वर्ग जिसे उत्पन्न करना इस्तमरारी बन्दोबस्त का प्रधान लक्ष्य था।

बाद को यह व्यवस्था उल्टी दिशा में काम करने लगी और उससे ऐसे नतीजे निकलने लगे जिनकी सरकार ने पहले कभी कल्पना भी न की थी। एक तरफ, मुद्रा का मूल्य गिर गया; दूसरी तरफ, जमींदार किसानों का लगान बराबर बढ़ाते गये। इन दोनों बातों का यह नतीजा हुआ कि इस लूट में सरकार का हिस्सा, जो हमेशा के लिए ३० लाख पौंड तय हो चुका था, जमींदारों के मुकाबले में बराबर गिरता गया और जमींदारों का हिस्सा बढ़ता गया।

जब से यह बात हुई, तब से बंगाल में इस्तमरारी बन्दोबस्त की हर ओर से आलोचना और बुराई होने लगी। न सिर्फ किसान, बल्कि जमींदारों को छोड़कर बाकी समस्त भारतीय जनता इस्तमरारी बन्दोबस्त का विरोध करने लगी, यहां तक कि खुद साम्राज्यवादी भी उसकी निन्दा करने लगे। साम्राज्यवाद के आधुनिक समर्थक यह सफाई देने की कोशिश करते हैं कि यह पूरा बन्दोबस्त गलती से हो गया था और गलती इसलिए हुई थी कि उस समय के अंग्रेज हाकिमों को यह नहीं मालूम था कि भारत में जमींदार लोग जमीन के मालिक नहीं थे। लेकिन यह परियों की कहानी सरासर झूठ है। उस जमाने की दस्तावेजों को देखने से यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है कि लार्ड कार्नवालिस और उस काल के दूसरे अंग्रेज राजनीतिज्ञों के दिमाग में यह बात बिलकुल साफ थी कि वे जमींदारों का एक नया वर्ग पैदा कर रहे हैं, और वे यह भी अच्छी तरह समझते थे कि वे किस उद्देश्य से इस नये वर्ग को पैदा कर रहे हैं। अंग्रेज शासकों का विचार था कि अंग्रेजों की एक बहुत ही छोटी सी संख्या को चूंकि भारत की इतनी विशाल आबादी को दबाकर रखना पड़ता है, इसलिए उनके लिए यह नितान्त आवश्यक है कि वे एक नया वर्ग पैदा करके अपनी शक्ति के लिए एक सामाजिक आधार तैयार करें। यह वर्ग ऐसा होना चाहिए जिसे भारत की लूट में से चन्द टुकड़े मिलते रहें और इसलिए जिसका स्वार्थ भारत में अंग्रेजी राज को कायम रखने में हो। यही कारण था कि जब भारत की जनता स्वतंत्रता के लिए संघर्ष कर रही थी, और किसानों के संघर्ष राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्य प्रेरक शक्ति बने हुए थे, तब हर प्रांत में जमींदार संघ, जमींदार एसोसियेशन, या ऐसी ही दूसरी संस्थाएं अंग्रेजी राज की वफादारी की कसमें खाया करती थीं। इसका एक उदाहरण १९२५ में वायसराय को बंगाल लैंड-ओनर (जमींदार) एसोसियेशन के अध्यक्ष द्वारा दिया गया अभिनन्दन-पत्र है। उसमें कहा गया था : "महामहिम, इस बात पर भरोसा कर सकते हैं कि जमींदार लोग सरकार का निस्संकोच समर्थन करेंगे और सच्चे दिल से उसकी सहायता करेंगे।"

इस्तमरारी बन्दोबस्त के सिलसिले में जो "गलतियां" एक बार हो गयी थीं, उन्हें फिर दोहराया नहीं गया। इसके बाद जो जमींदारी ढंग के बन्दोबस्त किये गये, वे सब "आरजी" थे—यानी, कुछ साल के अरसे के बाद जमीन का नये सिरे से बन्दोबस्त होता था ताकि सरकार चाहे तो हर बार अपनी मालगुजारी बढ़ाती जाय।

इस्तमरारी बन्दोबस्त के बाद जो काल आरम्भ होता है, उसमें कुछ इलाकों में एक नया तरीका अपनाया गया, जिसे रैयतवारी बन्दोबस्त का

नाम दिया गया था। यह बन्दोबस्त सबसे पहले मद्रास में शुरू हुआ। उसका सर थॉमस मुनरो के नाम से खास संबंध है, क्योंकि उन्होंने मद्रास के गवर्नर की हैसियत से १८२० में यह व्यवस्था जारी की थी। नये तरीके के पीछे विचार यह था कि सरकार सीधे किसानों के साथ बन्दोबस्त कर ले ताकि वह इस्तमरारी और आरजी, दोनों तरह के बन्दोबस्त की बुराइयों से बच जाय। रैयतवारी बन्दोबस्त करके सरकार लूट का सारा माल खुद हथिया लेती थी; और उसे बीच के जमीदारों के साथ हिस्सा नहीं बंटाना पड़ता था। बन्दोबस्त इस्तमरारी नहीं, बल्कि आरजी था; यानी कुछ साल बीत जाने पर हर बार नया बन्दोबस्त किया जाता था। उस जमाने में मद्रास प्रान्त के बोर्ड आफ रेवेन्यू ने इस नयी व्यवस्था का बहुत दिनों तक डटकर विरोध किया था। वह चाहता था कि हर गांव की आबादी के साथ सामूहिक बन्दोबस्त किया जाय, जिसे मौजावारी बन्दोबस्त कहा जाता था। लेकिन बोर्ड अपनी कोशिश में कामयाब नहीं हुआ।

इस प्रकार, ब्रिटिश भारत में भूमि-व्यवस्था के परम्परा से तीन प्रकार हो गये। तीनों प्रकार की व्यवस्था में भूमि पर अधिकार लोगों को ब्रिटिश सरकार से प्राप्त होता था, क्योंकि उसका दावा था कि देश की सारी जमीन उसकी है और वह सर्वोच्च जमींदार है।

एक तो, इस्तमरारी जमीदारी बन्दोबस्त की व्यवस्था थी जिसके मातहत ब्रिटिश भारत का कुल १६ प्रतिशत रकबा पड़ता था।

दूसरे, आरजी जमीदारी बन्दोबस्त की व्यवस्था थी जिसके तहत ३० प्रतिशत रकबा था।

तीसरे, रैयतवारी बन्दोबस्त की व्यवस्था थी जिसके मातहत ५१ प्रतिशत रकबा था।

इससे यह नहीं समझना चाहिए कि ब्रिटिश भारत के केवल ४६ प्रतिशत रकबे में ही जमीदारी प्रथा थी। व्यवहार में, रैयतवारी इलाकों में भी जमीदारी प्रथा बड़ी तेजी से फैल गयी थी। एक तो सरकार ने जिस किसान के साथ जमीन का बन्दोबस्त किया था वह किसी और आदमी को जमीन उठा देता था, और यह दूसरा आदमी किसी तीसरे को जमीन लगान पर दे देता था। इस तरह शिकमी बनाने की यह क्रिया चलती ही जाती थी। इससे अन्त में जाकर कुछ ऐसे लोगों का एक वर्ग पैदा हो जाता था जो जमीदारों की तरह बिना कोई मेहनत किये खेती करने वाले किसानों की कमाई में हिस्सा बंटाता था। दूसरे, जिनके साथ सरकार ने जमीनों का बन्दोबस्त किया था, उनकी जमीनें धीरे-धीरे साहूकारों तथा अन्य लोगों ने छीन लीं और वे भी जमीदारों की तरह किसानों का शोषण करने लगे।

भारत भर में जमींदारी प्रथा का इस तरह फैलना, और आधुनिक काल में बहुत ही तेजी से बढ़ना, इस बात का सूचक है कि अधिकाधिक किसानों की जमीनें छिनती जा रही हैं और छोटे-बड़े धनी लोग उद्योग-धंधों में पूंजी लगाने का कोई कारगर रास्ता न मिलने पर, खेती में पूंजी लगाने के उद्देश्य से जमीन पर टूट पड़े हैं। बहुत बड़े-बड़े इलाकों में शिकमी-दर-शिकमी की सीढ़ी खड़ी हो गयी और यहां तक कि कहीं-कहीं तो सचमुच जमीन जोतने वाले काश्तकार तथा जमीन के मालिक के बीच पचास तरह के बिचौलिये पैदा हो गये।

इसका परिणाम यह हुआ कि जमीन जोतने वाले काश्तकारों की रक्षा के लिए सरकार ने जो कानून बनाये, वे केवल छोटे दर्जे के जमीदारों तक ही पहुंचे और असली किसान ज्यादातर या तो भूमिहीन खेत-मजदूरों की स्थिति में पहुंच गये, या उनकी हालत सर्वथा अधिकारहीन किसानों जैसी हो गयी। ऐसे प्रत्येक किसान की पीठ पर पचासों छोटे-छोटे मुफ्तखोर लदे हुए थे जो काम कुछ नहीं करते थे और किसान की कमाई में से हिस्सा बंटाते थे। बड़े मुफ्तखोरों को और अन्त में सरकार को जो कुछ देना पड़ता था, वह अलग था। ये सारी जोंकें किसान का रक्त पीकर मोटी होती थीं। यह पूरी क्रिया, जिसने जमीदारी प्रथा की असंगतियों को चरम सीमा पर पहुंचा दिया है, इस बात का सबसे बड़ा सबूत है कि भारत में खेती का संकट दिन-ब-दिन गहरा होता जा रहा है। १९४७ के बाद से कांग्रेसी सरकार ने खेती में सुधार करने के लिए जो कानून बनाये हैं उनके जरिये भी यह अधिकाधिक गहरा होता जाने वाला संकट हल नहीं हुआ है।

४. किसानों की बढ़ती गरीबी

भारत में खेती के सम्बन्धों का जो चित्र इस तरह हमारे सामने आता है, वह बहुत उग्र और बराबर बढ़ते हुए वर्ग-भेदों का चित्र है।

१९३१ की जनगणना से भारत की खेती में वर्ग-विभाजन की यह तस्वीर निकली थी :

जमीन के मालिक, जो खेती नहीं करते और लगान वसूलते हैं ...	४,१५०,०००
खेती करने वाले मालिक; और दूसरों की जमीन जोतने वाले किसान ...	६५,४९५,०००
खेत मजदूर	३३,५२३,०००

इन संख्याओं का बहुत अधिक मूल्य नहीं है, क्योंकि दूसरा वर्ग "खेती

करने वाले मालिक और दूसरों की जमीन जोतने वाले किसान" इतना बड़ा और आम बना दिया गया है कि उससे खेती करने वालों की जोतों के रकबे पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता और इसलिए उससे बड़े किसानों, मझोले किसानों और छोटे किसानों के भेदों पर पर्दा पड़ जाता है। खास तौर पर इस विभाजन से यह नहीं मालूम होता कि किसानों के उस सबसे बड़े हिस्से की क्या संख्या है जिसके पास अपने गुजर-बसर लायक भी जमीन नहीं है, जिसकी हालत खेत-मजदूरों जैसी हो गयी है और जिसे आम तौर पर खेत-मजदूरों की तरह दूसरों के खेतों में जांगर चलाकर जीविका कमानी पड़ती है। व्यवहार में, छोटे शिकमी किसान और खेत-मजदूर में बहुत कम फर्क रह जाता है, इसलिए किसानों की हालत की असली तसवीर पाने के वास्ते हमें आम जनगणना के आंकड़ों के अलावा सरकारी और गैर-सरकारी क्षेत्रीय तथा स्थानीय खोज और छानबीन से मिले आंकड़ों पर भी विचार करना होगा। और ऐसे आंकड़ों से पता चलता है कि खेती न करने वाले जमीदारों की संख्या में कितनी बढ़ती हुई है, और भूमिहीन खेत-मजदूरों की संख्या कितनी तेजी से बढ़ी है।

उदाहरण के लिए, मद्रास में १९०१ से लेकर १९३१ तक के तीस बरसों में ऐसे लोगों की संख्या, जो कि काम नहीं करते और लगान वसूलते हैं, ढाईगुनी हो गयी और भूमि-हीन खेत-मजदूर, जो कि पहले खेती पर निर्भर पूरी आबादी के एक-तिहाई थे, इन तीस बरसों में बढ़कर आबादी के आधे हो गये। बंगाल की जनगणना के आंकड़ों से भी यही चित्र सामने आता है कि खेती पर निर्भर करने वाली पूरी आबादी में बिना कुछ किये लगान वसूलने वालों और भूमिहीन खेत मजदूरों का हिस्सा बढ़ गया है।

सबसे ज्यादा महत्व भूमिहीन खेत-मजदूरों की संख्या के बढ़ने का है। १८८१ की जनगणना के पहले इस बात के कोई आंकड़े नहीं मिलते थे कि भारत में भूमिहीन खेत-मजदूरों की कितनी संख्या है। १८८२ में जनगणना करने वालों ने अनुमान लगाया कि खेती में ७५ लाख "भूमिहीन दिन-मजूर" काम करते हैं। १९२१ की जनगणना के समय खेत-मजदूरों की संख्या २ करोड़ १० लाख बतायी गयी, जो खेती पर निर्भर करने वाली पूरी आबादी का पांचवां हिस्सा होती थी। १९३१ की जनगणना से पता चला कि खेत-मजदूरों की संख्या ३ करोड़ ३० लाख हो गयी है। यह खेती में लगी हुई कुल आबादी का एक-तिहाई हिस्सा है। १९५१ में बंटवारा हो जाने के बाद भारत संघ में खेत-मजदूरों की संख्या (जिनके पास या तो जमीन बिलकुल नहीं थी, या गुजर के लायक नहीं थी) ३ करोड़ ५० लाख पायी गयी, जो खेती के सहारे

जीने वाली कुल आबादी का $\frac{3}{5}$ होती थी (इंडियन लेबर गजट, नवम्बर १६५४)

इन खेत-मजदूरों को मजदूरी कितनी मिलती थी, यह आगे दी गयी तालिका में देखिए :

	१८४२	१८५२	१८६२	१८७२	१६११	१६२२
			(आनों में)			
खेत-मजदूरों की रोजाना मजदूरी बिना भोजन के	१	१½	२	३	४	४-६
			(सेरों में)			
चावल का भाव (फी रुपया)	४०	३०	२७	२३	१५	५

इस प्रकार, जहां खेत-मजदूरों की नकद मजदूरी इस बीच चार-गुनी या छः-गुनी हो गयी, वहां चावल का भाव आठ गुना बढ़ गया।

१६५०-५१ में सरकार ने खेत-मजदूरों की हालत की जांच की थी। उसकी रिपोर्ट (खेत-मजदूर—उनका काम और उनका जीवन) १६५४ में प्रकाशित हुई थी। उससे पता चला कि खेत-मजदूरों की औसत रोजाना मजदूरी मर्दों के लिए साढ़े १७ आने और औरतों के लिए लगभग पौने ११ आने थी। साल भर में १०० दिन खेत-मजदूरों को बेकार रहना पड़ता था। एक साधारण आदमी के जिन्दा रहने के लिए कम से कम जितने भोजन की आवश्यकता है, खेत-मजदूरों को उससे २५ प्रतिशत कम मिलता था। और ३ करोड़ ५० लाख खेत-मजदूरों में से ४५ प्रतिशत कर्ज से लदे थे।

समाज की सीढ़ी पर और भी नीचे उतरने पर—यदि और नीचे उतरना संभव हो तो—हम अर्द्ध-गुलामी, हरी-बेगार और साहूकारों की दासता में पहुंच जाते हैं। यहां हमें ऐसे खेत-मजदूर मिलते हैं जिन्हें मजदूरी भी नहीं मिलती। ये भारत के सभी हिस्सों में पाये जाते हैं। बहुत से इलाकों में ये अर्द्ध-गुलाम और साहूकारों के दास आदिवासी जातियों के लोग हैं। लेकिन उस किसान की हालत भी कानूनी अर्ध-दास से बहुत अच्छी नहीं है, जिसकी जमीन छिन गयी है और जिसे कर्ज के नागफांस ने साहूकार की गुलामी में जकड़ दिया है, या जो बटाई पर खेती करने लगा है। इनसे बहुत-कुछ मिलती-जुलती हालत बागानों में काम करने वाले गुलामों की है। चाय, कॉफी और रबड़ के बड़े-बड़े बागानों में दस लाख से ज्यादा मजदूर काम करते हैं। इन बागानों में ६० प्रतिशत से अधिक की मालिक विलायती कम्पनियां हैं, जो इन दस लाख से ज्यादा गुलामों की मेहनत लूट कर मोटी हो रही हैं।

किसानों की तबाही का एक और सबूत छोटे किसानों की हालत है। इनमें से अधिकतर के पास इतनी कम जमीन है कि वे उस पर अपनी गुजर के लायक भी नहीं पैदा कर पाते। वैसी ही हालत शिकमी काश्तकारों की है और उन किसानों की है जिनको किसी प्रकार के अधिकार नहीं प्राप्त हैं। व्यवहार में, इन तमाम लोगों की हालत में खेत-मजदूरों की हालत से कोई विशेष अन्तर नहीं है; और इन लोगों को एक-दूसरे से अलग करने वाली रेखा बहुत ही धुंधली पड़ गयी है।

बंगाल मालगुजारी कमीशन (फ्लाउड कमीशन) के सामने जो गवाहियां पेश हुई थीं, उनमें आम तौर पर यह मत प्रकट किया गया था कि एक औसत परिवार के लिए अपना तमाम खर्चा चलाने के वास्ते कम से कम ५ एकड़ जमीन की आवश्यकता है। लेकिन कमीशन की जांच करने पर पता चला कि बंगाल के लगभग तीन-चौथाई किसान परिवारों के पास ५ एकड़ से कम जमीन है, और ५७.२ प्रतिशत जोतें तो ३ एकड़ से भी कम की हैं।

तब यह बहुसंख्यक किसान जनता, जिसके पास गुजर-बसर के लायक जमीन भी नहीं है, अपनी जीविका कैसे कमाती है? वह नहीं कमा पाती। वह अधिकाधिक कर्जे के गढ़े में गिरती जाती है, उसकी जमीन छिन जाती है, और अन्त में वह भूमिहीन खेत-मजदूरों की सेना में शामिल हो जाती है।

५. कर्जे का बोझ

जैसे-जैसे किसान की कठिनाइयां बढ़ती जाती हैं, वैसे-वैसे वह कर्जे के बोझ के नीचे दबता जाता है, जिससे उसकी कठिनाइयां और बढ़ जाती हैं। इस तरह वह एक ऐसे भंवर में फंस जाता है जिससे निकलने का कोई रास्ता नहीं है। और अन्त में वह भंवर में डूब जाता है, यानी उसकी जमीन छिन जाती है।

यह बात सब लोग मानते हैं कि अंग्रेजी राज के साथ-साथ किसानों पर कर्जे का बोझा भी बढ़ता गया है, और कर्जे का सवाल एक बहुत ही जरूरी और व्यापक सवाल बन गया है। अंग्रेजी राज में किसानों पर कर्जे का बोझा क्यों बढ़ता गया? खास तौर पर आधुनिक काल में इस समस्या ने इतना विकट रूप क्यों धारण कर लिया? साम्राज्यवाद के पापों पर पर्दा डालने वाले लोग इसका अक्सर यह कारण बताया करते थे कि किसान चूंकि दूरदर्शिता से काम नहीं लेते और बहुत फिजूलखर्ची करते हैं इसलिए वे कर्जे के चंगुल में फंस जाते हैं। कर्जे के बोझ की वजह ये लोग किसानों के सामाजिक रीति-रिवाजों में देखते थे और कहते थे कि शादी, गमी और अन्य सामाजिक समारोहों पर और मुकदमेबाजी में किसान अपनी सामर्थ्य से ज्यादा रुपया खर्च कर देते हैं। यदि

तथ्यों को देखा जाय तो यह बात सही नहीं उतरती। दकन के किसान विद्रोह के कारणों की जांच करने वाले कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में १८७५ में ही लिख दिया था कि "ब्याह-शादी और तीज-त्योहार पर जो खर्चा होता है उसे अनावश्यक महत्व दिया गया है।...इस मद में किसान को काफी रुपया खर्च करना पड़ता है, लेकिन ऐसा बहुत कम देखने में आता है कि इस मद के खर्चों के कारण किसान कभी कर्ज में फंसा हो।" बंगाल प्रान्त की बैंकिंग जांच समिति भी "गांवों की हालत की बहुत गहरी छान-बीन" करने के बाद इस नतीजे पर पहुंची थी कि यह आरोप गलत है।

तथ्यों का विश्लेषण करने पर पता चलता है कि भारतीय किसानों के कर्ज की चक्की में पिसने के कारण आर्थिक हैं, और उनका किसानों के शोषण से गहरा सम्बंध है। किसान कर्जा लेते हैं तो लगान देने के लिए, अपनी खेती में कोई ऐसा सुधार करने के लिए जिसमें पूंजी की आवश्यकता हो, पुराना कर्ज चुकाने के लिए, या ऐसे ही किसी अन्य काम के लिए। बम्बई सरकार के माल विभाग के एक अफसर सर टी. होप ने १८७६ में कहा था : "यदि सच पूछिए तो किसानों पर लदे हुए कर्ज का एक कारण हमारी मालगुजारी की व्यवस्था भी है।" वौधन नैश ने १६०० में लिखा था : "बम्बई यात्रा के बाद यह बात मेरे दिमाग में बिलकुल साफ हो गयी कि अधिकारी वर्ग की दृष्टि में किसान मुख्यतया महाजन और साहूकार की मदद से ही मालगुजारी दे पाते हैं।"

साहूकार और कर्ज भारतीय समाज के लिए कोई सर्वथा नयी वस्तुएं नहीं हैं। लेकिन जब से भारत का पूंजीवादी शोषण शुरू हुआ, खास तौर पर साम्राज्य के काल में, साहूकार की भूमिका आकार और विस्तार में बहुत बढ़ गयी है। पहले साहूकार को गांव के जनमत का खयाल रखते हुए अपना कारबार चलाना पड़ता था। पुराने कानूनों के मातहत कोई महाजन कर्जे के एवज में जमीन नहीं छीन सकता था। अंग्रेजी राज के आने पर ये सारी बातें बदल गयीं। भारत में इंगलैंड के कानून जारी कर दिये गये, जिनके अनुसार कर्जदारों को जेल में बन्द किया जा सकता है और जमीन एक आदमी के हाथ से निकल कर दूसरे आदमी के हाथ में जा सकती है। इन कानूनों से महाजन या साहूकार की चारों उंगलियां घी में हो गयीं और पुलिस और अदालत की पूरी ताकत उसके पीछे-पीछे चलने लगी। साहूकार पूंजीवादी शोषण की पूरी व्यवस्था की आवश्यक धुरी बन गया। कारण कि न केवल साहूकार की मदद के बिना मालगुजारी जमा नहीं हो सकती, बल्कि आम तौर पर साहूकार सूद पर कर्ज देने के अलावा अनाज की खरीद और बिक्री भी करता है। जब फसल कटती है, तो किसानों की लगभग सारी उपज साहूकार खरीद लेता है। अक्सर वही फसल के शुरू में किसानों को बीज और हल, बैल, आदि देता है। और उसका बही-

खाता किसानों के लिए जादू का पिटारा बना रहता है। साहूकार को उनसे कितना लेना था और वे उसमें से कितना अदा कर चुके हैं, इसका हिसाब प्रायः किसानों को नहीं मालूम होता। नतीजा यह होता है कि दिन-ब-दिन वे उसके गुलाम बनते जाते हैं; और साहूकार गांव का तानाशाह बन जाता है। जैसे-जैसे किसानों की जमीन उसके हाथ में आती जाती है, वैसे-वैसे यह क्रिया और आगे बढ़ती है। किसान खेत-मजदूर बन जाते हैं या बटाई पर साहूकार के खेत जोतने लगते हैं और जो कुछ पैदा करते हैं, उसका अधिकतर भाग लगान और सूद के रूप में उसे सौंप देते हैं। साहूकार अधिकाधिक भारत की ग्रामीण अर्थव्यवस्था में छोटे पूंजीपति की भूमिका अदा करने लगता है और किसान मजदूरों की तरह उसकी नौकरी बजाने लगते हैं। शुरू-शुरू में, मुमकिन है कि किसानों का गुस्सा पहले साहूकार पर फूटे, क्योंकि उनकी नजरों में वही सबसे बड़ा जालिम और उनकी तमाम मुसीबतों की जड़ मालूम पड़ता है। लेकिन बहुत जल्द किसानों को मालूम हो जाता है कि साहूकार के पीछे साम्राज्यवाद की पूरी ताकत खड़ी है: साहूकार बंक-पूंजी की शोषण-व्यवस्था का ऐसा पुर्जा है, जो खास उस जगह का काम करता है जहां उत्पादन होता है, और जिसके बिना यह पूरी मशीन काम नहीं कर सकती।

जैसे-जैसे साहूकार का जुल्म और शोषण बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे सरकार कानून बनाकर उसे कुछ रोकने की कोशिश करती है। सरकार को डर लगता है कि कहीं साहूकार इस सोने का अंडा देने वाली मुर्गी को एकदम हलाल न कर दे। सूद की दर को कम करने के लिए और खेती की जमीनों को किसानों के हाथ से निकलने से बचाने के लिए कानूनों के पोथे रंग डाले गये हैं। लेकिन सरकार खुद भी मानती है कि ये सारे कानून बेकार साबित हुए हैं। इसका सबूत यह है कि किसानों पर कर्ज का बोझ बराबर बढ़ता जाता है और यहां तक कि उसके बढ़ने की रफ्तार दिन-ब-दिन ज्यादा तेज होती जाती है।

६. तीन तरह का बोझा

अब हम सारांश में यह बता सकते हैं कि साम्राज्यवादी शोषण का किसानों पर कुल मिलाकर क्या प्रभाव हुआ है। साम्राज्यवादी शोषण का अन्त में यह परिणाम हुआ कि यदि किसान किसी तरह भूमिहीन खेत-मजदूरों में मिलने से बच गया, तो उस पर तीन तरह का बोझा लद गया। सरकार की मालगुजारी का बोझा सभी पर पड़ता था। इसके अलावा, अधिकतर किसानों पर जमीदार के लगान का बोझा भी पड़ता था और साहूकार के सूद का बोझा

उससे भी बड़ी संख्या को ढोना पड़ता था। इस तरह कुछ मिलाकर किसान की पैदावार का कितना हिस्सा उसके हाथ से निकल जाता था? और खुद उसकी गुजर के लिए कितना बचता था? यह भारत की खेती का एक बुनियादी सवाल है मगर कोई ऐसे आंकड़े नहीं मिलते जिनके आधार पर इस सवाल का जवाब दिया जा सके। सही जानकारी के अभाव में केन्द्रीय बैंकिंग जांच कमिटी के अल्पमत की रिपोर्ट में एक बहुत मोटा सा अनुमान लगाने की कोशिश की गयी थी। यह बात बिलकुल साफ है और इसके लिए हमारे सामने स्पष्ट प्रमाण मौजूद हैं कि इस मोटे अनुमान से जो चित्र सामने आता है, वास्तव में किसानों की पीठ पर इससे कहीं अधिक बोझा लदा हुआ है। फिर भी, यह अनुमान भी, उसके साथ नमक-कर का बोझ जोड़ देने पर, २० रुपये फी किसान तक पहुंच जाता है। इसके मुकाबले किसान की औसत आमदनी देखिए! केन्द्रीय बैंकिंग जांच कमिटी की बहुमत की रिपोर्ट में अनुमान लगाया गया है कि "ब्रिटिश भारत में किसान की औसत आमदनी ४२ रुपये सालाना से ज्यादा नहीं बैठती।"

शोषण की एक ज्यादा सही झलक एन. एस. सुब्रमन्यम की रचना, दक्षिण भारत के एक गांव का अध्ययन में मिलती है जो १९३६ में प्रकाशित हुई थी। इस रचना में हर चीज का बड़े विस्तार से अध्ययन किया गया है। उससे पता चलता है कि इस गांव का प्रत्येक निवासी हर साल औसतन ३८ रुपये कमाता था। सरकार की मालगुजारी, जमींदार का लगान, और साहूकार का सूद देने के बाद उसके पास १३ रुपये बचते थे, जिनके सहारे उसे साल भर जीना पड़ता था। यानी, जो कुछ वह कमाता था, उसका केवल एक-तिहाई उसके पास बचता था और दो-तिहाई उसके हाथ से निकल जाता था।

महान फ्रांसीसी क्रान्ति के पहले फ्रांस के किसानों की दशा का वर्णन करते हुए कार्लाईल ने लिखा था :

> "विधवा अपने बच्चों का पेट भरने के लिए जंगल में जड़ें चुन रही है, और होटल के बरामदे में नज़ाकत के साथ लेटे हुए चिकने-चुपड़े भद्र पुरुष के पास एक ऐसा जादू है जिससे वह बुढ़िया की हर तीसरी जड़ छीन लेगा, और कहेगा कि यह लगान और कानून का जादू है!"

अंग्रेजी राज में भारत ने इससे भी बड़ा एक जादू देखा। यहां किसान के पास तीन में से केवल एक जड़ बचती थी और दो जड़ें 'भद्र पुरुष' के पास पहुंच जाती थीं।

अध्याय ९

किसान-क्रान्ति की ओर

उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर अब संक्षेप में यह बताया जा सकता है कि खेती का संकट किन विशेषताओं के साथ बढ़ रहा है।

१. खेती के संकट में बढ़ती

पहली विशेषता यह है कि राष्ट्र की अर्थव्यवस्था में खेती का स्थान अधिकाधिक असंतुलित होता जाता है; उसके साथ-साथ खेती पर आबादी का दबाव जरूरत से ज्यादा बढ़ता जाता है, देश का विकास नहीं होता और भारतीय अर्थव्यवस्था के औपनिवेशिक स्वरूप के कारण "अनुद्योगीकरण" की क्रिया जारी रहती है। इस आम परिस्थिति का दूसरी तमाम बातों पर भी प्रभाव पड़ता है और वे भी उग्र रूप धारण कर लेती हैं।

दूसरी विशेषता यह है कि खेती के विकास में ठहराव आ जाता है और उसका पतन होने लगता है, जमीन की उपज कम रहती है, श्रम का अपव्यय होता है, खेती के लायक जमीन पर भी खेती नहीं होती, जिस पर होती है उसका विकास नहीं होता, और यहां तक कि कुछ समय बाद खेती की उपज गिरने लगती है, जमीन खेती से निकलने लगती है और खेती के कुल रकबे में कमी आने लगती है।

तीसरी विशेषता यह है कि जमीन के लिए किसानों की भूख बढ़ती जाती है, उनकी जोतें बराबर छोटी होती जाती हैं, और अधिकाधिक छोटे टुकड़ों में बंटती जाती है, ऐसी जोतों का अनुपात बढ़ता जाता है जिनके सहारे किसान के लिए अपनी गुजर करना असम्भव होता है, और अन्त में हालत यहां तक पहुंचती है कि ज्यादातर जोतें इसी तरह की रह जाती हैं।

चौथी विशेषता यह है कि जमींदारी प्रथा का विस्तार बढ़ता जाता है, तरह-तरह के शिकमी और शिकमियों के शिकमी और फिर उनके शिकमी कायम हो जाते हैं, ऐसे लोगों की संख्या बढ़ जाती है जो खेती नहीं करते और मुफ्त में लगान वसूलते हैं, और अधिकाधिक किसानों की जमीनें इन मुफ्तखोरों के हाथों में जाने लगती हैं।

पांचवीं विशेषता यह है कि जिन किसानों के पास थोड़ी-बहुत जमीन बचती है उन पर कर्ज का बोझ बढ़ता जाता है, और अभी हाल के कुछ बरसों में तो किसानों पर लदे कर्ज की कुल रकम एकदम आसमान पर पहुंच गयी है।

छठी विशेषता यह है कि किसानों की जमीनें कर्ज के एवज में उनके हाथ से अधिकाधिक निकल कर साहूकारों और सट्टेबाजों के हाथों में पहुंचती जाती हैं।

सातवीं विशेषता यह है कि ऊपर बतायी गयी बातों के परिणामस्वरूप खेत-मजदूरों की संख्या अधिकाधिक तेजी से बढ़ती जाती है। १९२१ में तमाम खेती करने वालों का पांचवां हिस्सा खेत-मजदूरों का था। दस वर्ष के अन्दर, यानी १९३१ में एक-तिहाई खेती करने वाले खेत-मजदूर बन गये। और तब से आज तक उनकी संख्या और भी बढ़ गयी है (१९५०-५१ में भारत सरकार के श्रम सचिवालय ने जो जांच करायी थी, उससे पता चला था कि ३६ प्रतिशत खेती करने वाले खेत-मजदूर बन गये हैं)।

खेती के पतन, किसानों की जमीनों के छिनने, और उनमें वर्ग-भेदों के बढ़ने की यह पूरी क्रिया संसारव्यापी अर्थ-संकट के कारण, खेती की पैदावार के दामों के यकायक एकदम गिर जाने के कारण, और उसके बाद दूसरे महायुद्ध तथा उसके फलस्वरूप देश में अकालों की लहर आने के कारण बहुत आगे बढ़ गयी है और बहुत तेजी से चल रही है। १९२८-२९ में फसल कटने के समय के औसत दामों को आधार मानने पर लगभग १,०३४ करोड़ रुपये के मूल्य की पैदावार खेती से हुई थी। १९३३-३४ में केवल ४७३ करोड़ की पैदावार हुई। यानी, उसमें ५५ प्रतिशत की कमी हो गयी। लेकिन मालगुजारी ज्यों की त्यों रही। १९२८-२९ में ३३ करोड़ १० लाख की मालगुजारी वसूल की गयी थी; १९३१-३२ में ३३ करोड़ की और १९३३-३४ में ३० करोड़ की। १९३३-३४ में जो करीब ९ प्रतिशत की थोड़ी सी कमी आयी, उसका भी केवल यह कारण था कि किसानों के लिए ज्यादा देना असम्भव हो गया था और बहुतों ने मालगुजारी देने के बदले अपनी जमीनों से इस्तीफे दे दिये थे।

बंगाल में १९२०-२१ से लेकर १९२९-३० तक हर साल औसतन ७२ करोड़ ४० लाख रुपये की ऐसी फसल तैयार हुई थी जो बाजार में बेची जा सकती थी। १९३२-३३ में केवल ३२ करोड़ ७० लाख की ऐसी फसल तैयार हुई। लेकिन किसानों पर नकद बोझ कम नहीं हुआ, बल्कि उलटा २७ करोड़ ९० लाख रुपये से बढ़कर २८ करोड़ ३० लाख रुपये हो गया। इसका मतलब यह हुआ कि लगान, सूद, आबपाशी, आदि देने के बाद किसानों की जेब में जो

पैसे बचते थे, या उनके पास जो "स्वतंत्र खरीदने की शक्ति" बचती थी, वह अर्थ-संकट के कारण ४४ करोड़ ५० लाख रुपये से गिरकर केवल ४ करोड़ ४० लाख रुपये रह गयी।

किसान आम तौर पर जो पैसा बचाते हैं, उससे सोने के जेवर खरीद लेते हैं। अर्थ-संकट के दिनों में दिवालिया बनने से बचने के लिए किसानों ने धड़ाधड़ सोने के जेवर बेचे। १९३१ और १९३७ के बीच कुछ नहीं तो २४ करोड़ १० लाख पौंड का सोना भारत से निकल गया। लेकिन सोना बेचकर भी किसान केवल कुछ दिनों के लिए ही दिवाला निकलने की घड़ी को टाल सके। ऐसे किसानों की संख्या तेजी से बढ़ती ही गयी जो लगान न दे पाने के कारण जमीनों से इस्तीफे दे रहे थे। १९३० में बंगाल में सिचाई की व्यवस्था की जांच करने वाली एक कमेटी ने बताया कि "जमीन खेती से निकल रही है।"

१९३४-३५ में खेती के आंकड़ों से पता चला कि खेती की जमीन के रकबे में ५० लाख एकड़ की कमी आ गयी है। अनाज की फसलों के रकबे में ५५ लाख ८९ हजार एकड़ की कमी आ गयी थी।

कर्जे का बोझा तिगुना हो गया। १९२१ में किसानों पर कुल ४० करोड़ पौंड का कर्जा था। १९३७ में वह बढ़कर १३५ करोड़ पौंड हो गया था।

भारत की ग्रामीण अर्थव्यवस्था का दिवालियापन नग्न रूप में उस समय प्रकट हुआ जब जापान के लड़ाई में शामिल हो जाने के बाद भारत में बर्मा से चावल आना बन्द हो गया। उसका नतीजा यह हुआ कि पूरा देश अकाल का ग्रास बन गया और हर तरफ भुखमरी फैल गयी। अकेले बंगाल में, प्रोफेसर के. पी. चटोपाध्याय ने हिसाब लगाया है कि, ३५ लाख आदमी अकाल के परिणामस्वरूप मौत के शिकार हुए। अकाल के बाद महामारी आयी और सितम्बर १९४४ तक बंगाल में १२ लाख आदमी विभिन्न बीमारियों के शिकार हो गये। जनता का सारा जीवन छिन्न-भिन्न हो गया। मां-बाप अपने दूध पीते बच्चों को इस आशा से सड़क के किनारे छोड़कर चल देते थे कि किसी दयालु आदमी की उन पर दृष्टि पड़ गयी तो सम्भव है कि उनकी जान बच जाय। पुरुष अपने परिवारों को भाग्य के सहारे छोड़कर रोजी की तलाश में बाहर निकल जाते थे। स्त्रियां भूख की मार से विवश होकर अपनी देह का व्यापार करने लगी थीं और वेश्यालयों में भरती हो रही थीं।

यह "इंसान का पैदा किया हुआ" अकाल था। असल में, बंगाल में केवल छः हफ्ते के राशन की कमी थी, और बाहर से अनाज मंगाकर तथा खाने-पीने की चीजों का सब में बराबर-बराबर वितरण करके इस कमी को

आसानी से दूर किया जा सकता था। लेकिन, ऐसा किया जाने के बजाय बंगाल में अकाल पड़ा, और अकाल भी ऐसा कि उसकी लपेट में प्रान्त की एक-तिहाई जनता आ गयी। अनाज का सारा स्टाक बड़े-बड़े जमींदारों और व्यापारियों ने हथिया लिया था और घूसखोर नौकरशाही छिपा हुआ अनाज बाहर निकालने के बजाय, भाव बढ़ाने और करोड़ों आदमियों के जीवन से खिलवाड़ करने में इन अनाज चोरों की मदद कर रही थी। जनवरी १९४२ में चावल का भाव ६ रुपये मन था; नवम्बर १९४२ तक वह ११ रुपये मन हो गया। फरवरी-अप्रैल १९४३ में वह २४ रुपये मन, मई में ३० रुपये मन, जुलाई में ३५ रुपये मन, अगस्त में ३८ रुपये मन, और अक्तूबर १९४३ में ४० रुपये मन हो गया। मुफस्सिल के जिलों में तो भाव ५० से लेकर १०० रुपये मन तक चला गया था। अकाल के दिनों में भी चावल हर जगह मिलता था और चाहे जितने परिमाण में मिल सकता था, लेकिन १०० रुपये मन का भाव देने पर ही!

इस अकाल के परिणामस्वरूप किसान और गरीब हो गये, और धनी जमींदारों और साहूकारों के पास पहले से भी ज्यादा जमीन जमा हो गयी।

गांव की पूरी अर्थव्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गयी। अकाल की मार सबसे ज्यादा गांव के दस्तकारों और कारीगरों पर पड़ी थी। मछुए, मोची, लुहार, कुम्हार, जुलाहे, आदि सबसे ज्यादा और सबसे पहले तबाह हुए थे। फलस्वरूप वे सभी दिवालिया बन गये।

बंगाल में जो कुछ हुआ, वह उस संकट का केवल सबसे उग्र रूप था जो सारे देश को निगले जा रहा था।

२. किसान-क्रांति की आवश्यकता

इस प्रकार, भारत के किसानों के सामने आज यह सवाल पैदा हो गया है कि वे जिन्दा भी रह पायेंगे या नहीं। और अब यह सवाल और टाला नहीं जा सकता। किसानों को उसे आज और अभी हल करना होगा।

क्या वर्तमान व्यवस्था के रहते हुए इस सवाल को हल किया जा सकता है? सभी लोग मानते हैं कि वर्तमान व्यवस्था में बहुत बुनियादी परिवर्तन करना आवश्यक है।

सिद्धान्त रूप में बहुत दिनों से लोग यह बात स्वीकार करते चले आये हैं कि जमींदारी प्रथा को मिटाए बिना काम नहीं चल सकता। १९३८ में फ्लाउड कमीशन के बहुमत ने अपनी रिपोर्ट में बंगाल में जमींदारी प्रथा को

खत्म करने की सिफारिश की थी—लेकिन, उसकी राय थी कि जमीदारों को मुआवजा दिया जाय। भारत में जमीदारी प्रथा विदेशी सरकार की पैदा की हुई चीज है और राष्ट्र की परम्परा में उसका कोई स्थान नहीं है। जमीदार जो कुछ किसानों से वसूलते हैं, उसके एवज में वे किसानों का जर्रा बराबर भी फायदा नहीं करते। लेकिन जमीदारी प्रथा को सचमुच मिटाने का तरीका यह नहीं है कि केवल बाहरी स्वरूप में रस्मी परिवर्तन कर दिया जाय और जमीदारों को "मुआवजा" देने के नये रूप में किसानों पर आर्थिक बोझ ज्यों का त्यों बना रहे। असल में किसानों को उस आर्थिक बोझ से मुक्त करने की आवश्यकता है, जो जमीदारी प्रथा ने किसानों पर लाद रखा है।

साहूकारी प्रथा और कर्जे के पहाड़ के बारे में भी यही बात सच है। कर्जे की रकम को पहले एकदम कम कर देना और अन्त में बिल्कुल मंसूख कर देना लाजमी है। लेकिन केवल इतना करने से कुछ लाभ न होगा, या केवल अस्थाई रूप से थोड़ी सी राहत मिलेगी, यदि इसके साथ-साथ साहूकार की जगह किसानों को कर्जा देने की कोई अन्य व्यवस्था न की जायगी और यदि कर्जे को बढ़ने से रोकने के उपाय न किये जायेंगे।

यह मानना पड़ेगा कि आंशिक उपायों से अस्थायी ढंग की तो कुछ राहत मिल सकती है, और देश के अलग-अलग हिस्सों में ऐसे कुछ उपाय करने का न्यूनाधिक प्रयत्न भी हुआ है, लेकिन किसानों के सवाल का ज्यादा बुनियादी हल निकालने के लिए जरूरी है कि पूरी भूमि-व्यवस्था का पुनः संगठन किया जाय। यदि जमीदारी प्रथा के अभिशाप से देश को मुक्त करने के लिए अधिक सुनियोजित ढंग से प्रयत्न करना है, तो ऐसा केवल एक अधिक व्यापक आर्थिक पुनर्संगठन के अंग के रूप में ही किया जा सकता है। इस आर्थिक पुनर्संगठन के द्वारा न केवल "जमीन का मालिक जोतने वाला" का सिद्धान्त कार्यान्वित किया जायगा, बल्कि उन लाखों और करोड़ों आदमियों के लिए जीविका कमाने के नये साधन तैयार किये जायेंगे जो आबादी के बोझ से दबी हुई खेती से नाता तोड़कर ही सुखी जीवन बिता सकते हैं। खेती और उद्योग-धंधों के विकास के लिए जो उपाय करने हैं, वे यहां आकर एक हो जाते हैं।

बुनियादी प्रश्न केवल जमीदारी प्रथा का नहीं है। बुनियादी प्रश्न पूरी भूमि व्यवस्था का पुनःसंगठन और जोतों का फिर से बंटवारा करने का है। लेकिन इस तरह का बंटवारा, जो बहुसंख्यक जनता के हितों को महत्व देगा और व्यक्तिगत स्वामित्व की अवहेलना करने से न हिचकेगा—ऐसा बंटवारा करना नौकरशाही ढंग से काम करने वाली विदेशी सरकार अथवा

विदेशी साम्राज्यवाद से सम्बन्ध रखने वाली एकाधिकारी पूंजीपतियों की सरकार के बूते के बाहर है। ऐसी किसी सरकार में यदि इस प्रकार का बंटवारा करने की इच्छा भी हो, तो भी उसमें उसकी सामर्थ्य न होगी। ऐसा बंटवारा तो खुद किसान जनता ही अपनी पहल से और अपने हाथों से कर सकती है, और यह कार्य वह मजदूर वर्ग के सहयोग से तथा मजदूरों-किसानों का प्रतिनिधित्व करने वाली तथा उनके हितों के लिए लड़ने वाली सरकार के नेतृत्व में पूरा करेगी।

लेकिन जमीन का फिर से बंटवारा करना सिर्फ पहला कदम है। उसके बाद खेती के विकास की पूरी समस्या को हाथ में लेना होगा, खेती के कौशल को विकसित करके उसे आधुनिक स्तर तक ले जाना होगा, खेती में मशीनों का इस्तेमाल शुरू करना पड़ेगा और खेती के लायक जमीन के जो विशाल इलाके परती पड़े है, उनको तोड़कर खेती का रकबा बढ़ाना होगा।

३. सरकारी सुधारों की असफलता

पहले भारत में साम्राज्यवादियों का प्रत्यक्ष राज था। फिर उसकी जगह भारत संघ तथा पाकिस्तान की सरकारें कायम हुईं, जो अब भी उन्हीं पुराने एकाधिकारी पूंजीपतियों और जमींदारों पर आधारित हैं जिन्होंने साम्राज्यवाद से सम्बन्ध बनाये रखा है। पुरानी अंग्रेजी सरकार ने और इन नयी भारतीय तथा पाकिस्तानी सरकारों ने खेती में सुधार करने के जो प्रयत्न किये हैं, उनसे यह बात साबित हो जाती है कि इस ढंग के सामाजिक आधार पर टिकी हुई कोई भी सरकार खेती के बढ़ते हुए संकट को हल नहीं कर सकती।

साम्राज्यवाद के हित एक तरफ जमींदारी प्रथा और सामन्ती तथा अर्ध-सामन्ती संस्थाओं और रीतियों को सुरक्षित रखने के साथ जुड़े हुए हैं, क्योंकि जनता को दबाकर रखने के लिए उसे इस सामाजिक आधार की सहायता की जरूरत होती है। दूसरी तरफ, साम्राज्यवाद के हित इस बात के साथ जुड़े हुए हैं कि इंगलैंड की बंक पूंजी भारत का शोषण करती रहे और उसे एक पिछड़ा हुआ खेतिहर उपनिवेश बनाये रहे। इन दोनों बातों की वजह से साम्राज्यवाद के लिए यह नामुमकिन था कि वह खेती की समस्या को हल करने का प्रयत्न करता। साम्राज्यवाद की इस असमर्थता का एक प्रमाण यह है कि १९२७ में खेती की जांच करने के लिए उसने जो शाही कमीशन नियुक्त किया था, उसे भूमि-व्यवस्था को छूने की भी मनाही कर दी गयी

थी। और अमली तौर पर इस क्षेत्र में साम्राज्यवादी सरकार ने जिस दिवालियेपन का परिचय दिया है, उसने साम्राज्यवाद की इस असमर्थता को और भी स्पष्ट कर दिया।

खेतिहरों की सहायता के लिए अनेक कानून बनाये गये, लेकिन उनसे कर्ज के बोझे का बढ़ना नहीं रुका। यह बात कृषि कमीशन की रिपोर्ट में भी स्वीकार की जा चुकी है। इसी प्रकार, जमीन पर किसानों के अधिकारों की रक्षा के लिए भी अनेक कानून बनाये गये; लेकिन उनसे जमींदारी प्रथा और शिकमी प्रथा का विकास नहीं रुका, उनसे हर साल लगान बढ़ते जाने की क्रिया बन्द नहीं हुई; और जिन थोड़े से किसानों को कुछ विशेष अधिकार दिये गये थे, वे खुद अक्सर छोटे जमींदार बन गये और अधिकार-विहीन किसानों का शोषण करने लगे।

उन्नीसवीं सदी के मध्य से ब्रिटिश सरकार ने सिंचाई की व्यवस्था के सम्बन्ध में जो थोड़ा-बहुत काम किया है, उसका बहुधा बड़ा ढोल पीटा जाता है। लेकिन १९३९-४० में भी ब्रिटिश भारत के कुल जितने रकबे पर खेती होती थी, उसका केवल २३ प्रतिशत भाग सिंचाई वाला रकबा था। और उसमें भी सरकार की तरफ से सिंचाई केवल १० प्रतिशत पर होती थी। १९४९-५० का आंकड़ा यह बताता है कि भारत संघ में कुल जितनी जमीन जोती गयी, उसके केवल १७.७ प्रतिशत भाग की सिंचाई हुई थी।

१९४७ के बाद, भारतीय तथा पाकिस्तानी सरकारों के मातहत जो अनुभव हुआ है, उससे भी यह साबित होता है कि इन नयी सरकारों ने हालांकि भूमि व्यवस्था में अनेक सुधार किये हैं, मगर चूंकि वे उन बड़े-बड़े एकाधिकारी पूंजीपतियों और जमींदारों के शासन का प्रतिनिधित्व करती हैं जिनका साम्राज्यवाद से घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसलिए वे खेती के संकट को हल करने में असफल रही हैं।

भारत संघ और पाकिस्तान के लगभग सभी प्रदेशों में जमींदारी और जागीरदारी प्रथाओं को खत्म करने के लिए रस्मी तौर पर कानून पास हो चुके हैं। इसके साथ-साथ जोतों के विस्तार की हदबन्दी कर दी गई है। लेकिन इन कानूनों से बहुत कम लाभ हुआ है, और व्यावहारिक रूप में उनसे जमींदारी प्रथा तो हरगिज खत्म नहीं हुई है। न ही इन कानूनों से साधारण किसान और खेत-मजदूर जनता की समस्याएं हल हुई हैं।

"जमींदारी उन्मूलन" के इन कानूनों को बनाते समय इस साधारण सिद्धान्त को आधार बनाया गया है कि जमींदारों को लगान की मौजूदा दरों के मुताबिक पूरा मुआवजा दिया जाय। इस मुआवजे के रूप में जो आर्थिक बोझा किसानों पर पड़ता है, उसी का यह नतीजा हुआ है कि इनमें से बहुत

से कानून व्यवहार में कार्यान्वित नहीं किये जा सके हैं, और जहां कहीं इन कानूनों पर अमल भी हुआ है, वहां किसानों पर लदे हुए आर्थिक बोझ का केवल रूप बदला है, उसमें कोई खास कमी नहीं आयी है; और कुछ जगहों में तो वह बढ़ गया है (पहले जमीदार को जितना लगान देना पड़ता था, अब उससे ज्यादा मुआवजे की किस्त के रूप में देना होता है)।

इन कानूनों से केवल थोड़े से धनी किसानों को लाभ हुआ है। अधिकतर गरीब किसानों को, अस्थाई पट्टे वाले काश्तकारों को, बटाईदारों को और खेत मजदूरों को उनसे कोई लाभ नहीं हुआ है। इसके अलावा; जहां कहीं जमीन के पट्टों पर नामचारे के लिए हद बांध दी गयी है, वहां भी व्यवहार में जमीदार अपनी विशाल जमीदारियों को सुरक्षित रखने में कामयाब हुए हैं, क्योंकि उन्होंने दिखावे के लिए अपनी जमीन अपने भाई-भतीजों में बांट दी है या ऐसी ही कोई और तरकीब करके या बहाना बनाकर कानून से बच गये हैं।

भारत संघ के विधान में बिना मुआवजा दिये किसी की सम्पत्ति लेने पर रोक लगा दी गयी है। १९४८ में भारत सरकार ने आदेश निकाला कि प्रदेशों की दरिद्र सरकारों को जमीदारों को मुआवजा देना होगा और इस काम के लिए उन्हें केन्द्र से कोई आर्थिक सहायता नहीं मिलेगी। १९४९ में भारत सरकार के वित्त-मन्त्री ने इस सिद्धांत की घोषणा की कि जिस कानून में "सरकारी आय में से अथवा सच्चा कर्ज लेकर मुआवजा देने की व्यवस्था नहीं हो, उसे रद्द कर देना चाहिए।" मतलब यह हुआ कि जमीदारों को उनकी जायदाद के एवज में सूद देने वाली बांडों के रूप में या सालाना किस्तों के रूप में मुआवजा नहीं दिया जाना चाहिए।

इन घातक बन्दिशों का जो नतीजा हुआ, वह होना लाजमी था। १९५० में भारत के रिजर्व बैंक ने हिसाब लगाया कि केवल सात प्रदेशों में ही ४१४ करोड़ रुपये का मुआवजा देना होगा। नवम्बर १९५१ में पश्चिम बंगाल के मुख्यमन्त्री डा. विधानचन्द्र राय ने ऐलान किया कि जमीदारी उन्मूलन के लिए कोई बिल पेश करना व्यर्थ है, क्योंकि उसका आर्थिक बोझा उठाना नामुमकिन है, और इसलिए ऐसे कानूनों से किसानों का कोई लाभ न होगा। उत्तर प्रदेश में, जहां मुआवजे की रकम १६० करोड़ रुपये या १२ करोड़ पौंड बैठती थी, यह तरकीब इस्तेमाल की गयी कि किसानों से "जमीदारी उन्मूलन कोष" में स्वेच्छा से रुपया जमा करने लिए कहा गया। इस तरह जो किसान लगान की दस-गुनी रकम जमा कर देता था, उसे लगान पर ली हुई जमीन के ऊपर अधिकार मिल जाता था। असल में केवल धनी किसानों की एक छोटी सी संख्या ही इस व्यवस्था से लाभ उठा सकी। दूसरे प्रदेशों में किसानों को चालीस साल तक मुआवजा देना पड़ेगा।

इसलिए, कोई आश्चर्य नहीं यदि प्रोफेसर बालोग अपनी भारत यात्रा के बाद इस नतीजे पर पहुंचे :

"भूमि-सुधार, विशेषकर व्यक्तिगत जोतों की हदबन्दी का कानून, ...देश के काफी बड़े भाग में अमल में नहीं आ सका।" (न्यूयार्क नेशन, १२ मार्च १९५५)

श्री विनोबा भावे के नेतृत्व में चलने वाले "भूदान" आंदोलन को सरकार का आशीर्वाद प्राप्त है। यह आन्दोलन सीधे-सीधे तेलंगाना के उन किसानों के विद्रोह से उत्पन्न हुआ है, जिन्होंने जमीन पर कब्जा कर लिया था। इस आन्दोलन का उद्देश्य है किसानों के विद्रोह को रोकना और भूमि-सुधार के कानूनों की असफलता से उत्पन्न असंतोष को पथभ्रष्ट कर देना। इसके लिए जमीदारों से कहा जाता है कि वे अपनी जमीनों का एक हिस्सा स्वेच्छा से दान कर दें। यह लाजमी था कि इस प्रकार के आन्दोलन के ठोस नतीजे बहुत कम हों। ऐसा आन्दोलन मूल समस्या के एक नन्हें से अंग पर ही प्रभाव डाल सकता है। लेकिन उसका महत्व उसके नतीजों में नहीं है। भूदान आन्दोलन का असली महत्व इस बात में है कि उसके रूप में अर्ध-सरकारी तौर पर शासकों ने भी यह मान लिया है कि तथाकथित "जमीदारी उन्मूलन" कानून असफल रहे हैं।

भारत की खेती की समस्या एक सफल जन-क्रान्ति के द्वारा हल होगी, और वह होनी अभी बाकी है।

४. किसान आन्दोलन की प्रगति

पिछले कुछ वर्षों में किसान-आंदोलन में जो प्रगति हुई है, वह इस पृष्ठ-भूमि में भारत की एक सबसे महत्वपूर्ण घटना बन जाती है।

जब से भारत में अंग्रेजी राज्य कायम हुआ, तभी से किसानों में बार-बार बेचैनी पैदा हुई और किसानों के विद्रोह हुए तथा उनकी संख्या और तेजी बराबर बढ़ती ही गयी। शुरू-शुरू में किसानों का गुस्सा और बेचैनी अलग-अलग साहूकारों और जमीदारों से बदला लेने और हिंसा का प्रयोग करने की इक्की-दुक्की कार्रवाइयों का स्वयं-स्फूर्त रूप लेती थीं।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में जो किसान विद्रोह हुए, उनमें सबसे महत्व-पूर्ण १८५५ का संथाल विद्रोह और १८७५ का दकन विद्रोह थे।

लेकिन, असल में १९१४-१८ के महायुद्ध के बाद और विशेषकर संसार-व्यापी अर्थ-संकट के बाद से, इस आधुनिक काल में ही, किसानों की बेचैनी

अभूतपूर्व गति से बढ़ी है और अधिकाधिक उग्र रूप धारण करती गयी है। भारत की खेती की अर्थव्यवस्था का पहले से ही दम निकला हुआ था। ऊपर से संसारव्यापी अर्थ संकट ने तो उसकी कमर ही तोड़ डाली। उसके फलस्वरूप लगान बढ़ाने, कर्जदारों को गुलाम बनाने और किसानों की जमीन छीनने की जो क्रिया शुरू हुई, उसका परिणाम भारत के सभी भागों में किसान आन्दोलन के जन्म के रूप में प्रकट हुआ। किसान अपने-आप गांव-कमिटियां बनाने लगे। उनके जरिये वे बेदखलियों का विरोध करते थे, कुर्क जमीनों की नीलामियों का बहिष्कार करते थे और साहूकारों के खिलाफ अपनी एकता दृढ़ करते थे।

ये किसानों की अपनी मुसीबतें और तकलीफें थीं जो उनको भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के राजनीतिक संघर्ष में खींच लायीं। लेकिन, राजनीतिक संघर्ष का कभी स्थानीय किसान कमिटी से सीधा सम्बन्ध नहीं स्थापित किया गया। धीरे-धीरे किसान इन कमिटियों को विकसित करने और खुद अपने जन-संगठन बनाने की आवश्यकता महसूस करने लगे। किसानों की गांव-कमिटियों ने धीरे-धीरे एक दूसरे के साथ सम्बंध स्थापित करके जिला कमिटियों की स्थापना की और ये जिला-कमिटियां शुरू में बहुत ढीले-ढाले ढंग से प्रान्तीय संगठनों के रूप में एक-दूसरे से सम्बन्धित हो गयीं।

१९३६ में पहला अखिल भारतीय किसान संगठन बना—उसका नाम था अखिल भारतीय किसान सभा। इस संगठन का पहला अखिल भारतीय अधिवेशन दिसम्बर १९३६ में राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन के साथ-साथ फैजपुर में हुआ। उसमें बीस हजार किसानों ने भाग लिया, जिनमें से बहुत से सैकड़ों मील पैदल चलकर आये थे। इसके साथ कांग्रेस ने अपने फैजपुर अधिवेशन में खेती-सम्बन्धी एक कार्यक्रम पास किया और दोनों संगठनों के राजनीतिक भाई-चारे की घोषणा की गयी।

अखिल भारतीय किसान सभा का चौथा अधिवेशन अप्रैल १९३९ में गया में हुआ, जहां उसके सदस्यों की संख्या ८ लाख बतायी गयी।

गया अधिवेशन के कुछ महीने बाद ही दूसरा महायुद्ध छिड़ गया। "भारत रक्षा कानून" के नाम पर भारतीय जनता का क्रूर दमन होने लगा। लेकिन तमाम दमन के बावजूद, सारे देश में किसानों ने साम्राज्यवादी-सामन्ती व्यवस्था के खिलाफ अपना संघर्ष जारी रखा।

१९४२-४५ का काल पूरे किसान आन्दोलन के लिए अग्नि-परीक्षा का काल था। अगस्त १९४२ में साम्राज्यवाद ने पूरे राष्ट्रीय आन्दोलन पर एक क्रूर हमला किया। कांग्रेस के नेताओं की गिरफ्तारी के बाद दमन की चक्की अंधाधुन्ध चलने लगी।

इस समय संगठित किसान आन्दोलन के कंधों पर एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी आ पड़ी। इस जिम्मेदारी को पूरा करने के लिए अखिल भारतीय किसान सभा और उसकी प्रान्तीय शाखाओं ने राष्ट्रीय नेताओं की रिहाई और एक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के लिए दृढ़तापूर्वक आन्दोलन चलाया; सरकार के दमन का बहादुरी से मुकाबला किया; युद्ध-कोष के लिए किसानों से जबर्दस्ती पैसा वसूल करने का विरोध किया; अधिक अन्न पैदा करने के लिए एक आत्म-सहायता आन्दोलन संगठित किया; और हर गांव में नौकरशाहों, अनाजचोरों और चोर बाजारियों को शिकस्त दी।

यह पूरा काल भारतीय किसानों की महान सफलताओं से भरा है। आंध्र में हजारों और लाखों एकड़ परती जमीन तोड़कर जोती-बोयी गयी। जब बंगाल की जनता को अकाल के दैत्य ने आ दबोचा, तो अखिल भारतीय किसान सभा के नेतृत्व में सारे देश में बंगाल की सहायता का आन्दोलन चलाया गया। किसानों ने बंगाल की जनता के प्रति अपना कर्तव्य समझा और देश के कोने-कोने में उन्होंने बंगाल की मदद के लिए धन और अनाज जमा किया। खुद अपने प्रान्तों के अन्दर किसानों ने अनाज-कमिटियां कायम कीं, चोर-बाजारियों का भंडाफोड़ किया और अनाज के छिपे हुए गोदामों का पता लगाकर उनका अन्न जरूरतमन्द जनता के बीच बांट दिया।

अखिल भारतीय किसान सभा देश की आजादी के लिए और जन-साधारण के अधिकारों के लिए दृढ़तापूर्वक लड़ रही थी। इसलिए, वह अधिकाधिक शक्तिशाली और जनप्रिय संगठन बनती गयी। १९४२ में उसके सदस्यों की संख्या २२५,७८१ थी; १९४४ में वह ५५३,४२७ हो गयी और १९४५ में ८२६,९८९ तक पहुंच गयी। युद्ध समाप्त होने पर भारत की गरीब किसान जनता में जाग्रति की एक नयी लहर आयी। इस समय अन्न संकट बहुत तीखा हो गया था और तेजी से बढ़ रहा था। जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं की बड़ी कमी थी और उनके दाम एकदम चढ़ गये थे। गांवों में सरकार की क्रूरता और जमींदारों का अत्याचार सीमा पार गया था। ये तमाम बातें भारत के किसानों को अपने अधिकारों की रक्षा के लिए अधिकाधिक लड़ाकू ढंग से संघर्ष करने को मजबूर कर रही थीं। एक ओर, किसान यह मांग कर रहे थे कि जमींदारी प्रथा को खत्म करने के लिए तुरन्त कानून बनाये जायें; दूसरी ओर, वे खुद भी पहल कर रहे थे और किसान सभा के नेतृत्व में जमींदारों की परती जमीन पर कब्जा कर रहे थे, और उन्हें बेदखल करने तथा लगान बढ़ाने की कोशिशों का जबर्दस्त मुकाबला कर रहे थे।

हाल के कुछ वर्षों में यह बढ़ता हुआ किसान विद्रोह नयी ऊंचाइयों पर पहुंचा है। इसका एक उदाहरण, बंगाल का तिभागा आन्दोलन है, और दूसरा

सबसे बड़ा उदाहरण हैदराबाद में तेलंगाना का महान आन्दोलन है। तेलंगाना में २,००० गांवों ने निजाम के फासिस्ट गुंडों के अत्याचारों से अपनी रक्षा करने के लिए अपनी जन-समितियां बनायीं, जमीन पर अधिकार कर लिया, और १५,००० वर्ग-मील के इलाके में—जो मोटे तौर पर डेनमार्क के रकबे के बराबर होता है—खुद अपना शासन-प्रबंध और सैनिक व्यवस्था कायम की। इन घटनाओं से इस बात की सूचना मिल रही थी कि भारत में परिस्थितियां परिपक्व हो रही हैं और किसान-क्रांति की घड़ी नजदीक आ रही है।

अध्याय १०

भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन का उदय

इसके पहले के तमाम अध्यायों में हमने मुख्यतया इतिहास की वस्तु के रूप में भारतीय जनता की स्थिति और दुखद गाथा का वर्णन किया है। अब अधिक सुखदायी अध्याय प्रारम्भ होता है। आगे हम इतिहास के कर्ता के रूप में भारत की जनता की चर्चा करेंगे।

१. एकता और विविधता

शुरू-शुरू के दिनों में साम्राज्यवाद के समर्थक एक विशेष प्रश्न किया करते थे। वे पूछा करते थे: क्या भारत के लोगों की कोई एक कौम है? क्या भारत में रहने वाले तरह-तरह की नस्लों और धर्मों के लोगों को, जिनको जात-पांत की दीवारों ने अनेक टुकड़ों में बांट रखा है, जिनमें भाषा के और अन्य अनेक प्रकार के भेद पाये जाते हैं, और जिनके अलग-अलग हिस्सों का सामाजिक तथा सांस्कृतिक स्तर अलग-अलग है—क्या इस पंचमेल खिचड़ी को एक 'राष्ट्र" या एक "जाति" कहा जा सकता है, या क्या ये लोग कभी भी एक कौम बन सकते हैं?

पुराने मत के साम्राज्यवादी भारत के लोगों को एक जाति समझने की प्रत्येक धारणा को भ्रम और आत्म-प्रवंचना कहकर उपेक्षा से ठुकरा दिया करते थे। "भारत नाम की कोई चीज न तो है और न कभी होगी"—यह सर जान स्ट्रैची की घोषणा थी। जो उन्होंने १८८८ में की थी। बीसवीं सदी में राष्ट्रीय आन्दोलन की बढ़ती हुई शक्ति के कारण यह पहले से ज्यादा माना जाने लगा कि भारतीय नाम की भी एक जाति है। कम से कम उदारतावादी मत के साम्राज्यवादियों ने तो यह बात मान ही ली। और तब यह दलील दी जाने लगी कि भारत के लोगों का एक जाति के रूप में संगठित हो जाना अंग्रेजी राज की देन है और अंग्रेजों के उदारतावादी विचारों के भारत में फैलने का परिणाम है। कहा जाता था कि अंग्रेजी राज की इस महान सफलता से पता चलता है कि ब्रिटिश शासन भारतीय जनता के लिए कितना हितकारी साबित हुआ है। पिछले कुछ वर्षों से यह नया प्रचार हो रहा है कि हिन्दुओं और मुसलमानों की दो अलग-अलग जातियां हैं।

भारत की विविधता को अपना आधार बनाने वाली दलील ब्रिटिश शासन के अन्तिम दिनों तक बहुत प्रचलित थी। साइमन कमीशन की रिपोर्ट के "पर्यालोकन खंड" में वह आज भी अपनी पूरी शान-शौकत के साथ देखी जा सकती है। साइमन कमीशन की रिपोर्ट का यह खंड भारत के बारे में आधुनिक ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रचार का मुख्य ग्रंथ है। इस चिरस्मरणीय राजकीय पुस्तक के आरम्भ में ही घोषणा कर दी गयी है कि "जो भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन कहलाता है," वह वास्तव में "भारत की असंख्य जनता के केवल एक बहुत छोटे भाग की आशा-आकांक्षाओं को ही सीधे-सीधे प्रभावित करता है।" इस घोषणा में कितनी दूरदर्शिता कूट-कूटकर भरी थी, यह थोड़े दिनों के बाद ही तब एकदम साफ हो गया जब १९३०-३४ के सविनय अवज्ञा आन्दोलन का स्वरूप और १९३७ के आम चुनाव के नतीजे सामने आये। इस घोषणा के बाद रिपोर्ट में भारत का एक प्रचलित चित्र पेश करके पाठकों को डराने और आंतकित करने का प्रयत्न किया गया है। हर कदम पर रिपोर्ट के लेखक यह दावा करते जाते हैं कि वे तो विशुद्ध वैज्ञानिक, पूर्णतया तटस्थ और निष्पक्ष दृष्टिकोण से केवल तथ्यों को पाठकों के सामने पेश कर रहे हैं जिससे उनका ज्ञान बढ़े। और उसके साथ-साथ वे कभी भारतीय "समस्या" की "विशालता और दुरूहता" से पाठकों को डराते हैं, तो कभी भारत की "विशाल भूमि और विराट जनसंख्या" की चर्चा करते हैं। कभी "२२२ बोलियों" से पैदा होने वाली "भाषा की समस्या" का जिक्र करते हैं, तो कभी "धार्मिक क्षेत्र में पाये जाने वाले असंख्य भेदों" का हवाला देते हैं, और "हिन्दुओं और मुसलमानों के बुनियादी विरोध" का हौआ खड़ा करते हैं। "तरह-तरह की नस्लों और धर्मों की पंचमेल खिचड़ी," "नस्लों और धर्मों का यह जमाव," "विविध प्रकार के जन-समूहों का यह ढेर"—और इसी प्रकार के अन्य नम्रता और भलमनसाहत से भरे विशेषण इस ग्रंथ में भरे पड़े हैं।

ऊपर से देखने में भले ही यह लगता हो कि इस ग्रंथ के लिखने वालों ने तो केवल निष्पक्ष राजनीतिज्ञों की तरह कुछ कड़वे तथ्यों को स्वीकार भर किया है; लेकिन वास्तव में यह केवल मिथ्या और बेशर्म प्रचार है। साइमन कमीशन की रिपोर्ट में जान-बूझकर और एक खास उद्देश्य को सामने रखकर कुछ तथ्यों को छांटा गया है और इन तथ्यों के पीछे जो वास्तविकता थी, उसको तोड़-मरोड़ कर पेश किया गया है। भारत की मौजूदा हालत को समझने के लिए जितनी बातें महत्वपूर्ण थीं, उन सब पर पर्दा डाल दिया गया है और जितनी बातों से भारत के लोगों की बदनामी होती थी और अंग्रेजों के "फूट डालो और राज करो"

के सरकारी सिद्धांत को बल मिलता था, उन सब की बड़े प्रेम और विस्तार के साथ विवेचना की गयी है।

साइमन कमीशन की रिपोर्ट में जिस भावना के साथ भारत की परिस्थितियों का अवलोकन किया गया है, उसकी एक बड़ी सुन्दर नकल आर. पेज आर्नोट ने तैयार की है: "संयुक्त राज्य अमरीका के विशाल भूखंड के अलग-अलग हिस्सों में विभिन्न प्रकार की जलवायु और भौगोलिक विशेषताएं पायी जाती हैं और वहां के रहने वालों में इसी प्रकार तरह-तरह के नस्ल और धर्म के भेद पाये जाते हैं...।" सच तो यह है कि अमरीकी क्रांति के कुछ समय पहले अंग्रेज लोग अमरीकी कौम के बारे में भी इसी तरह के गूढ़ "विश्लेषण" किया करते थे और इस बात के "प्रमाण" दिया करते थे कि अमरीकी कौम का एकताबद्ध होना असम्भव है।

पुराने जमाने में भारत में कितनी एकता थी और कितनी नहीं, यह प्रश्न इतिहासकारों के लिए छोड़ा जा सकता है। यह ध्यान देने की बात है कि आधुनिक काल के इतिहासकार और अनुसंधानकर्त्ता, यहां तक कि उनमें से साम्राज्यवाद का पक्ष लेने वाले लोग भी, अब उन बातों का समर्थन नहीं करते जो कि पचास वर्ष पहले डंके की चोट पर कही जाती थीं। विंसेट ए. स्मिथ ने १६१६ में लिखा था: "समस्त भारत की राजनीतिक एकता हालांकि कभी पूरी तौर पर स्थापित नहीं हुई है, परन्तु वह सदियों से जनता का आदर्श अवश्य रही है।"

अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न जिस पर विचार करने की आवश्यकता है, यह है कि इस समय भारत में कितनी एकता है और कितने भेद हैं। और तब उन भेदों के बारे में कुछ कहना आवश्यक हो जाता है जिनका साम्राज्यवादी प्रचारकों ने इतना ढोल पीटा है और जिसकी वजह से उनका कहना है कि भारत के लोगों को स्वराज्य देना असम्भव हो गया था और अंग्रेजी राज कायम रखना जरूरी हो गया था।

२. जात-पांत, धर्म और भाषा के सवाल

इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारतीय जनता को बीते हुए जमाने से विरासत के रूप में तरह-तरह की समस्याएं, उलझनें, भेद और असमानताएं मिली हैं और वे पुराने जमाने के अवशेष के तौर पर आज भी मौजूद हैं और जिन्हें भारत के लोगों को दूर करना है। हर कौम की कुछ अपनी खास समस्याएं होती हैं जो उसे अपने पुराने इतिहास से विरासत में मिलती हैं। साम्राज्यवाद से पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करना क्यों आवश्यक है, इसका एक सबसे बड़ा कारण

यह भी है कि तब भारतीय जनता के प्रगतिशील नेताओं को इन समस्याओं में हाथ लगाने और उन्हें हल करने का मौका मिलेगा और वे भारत के लोगों को जनवादी एवं सामाजिक प्रगति के मार्ग पर ले जा सकेंगे। कारण कि पिछले पचास वर्षों के अनुभव से खास तौर पर यह बात साबित हो गयी है कि साम्राज्यवाद के पतन के इस आधुनिक काल में भारत के स्वतंत्रता आन्दोलन के प्रतिनिधि अधिकाधिक सक्रिय रूप से इन बुराइयों पर हमला कर रहे हैं, जब कि साम्राज्यवाद सुधार की अनेक योजनाओं के रास्ते में अड़ंगे डालने का काम कर रहा है और इस तरह पेश आ रहा है जिससे ये बुराइयां जिन्दा रहती हैं और यहां तक कि और उग्र रूप धारण कर लेती हैं।

ऐसी नीति खुद अपना मुंह काला कर लेती है जो व्यवहार में तो एक पराधीन कौम की फूट और पिछड़ेपन का पोषण करती है और उनको कायम रखती है, और यहां तक कि अपने शासन के तरीकों से उन्हें और बढ़ावा देती है, मगर दिखावे के लिए इस बात का ढोल पीटती है कि इन अफसोसनाक बुराइयों से प्रमाणित हो जाता है कि यह कौम न तो कभी अपने अन्दर एकता स्थापित कर सकती है और न स्वराज्य के योग्य बन सकती है।

वस्तुतः स्वयं साइमन कमीशन को अपनी रिपोर्ट में यह मानना पड़ा था कि हिन्दू-मुस्लिम विरोध उन इलाकों की विशेषता है जो सीधे अंग्रेजी राज के मातहत हैं, और यह विरोध अंग्रेजी राज में बढ़ा है। इसके कारण उन राजनीतिक बातों से सम्बंधित है, जो साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्रों की स्थापना के रूप में प्रकट हुई थीं, और अन्त में जिनका परिणाम भारत के बंटवारे के रूप में सामने आया था।

जहां तक जात-पांत और छूत-अछूत के भेदों का सवाल है, हम इस बात की सराहना किये बिना नहीं रह सकते कि साम्राज्यवादी लोग अछूतों तथा दलित जातियों पर इतने दयालु हैं कि वे सदा उनकी संख्या को बढ़ाते रहने का प्रयत्न करते आये हैं! लगभग एक पीढ़ी पहले, जब राजनीतिक परिस्थिति ने इतना उग्र रूप धारण नहीं किया था, तब आम तौर पर अछूतों और दलित जातियों के लोगों की संख्या ३ करोड़ बतायी जाती थी। १६१० में वैलंटाइन चिरोल ने उसे बढ़ाकर ५ करोड़ कर दिया। १६२६ में एंस्टे ने उसे ६ करोड़ पर पहुंचा दिया।

अछूत प्रथा के खिलाफ ब्रिटिश सरकार ने नहीं, बल्कि प्रगतिशील राष्ट्रीय आन्दोलन ने संघर्ष चलाया है। पाठकों को वह घटना याद होगी जब महात्मा गांधी के आन्दोलन के प्रभाव से दक्षिण भारत के कुछ प्रसिद्ध मंदिरों ने, जिनमें सदियों से अछूतों का प्रवेश वर्जित था अपने द्वार उनके लिए खोल दिये थे। तब अछूतों को मन्दिरों में घुसने से रोकने के लिए ब्रिटिश सरकार ने अपनी

पुलिस भेजी थी और दलील यह दी थी कि अछूतों के मन्दिर प्रवेश से जनता की धार्मिक भावनाओं को ठेस लगेगी और इसलिए उसे रोकना सरकार का पुनीत कर्तव्य है ।

हां, इस बात की ब्रिटिश सरकार को अवश्य चिन्ता थी कि अछूतों या दलित जातियों के लोगों की मतदाताओं की सूची अलग से बनायी जाय और उनको अलग से अपने प्रतिनिधि चुनकर भेजने की गारंटी दी जाय, ताकि भारत के लोगों में फूट का एक और तत्व पैदा हो जाय और कांग्रेस कमजोर पड़ जाय । खुद अछूत लोगों का सरकार के इस अति-स्नेह के विषय में क्या विचार था, यह अछूत संघ के नेता डाक्टर अम्बेदकर के मुंह से सुनिए, जिनको सरकार भी अछूतों का नेता और प्रवक्ता मानती है :

> "अंग्रेज लोग हमारी शोचनीय हालत का विज्ञापन इसलिए नहीं करते कि वे उसे बदलना चाहते हैं, बल्कि वे केवल इसलिए उसका ढोल पीटते हैं कि ऐसा करने पर उन्हें भारत की राजनीतिक प्रगति को रोकने का एक बहाना मिल जाता है ।"

दलित जातियों के लोगों के हित और उनकी मुक्ति का लक्ष्य अवश्यम्भावी रूप से सम्पूर्ण भारतीय जनता के राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन से जुड़ा है ।

जात-पांत की समाज को पंगु बनाने वाली प्रथा उपदेश देने या कोसने से नहीं खत्म होगी । वह तो केवल आधुनिक उद्योग-धंधों तथा राजनीतिक जनतंत्र के विकास से ही मिटेगी । जैसे-जैसे पुराने सामाजिक बंधनों का स्थान नये सामाजिक बन्धन और समान हित लेते जायेंगे, वैसे-वैसे यह प्रथा भी मिटती जायेगी । मार्क्स के शब्दों में : "आधुनिक उद्योग धंधे उस वंश-परम्परागत श्रम-विभाजन को मिटा देंगे जिस पर भारत की जात-पांत की वह व्यवस्था आधारित है जो भारत की उन्नति और शक्ति-वर्धन के रास्ते में जबर्दस्त अड़ंगा बनी हुई है ।" मार्क्स ने सौ वर्ष पहले जो भविष्यवाणी की थी, वह किस प्रकार सच उतर रही है, इसका एक प्रमाण १९२१ की जनगणना की रिपोर्ट में मिलता है । उसमें कहा गया है : "जमशेदपुर जैसी जगहों में, जहां कि आधुनिक परिस्थितियों में काम हो रहा है, सभी जातियों और नस्लों के लोग मिल में साथ-साथ काम करते हैं और इस बात की कोई चिन्ता नहीं करते कि उनके बराबर में जो काम कर रहा है, उसकी क्या जात है ।"

जहां तक भाषाओं के भेद का सवाल है, यदि हम १९२१ की जनगणना की, जिसे साइमन कमीशन ने अपना आधार बनाया है, १९०१ की जनगणना से तुलना करें तो हम इस दिलचस्प नतीजे पर पहुंचते हैं कि १९०१ और १९२१ के बीच आबादी २९ करोड़ २० लाख से बढ़ कर केवल ३१ करोड़

६० लाख हुई, लेकिन उसी अरसे में भाषाओं की संख्या १४७ से बढ़कर २२२ हो गयी।

लेकिन, यदि थोड़े और विस्तार से विचार किया जाय तो "२२२ अलग-अलग भाषाओं" की इस पुराण-कथा पर काफी प्रकाश पड़ जाता है। इस संख्या में १३४ हिन्द-चीनी भाषाएं शामिल हैं, और १६०६ में प्रकाशित भारत का इम्पीरियल गजेटियर हमें बताता है कि इन भाषाओं में से प्रत्येक के कितने बोलने वाले हैं। उदाहरण के लिए, कुछ भाषाओं के बोलने वालों की संख्या देखिए : कबुइ भाषा को ४ आदमी बोलते हैं, आंद्रो को १ आदमी, कसुई को ११, आनू को १५, आका को २६, ताइरोंग को १२, और नोरा को २। अभी तक यह समझा जाता था कि भाषा मनुष्यों के बीच विचारों के आदान-प्रदान का साधन है; लेकिन जब आंद्रो भाषा को केवल १ आदमी बोलता है, तो निश्चय ही भाषा के विषय में हमें अपनी धारणा बदलनी होगी। मगर नोरा नामक भाषा के भाषा होने में किसी को सन्देह नहीं हो सकता, क्योंकि आखिर उसके बोलने वालों की संख्या २ है !

उसके बाद जब १६३१ की जनगणना हुई तो उसमें भाषाओं की संख्या २०३ ही रह गयी। लगता है, जिन भाषाओं के केवल एक, दो, चार बोलने वाले थे, उनके बोलने वाले इस बीच दुर्भाग्यवश मर गये थे और इस प्रकार अपनी नासमझी के कारण भारत के लोगों की स्वराज्य की मांग के खिलाफ साम्राज्यवादियों की दलीलों को कमजोर कर गये थे ! १६३७ में बर्मा के भारत से अलग हो जाने पर तो मानो भाषाओं की सूची में महामारी फैल गयी, क्योंकि भारत के लोगों में फूट साबित करने के लिए जिन सैकड़ों भाषाओं का नाम गिनाया जाता था, उनमें से अधिकतर (१२८) बर्मा की भाषाएं थीं।

भारत में भाषाओं की समस्या व्यावहारिक रूप से १२ या १३ भाषाओं की समस्या है, जिनमें से ६ उत्तर-भारतीय भाषाएं एक-दूसरे से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रखती हैं। यहां तक कि १६२१ की जनगणना की रिपोर्ट को भी यह कहना पड़ा था :

> "इसमें कोई सन्देह नहीं कि उत्तर तथा मध्य भारत की मुख्य भाषाओं में एक समान तत्व है; जिसके कारण उनके बोलने वाले बिना अपनी बोलचाल में कोई खास परिवर्तन किये एक-दूसरे की बात समझ लेते हैं। इस प्रकार भारत के बहुत बड़े हिस्से के लिए समान भाषा का आधार पहले से ही तैयार है।"

भारतीय नाम की कोई जाति है या नहीं, इसका प्रमाण आंकड़ेबाजों

के दफ्तरों में या पार्लामेंट के मंत्रणागृहों में नहीं मिल सकता। इसका प्रमाण तो अमल के मैदान में मिल चुका है। बीसवीं सदी का पूरा अनुभव इसका प्रमाण है, क्योंकि भारत के लोगों की विविधता अथवा उनका बहु-जातीय स्वरूप इस बुनियादी एकता का खंडन नहीं करते। वे तो ऐसी सम-स्याएं हैं जिनको केवल भारत के लोग ही स्वयं हल कर सकते हैं।

३. भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन का श्रीगणेश

आधुनिक काल में, भारत में राष्ट्रीय जनवादी चेतना के अस्तित्व से इंकार करना व्यावहारिक रूप से असम्भव हो गया था। इसलिए साम्राज्यवाद के ज्यादा होशियार प्रतिनिधि एक नयी दलील देने लगे। वह यह कि भारत के लोगों में जो जातीय अथवा राष्ट्रीय चेतना दिखाई देती है, वह साम्राज्यवाद की देन है, उसे साम्राज्यवाद ने भारत में ब्रिटेन के जनवादी आदर्शों के बीज बोकर पैदा किया है। १९१८ में मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट ने कहा था: "भारत के लोगों का वह हिस्सा जिसमें राजनीतिक चेतना है...बौद्धिक रूप से हमारी सन्तान है।"

आधुनिक साम्राज्यवाद का यह दावा एक पतनोन्मुख शक्ति की निरीह आत्म-प्रवंचना तथा आत्म-परितुष्टि मात्र कदापि नहीं है। इस तर्क का व्याव-हारिक महत्व स्पष्ट है। उसका महत्व यह है कि यदि यह दावा सच है तो भारत की "विवेकशील" तथा "रचनात्मक" राष्ट्रवादिता को चाहिए कि वह साम्राज्यवाद को अपना शत्रु न समझे। और तब उसे राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करना बन्द करके साम्राज्यवाद से सहयोग और समझौता करना चाहिए, और यहां तक की कागजी "आजादी" की रामनामी की आड़ में या तो ब्रिटिश "राष्ट्र-समूह" अथवा साम्राज्य के अन्दर बने रहना चाहिए, या उससे सम्बन्ध कायम रखना चाहिए।

क्या यह समझना सही होगा कि भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन अंग्रेजी राज का फल और परिणाम है? निसन्देह, एक अर्थ में यह बात सही है। भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन चूंकि साम्राज्यवाद से लड़ने के दौरान में पैदा हुआ है और बढ़ा है, इसलिए इस अर्थ में साम्राज्यवाद उसकी भूमिका लिखने तथा उसका सूत्रपात करने का दावा कर सकता है। इसी तरह जारशाही भी रूस में मजदूर वर्ग की विजय का सूत्रपात करने का दावा कर सकती है और चार्ल्स प्रथम क्रामवेल की विजय के लिए परिस्थिति तैयार करने का दावा कर सकता है, और चीन पर हमला करने वाले जापानी यह दावा कर सकते हैं

कि वे अपने हमले से चीनी जनता को राष्ट्रीय एकता कायम करने में मदद दे रहे थे।

लेकिन आधुनिक काल के साम्राज्यवादी प्रचारकों का यह मतलब नहीं है। एल. एफ. रशब्रूक विलियम्स की तरह वे यह कहते हैं कि : "इंगलैंड के इतिहास ने भारत के लोगों को धीरे-धीरे नागरिक अधिकार प्राप्त करने का पाठ पढ़ाया। बर्क और मिल की सीखों के रूप में इंगलैंड की राजनीतिक विचारधारा ने इस पाठ को और दृढ़ता से उनके मन पर अंकित किया। शिक्षित भारतीयों की बुद्धि बुनियादी तौर पर बड़ी तेज होती है और वे जल्दी से जोश में आ जाते है। उनको ऐसा लगा मानो उन्होने दिव्य ज्ञान प्राप्त कर लिया हो।" (ह्वाट अबाउट इंडिया ?, १९३८)

इस दावे में सत्य का कितना अंश है ?

आधुनिक काल की जनवादी क्रान्ति, जो बहुत से देशों में हो चुकी है और जो इंगलैंड में बहुत पहले शुरू हुई थी, कोई खास इंगलैंड की चीज नहीं है। न ही यह कहना सही है कि जनवादी क्रांति का बीज बोने के लिए किसी देश पर विदेशी राज का होना आवश्यक है। उन्नीसवीं सदी के जनवादी आन्दोलन ने अमरीका की स्वतंत्रता की घोषणा से और उससे भी अधिक फ्रांस की महान क्रान्ति से जितनी प्रेरणा प्राप्त की थी, उतनी उसने इंगलैंड से नहीं की थी, जहां कि बादशाहत और पार्लामेंट के बीच समझौता हो गया था। और बीसवीं सदी में दुनिया भर के राष्ट्रीय स्वतंत्रता तथा सामाजिक एवं आर्थिक स्वतंत्रता के आंदोलनों को प्रेरणा देने का काम मुख्यतया १९०५ और १९१७ की रूसी क्रान्तियो ने और १९४९ की चीनी क्रांति की ऐतिहासिक विजय ने किया है।

भारत में जनता की जाग्रति संसार की इन्हीं धाराओं के साथ-साथ बढ़ी है, यह उसके इतिहास से साबित किया जा सकता है। उन्नीसवीं शताब्दी में भारत के पूंजीवादी-राष्ट्रवाद के पिता राम मोहन राय १८३० में इंगलैंड गये थे। उन्होंने बहुत तकलीफ उठाकर भी एक फ्रांसीसी जहाज में यात्रा की, ताकि इस प्रकार वह फ्रांसीसी क्रांति के सिद्धांतों में अपनी भक्ति तथा निष्ठा की घोषणा कर सकें। राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना शुरू में सरकारी प्रेरणा से हुई थी। उसे जनता के उठते हुए आन्दोलन को दबाने तथा अंग्रेजी राज को सुरक्षित रखने के उद्देश्य से बनाया गया था। वह बीस साल तक इसी हालत में पड़ी सोती रही और अपनी नींद से पहली बार तब जागी जब १९०५ के बाद जनता में बड़े पैमाने पर बेचैनी और हलचल पैदा हुई। उसके बाद जब बेचैनी की लहर दब गयी, तो कांग्रेस फिर नरमदली अंग्रेजभक्त राजनीति के शान्त सागर में विश्राम करने लगी। और जब १९१७ के बाद दुनिया भर में

जन-आन्दोलन की लहर उठी, तब वह भी फिर एक बार जागी और पहले से भी ज्यादा बड़े पैमाने पर आगे बढ़ चली।

क्या भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन इसलिए पैदा हुआ कि यहां के शिक्षित वर्ग को उसके शासकों ने बर्क, मिल और मैकाले की रचनाओं को पढ़ना और ग्लैडस्टन तथा ब्राइट जैसे वक्ताओं की पार्लमेंटी भाषण-शैली में रस लेना सिखा दिया था? साम्राज्यवादियों ने यही कहानी गढ़ रखी है। कहानी बहुत सरल है। इसी प्रकार यह भी कहा जाता है कि आधुनिक फ्रांस नेपोलियन की इच्छा-शक्ति से उत्पन्न हुआ है; और कैथोलिक कहते हैं कि प्रोटेस्टेंट धर्म लूथर की व्यक्तिगत दुर्भावनाओं से पैदा हुआ है। भारत का राष्ट्रीय आंदोलन यहां की सामाजिक परिस्थितियों से पैदा हुआ है। वह साम्राज्यवाद की परिस्थितियों से और उसकी शोषण की व्यवस्था से उत्पन्न हुआ है। वह उन सामाजिक तथा आर्थिक शक्तियों से पैदा हुआ है जो इस शोषण के कारण भारतीय समाज मे उत्पन्न हो गयी थीं। वह इस कारण पैदा हुआ है कि भारत में पूंजीपति वर्ग जन्म ले चुका था और शिक्षा की कैसी भी व्यवस्था होती, ब्रिटिश पूंजीपति वर्ग के प्रभुत्व के साथ उसका टकराव होना लाजमी था।

जब मैकाले ने भारत की प्राचीन शिक्षा पद्धति के समर्थकों को हरा कर साम्राज्यवाद की तरफ से यहां अंग्रेजी ढंग की शिक्षा जारी की थी, तो उसका उद्देश्य भारत के लोगों में राष्ट्रीय चेतना पैदा करना नहीं, बल्कि उसकी जड़ तक खोद डालना था। यह साम्राज्यवाद की पूरी व्यवस्था में निहित अन्तर्विरोधों का परिणाम था कि शिक्षा की जो पद्धति साम्राज्यवाद के हितों की रक्षा करने के लिए जारी की गयी थी, उसी ने भारत के लोगों के लिए इंगलैंड के जनवादी जन-आन्दोलनों और जन संघर्षों से, और मिल्टन, शेली तथा बायरन जैसे कवियों से प्रेरणा प्राप्त करने का भी रास्ता खोल दिया। इंगलैंड की यह महान जनवादी धारा उसी प्रकार की निरंकुशता से लड़ रही थी, जिस प्रकार की निरंकुशता भारत में कायम थी, और कभी-कभी तो उसका मुकाबला शासक वर्ग के उन्हीं व्यक्तियों से होता था जो भारत को गुलाम बनाये हुए थे और उसका शोषण कर रहे थे, जैसे पिट्ट, हेस्टिंग्ज, और वेलिंग्टन। इस असंगति का मूल कारण यह था कि भारत का साम्राज्यवादी शासन एक ऐसे देश का शासक वर्ग चला रहा था, जहां कि जनता खुद अपनी आजादी के लिए उससे लड़ रही थी।

भारत में अंग्रेजी राज की जो ऐतिहासिक भूमिका रही है, उसे कम करके दिखाने की जरूरत नहीं है। जिन शक्तियों ने भारत के लोगों को एक राष्ट्र के सांचे में ढाला है, उनको पैदा करने में भी अंग्रेजी राज ने—चाहे जितनी अनिच्छापूर्वक—जो योग दिया, उसे भी कम करके दिखाने की कोई आवश्य-

कता नहीं है। मार्क्स बता चुके हैं कि भारत में अंग्रेजी राज की भूमिका के वे कौन से दो तत्व थे जिनके कारण उसने "घोर स्वार्थी तथा नीचतम उद्देश्यों" से प्रेरित होकर भी "अनजाने में" भारत के विकास के लिए "इतिहास के साधन" का काम किया।

भारत में अंग्रेजी राज का पहला और सबसे महत्वपूर्ण परिणाम, या उसकी ध्वंसात्मक भूमिका की देन यह थी कि भारत में पुरानी समाज व्यवस्था का आधार निर्ममतापूर्वक नष्ट कर दिया गया। आगे किसी भी तरह की उन्नति के लिए पहले इस आधार का नाश होना जरूरी था। मगर लाजमी तौर पर इसका यह मतलब नहीं होता कि अंग्रेजों ने भारत को न जीता होता तो पुरानी समाज व्यवस्था का आधार मिटता ही नहीं। इसके विपरीत, जितनी सामग्री हमारे सामने मौजूद है, उसके आधार पर यह धारणा बनती है कि जिस समय अंग्रेजों ने भारत को जीता, उस समय यहां का परम्परागत समाज पूंजीवादी क्रान्ति की पहली मंजिल के कगार पर खड़ा कांप रहा था और यह मंजिल वह केवल अपने साधनों के बल पर तय करने वाला था। लेकिन भारतीय समाज परिवर्तनकालीन अव्यवस्था के दौर में ही था कि ब्रिटेन की पूर्णतया परिपक्व पूंजीवादी क्रांति ने उसे आ दबोचा और भारत पर अपना प्रभुत्व जमा लिया। फिर भी इतिहास में यही लिखा जायगा कि भारत की पुरानी समाज व्यवस्था का आधार अंग्रेजी राज ने नष्ट किया था।

अंग्रेजी राज की दूसरी देन यह थी कि उसने भारत में नयी समाज व्यवस्था का भौतिक आधार तैयार किया, हालांकि यह काम उसने उतने पूर्ण रूप में नहीं किया जितने पूर्ण रूप में उसने अपनी ध्वंसात्मक भूमिका अदा की थी।

लेकिन इन दोनों कामों से ही न तो भारतीय जनता को आजादी मिल सकती थी और न ही उसकी हालत में कुछ सुधार हो सकता था।

उसके लिए एक तीसरा कदम जरूरी था। उसके लिए जरूरी था कि भारत की जनता उत्पादन की नयी शक्तियों पर अधिकार कर ले और उनका अपने हित में संगठन करे। और जैसा कि मार्क्स ने बहुत जोर देकर कहा था, यह काम भारत की जनता खुद ही करेगी। जब साम्राज्यवाद के खिलाफ संघर्ष करती हुई वह इतनी शक्ति का संचय कर लेगी कि "अंग्रेजी जुए को एकदम उतार फेंकने में कामयाब हो जाय," तभी यह तीसरा कदम उठाया जा सकेगा।

उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में, अंग्रेजी राज के पहले काल में, अंग्रेज शासक भारत में जो तबाही और बर्बादी ढा रहे थे, और यहां के उद्योग-धंधों को जिस तरह तहस-नहस कर रहे थे, उसके बावजूद, या कहना चाहिए कि

उसी के जरिये, वे कुछ बातों में इतिहास के दृष्टिकोण से एक क्रान्तिकारी भूमिका अदा कर रहे थे। देशी रियासतों को जबर्दस्ती हड़प लेने की उनकी नीति के फलस्वरूप बहुत सी नवाबियां और रियासतें मिटती जा रही थीं और बाकी राजा और नवाब भय से थर-थर कांप रहे थे। यह आंशिक सुधारों का युग था। अंग्रेजी सरकार ने सती-प्रथा को बन्द कर दिया था (और भारतीय समाज के प्रगतिशील तत्वों ने इसका पूरे हृदय से समर्थन किया था)। उसने गुलामी की प्रथा को खत्म कर दिया (हालांकि अमल में यह कुछ रस्मी ढंग की कारंवाई साबित हुई)। वह शिशु-हत्या और ठगी के खिलाफ जिहाद चला रही थी। उसने देश में पश्चिमी ढंग की शिक्षा जारी की थी और पत्र-पत्रिकाओं को आजादी दी थी। शुरू के जमाने के इन अंग्रेज शासकों का दृष्टिकोण बड़ा कट्टर था। भारत की परम्परागत प्रथाओं में जो कुछ भी प्रतिक्रियावादी था, उसके साथ उन्हें जरा भी सहानुभूति न थी। उनका पक्का विश्वास था कि उन्नीसवीं सदी की अंग्रेजों की पूंजीवादी तथा ईसाई धारणाओं को समस्त मानवता की धारणाएं बन जाना चाहिए। फिर भी, ये लोग उस काल के उदीयमान पूंजीपति वर्ग की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करते थे, और इस रूप में उन्होंने भारत में सीमित ढंग के काफी परिवर्तन किये। उस जमाने में भारत के नवजात पूंजीपति वर्ग के प्रगतिशील तत्वों का प्रतिनिधित्व राजा राममोहन राय और ब्रह्म-समाजी आन्दोलन के समाज-सुधारक करते थे, और ये सब लोग अंग्रेजों की खुलेआम प्रशंसा किया करते थे और उन्हें भारत की प्रगति का समर्थक समझते थे। ये लोग अंग्रेजी सरकार के सुधारों का निस्संकोच समर्थन करते थे और उनको एक नयी सभ्यता की भूमिका समझते थे। अंग्रेजों के सबसे बड़े शत्रु पुराने प्रतिक्रियावादी राजा-रजवाड़े थे जो अंग्रेजों के इन कदमों को अपने अस्तित्व के लिए खतरनाक समझते थे।

१८५७ के विद्रोह के दो पहलू थे। एक ओर उससे पता चलता था कि भारतीय समाज के गर्भ में जन-विद्रोह की कितनी विराट शक्तियां जन्म ले रही हैं और साम्राज्यवादी शासन का आधार कितना कमजोर और कितना अस्थिर है। लेकिन दूसरी ओर, इस विद्रोह पर पुरानी दकियानूसी और सामन्ती शक्तियों की छाप थी, और उसका नेतृत्व उन राजाओं और नवाबों के हाथ में था जो अपने विशेषाधिकारों को मिटते हुए देखकर उनकी रक्षा के लिए मैदान में उतरे थे। विद्रोह के इस प्रतिक्रियावादी स्वरूप के कारण उसे जनता का अधिक व्यापक समर्थन न मिल सका, और इसलिए यह लाजमी था कि वह असफल रहता। फिर भी, इस विद्रोह से यह बात साफ हो गयी कि सतह के नीचे-नीचे जनता में असंतोष और बेचैनी की कैसी भयानक आग सुलग रही है, और इससे अंग्रेज शासकों में ऐसी घबराहट पैदा हुई जो उसके

बाद की उनकी सारी कार्रवाइयों में दिखायी देती है। लार्ड मैटाकाल्फ, जो १८३५-३६ में भारत के गवर्नर जनरल थे, इसके पहले वाले काल में ही लिख चुके थे कि "पूरा भारत हर घड़ी यही मनाया करता है कि हमारा तख्ता उलट जाय। हमारे नाश पर हर जगह लोग खुशियां मनायेंगे, या कम से कम सोचते है कि वे खुशियां मनायेंगे। और ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है जो उस घड़ी को नजदीक लाने में अपनी पूरी शक्ति लगा देंगे।"

१८५७ के बाद अंग्रेजों की नीति और अंग्रेजी राज के स्वरूप में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। इसके बाद अंग्रेजों की नीति अधिकाधिक इस बात पर खास जोर देने लगी कि जनता के खिलाफ अपना पक्ष मजबूत करने के लिए किसी तरह भारत के प्रतिक्रियावादी तत्वों का समर्थन प्राप्त किया जाय। इसके साथ-साथ, भारत के नवजात पूंजीपति वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाली, नयी प्रगतिशील शक्तियों के साथ अंग्रेज शासकों के सम्बन्धों में भी एकदम परिवर्तन हो गया। पहले दोनों में मैत्रीपूर्ण घनिष्टता थी; अब उसका स्थान उदासीनता, सन्देह और यहां तक कि शत्रुता ने ले लिया। उसमें थोड़ी कमी कभी आती भी थी तो केवल उस समय जब अंग्रेज शासक मौके से मजबूर होकर जनता के खिलाफ उनसे भी अस्थायी गठबधन कर लेते थे। देशी रियासतों को जबर्दस्ती ब्रिटिश भारत में मिला लेने की नीति यकायक त्याग दी गयी। इसके बाद से बचे-खुचे राजाओं और नवाबों को अपनी कठपुतलियां बनाकर जिन्दा रखने की नीति का पालन किया जाने लगा। अंग्रेजों ने उन्हें "पूर्णतया स्वतंत्र" घोषित कर दिया और कहा कि ये हमारे मित्र और सहयोगी हैं। देशी रियासतों में अब अंग्रेज हर तरह के सामन्ती अत्याचार और अनाचार की रक्षा करने लगे। बल्कि सामन्ती अत्याचार अब पहले से भी बढ़ गये, क्योंकि अब देशी राजा और नवाब एकदम मुफ्तखोर और जनता का खून चूसने वाली जोंकें बनकर रह गये थे। यह इस नयी नीति का ही नतीजा है कि अंग्रेजों ने भारत के नक्शे में छोटी-छोटी रियासतों के ऐसे पैबन्द लगा रखे थे जिनका कोई सिर-पैर नहीं था। अंग्रेजी राज के हाल के दौर में इन राजाओं और नवाबो को, जो उस समय तक एकदम भ्रष्ट हो गये थे और अपने साम्राज्यवादी आकाओं के इशारे पर नाचने वाली कठपुतलियां बन गये थे, फिर एक बार भारत के वैधानिक विकास के मामले में राष्ट्रीय स्वतंत्रता की शक्तियों का विरोध करने के लिए सामने लाया गया। १८५७ के बाद अंग्रेजों ने समाज-सुधार के मार्ग पर भी चलना बन्द कर दिया। उसकी जगह वे हर प्रतिक्रियावादी धार्मिक प्रथा और रीति का जोरों से समर्थन करने लगे, और दिन-ब-दिन यह बात अधिक स्पष्ट होती गयी (इस काल का लगभग एकमात्र अपवाद "एज ऑफ कंसेंट ऐक्ट" था)।

१८५८ में महारानी विक्टोरिया की तरफ से जो घोषणा की गयी, उसमें एक तरफ तो भारत के लोगों और अंग्रेजों को बराबरी का दर्जा देने का हक रखा गया था (जिसके बारे में बाद में वायसराय लार्ड लिटन ने कहा था कि "ये दावे और ये उम्मीदें न तो कभी पूरी हो सकती हैं और न पूरी होंगी"), और दूसरी तरफ इसमें सरकार के इस फैसले पर जोर दिया गया था कि आगे से वह "धार्मिक विश्वास और उपासना के मामलों में कभी किसी तरह का हस्तक्षेप न करेगी;" और भारतीय समाज की दकियानूसी ताकतों को यह विश्वास दिलाया गया था कि "भारत के प्राचीन अधिकारों, रीतियों और रिवाजों का पूरा-पूरा ध्यान रखा जायगा।" १८७६ में एक शाही उपाधियों का कानून बनाया गया, जिसके मातहत अगले वर्ष महारानी विक्टोरिया को भारत की साम्राज्ञी घोषित कर दिया गया। वायसराय लार्ड लिटन ने कहा कि यह कानून "एक नयी नीति" के आरम्भ होने की सूचना देता है जिसके फलस्वरूप "अब से इंगलैंड के राज्य-सिंहासन को भारत के एक शक्तिशाली देशी अभिजात वर्ग की आशाओं, आकांक्षाओं, उद्देश्यों और हितों का प्रतिनिधि और रक्षक समझा जाने लगेगा।" इस काल से ही अंग्रेज शासक हिन्दुओं और मुसलमानों को आपस में भिड़ा देने और भारत के लोगों के अन्य प्रकार के छोटे-मोटे मतभेदों से फायदा उठाने के तरीकों का अधिकाधिक ध्यानपूर्वक अध्ययन करने लगे। यहां तक कि अन्त में अंग्रेज शासक साम्प्रदायिक चुनाव क्षेत्रों की आधुनिक पद्धति के द्वारा इस सवाल को भारत की राजनीति का मुख्य सवाल बनाने में सफल हो गये। इसके साथ-साथ १८५७ के बाद से, अंग्रेज शासकों और भारतीय समाज के प्रगतिशील तत्वों का अलगाव बढ़ता गया। दोनों पक्षों के लोग मानते हैं कि १८५७ के बाद से ही अंग्रेज शासकों और प्रगतिशील हिन्दुस्तानियों के सम्बन्धों में मौलिक परिवर्तन हो गया।

इस प्रकार ब्रिटेन में और दुनिया के पैमाने पर पूंजीवाद के सामान्य स्वरूप में जो परिवर्तन हुआ था, पूंजीवाद की प्रारम्भिक काल की प्रगतिशील भूमिका के स्थान पर जिस प्रकार एक अधिक प्रतिक्रियावादी और पतनोन्मुख भूमिका का श्रीगणेश हो गया था, उसी प्रकार भारत में अंग्रेजी राज के स्वरूप में भी परिवर्तन हो गया था। जब पूंजीवाद ने आधुनिक साम्राज्यवाद अथवा मरनोन्मुख पूंजीवाद की अन्तिम अवस्था में प्रवेश किया, तो उसकी यह प्रतिक्रियावादी भूमिका विशेष रूप से स्पष्ट हो गयी।

दूसरी ओर, जहां उन्नीसवीं सदी के बाद के दशकों में भारत में अंग्रेजी राज की भूमिका अधिकाधिक प्रतिगामी बनने लगी थी, वहां भारतीय समाज में नयी शक्तियां जन्म ले रही थीं।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारत का पूंजीपति वर्ग सामने आने लगा था। १८५३ में बम्बई में पहला कामयाब सूती मिल खुला। १८८० तक भारत में १५६ सूती मिलें चालू हो गयीं, जिनमें ४४,००० मजदूर काम करते थे। १९०० तक मिलों की संख्या १९३ और उनमें काम करने वाले मजदूरों की संख्या १६१,००० हो गयी। शुरू से ही सूती कपड़े का यह नया उद्योग हिन्दुस्तानियों के हाथ में था, और उसमें उन्हीं की पूंजी लगी थी; और इस उद्योग को भारी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। इसके साथ-साथ नये शिक्षित मध्य वर्ग ने भी जन्म लिया था। वकीलों, डाक्टरों, शिक्षकों और सरकारी नौकरों के इस नये वर्ग को पश्चिमी ढंग की शिक्षा मिली थी और वह उन्नीसवीं सदी की जनवादी धारणाओं के अनुसार नागरिक अधिकारों की मांग कर रहा था। पूंजीवादी उद्योग-धंधे तथा पश्चिमी ढंग का नया बुद्धि-जीवी वर्ग, दोनों का ही अभी अपेक्षाकृत कम विकास हुआ था। लेकिन उस नये वर्ग ने जन्म ले लिया था जिसको लाजमी तौर पर आगे चलकर अपने से ज्यादा ताकतवर प्रतिद्वन्द्वी और अपनी तरक्की के रास्ते में रोड़े के रूप में ब्रिटिश पूंजीपति वर्ग का मुकाबला करना था और इसलिए जिसके भाग्य में यह लिखा था कि वह भारत की राष्ट्रीय मांग को सबसे पहले बुलन्द करेगा और देश का नेतृत्व करेगा।

भारत के इस नये पूंजीपति वर्ग और ब्रिटेन के पूंजीपति वर्ग के आर्थिक हितों का बुनियादी टकराव १८८२ में ही सामने आ गया था जबकि लंकाशायर की कपड़ा मिलों के मालिकों की मांग पर सरकार ने भारत के बढ़ते हुए कपड़ा उद्योग का गला घोंटने के लिए भारत में आने वाले सूती कपड़े पर से हर तरह की चुंगी हटा ली थी। इसके तीन साल बाद भारत में राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हो गयी।

अन्तिम बात यह कि भारत में अंग्रेजी पूंजी के घुसने के परिणामस्वरूप किसानों की गरीबी और तबाही बढ़ रही थी, और उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध तक और खास तौर पर उसके आखिरी तीस वर्षों में हालत यहां तक पहुंच गयी थी कि किसान सब तरफ से निराश हो गये थे और उनकी बेचैनी फूटकर निकलने लगी थी। हम ऊपर बता चुके हैं कि जहां उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में सात अकाल पड़े थे और उनमें १५ लाख आदमी मरे थे, वहां उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में चौबीस अकाल पड़े थे और उनमें २ करोड़ ८५ लाख आदमी मरे थे; और इन चौबीस अकालों में से अठारह अकाल उन्नीसवीं सदी के अन्तिम पच्चीस वर्षों में पड़े थे। किसानों में आम पैमाने पर जो बेचैनी बढ़ रही थी, उसकी एक चेतावनी १८७५ में दकन के किसान विद्रोह के रूप में मिली। सरकार को उससे कितनी चिन्ता हुई, यह इस बात से प्रकट होता है

कि उसने १८७५ में दकन के उपद्रवों की जांच करने के लिए एक कमीशन नियुक्त किया जिसने देहात की हालत की पूरी जांच की और उपद्रवों के कारणों की छानबीन की। इसके बाद १८७८ में सरकार ने एक अकाल कमीशन भी नियुक्त किया।

इस प्रकार, उन्नीसवीं सदी का तीन-चौथाई हिस्सा बीतते-बीतते भारत में वे तमाम परिस्थितियां तैयार हो गयी थीं, जो राष्ट्रीय आन्दोलन के आरम्भ होने के लिए आवश्यक थीं, और जो उन्नीसवीं सदी के पहले पचहत्तर वर्षों में यहां मौजूद नहीं थीं।

४. राष्ट्रीय कांग्रेस का अभ्युदय

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना १८८५ में हुई।

उसके जन्म की कहानी का हवाला देकर अक्सर यह साबित करने की कोशिश की जाती है कि भारत में राष्ट्रवादी आन्दोलन को ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने ही पाल-पोसकर बड़ा किया है। किन्तु वास्तव में, कांग्रेस का जिस तरह जन्म हुआ और बाद में उसका जिस तरह विकास हुआ, उसके बीच गहरा विरोध है, और यह इस बात का प्रमाण है कि भारत में राष्ट्रीय जाग्रति की शक्तियां कितनी बलवान थीं और साम्राज्यवाद के खिलाफ संघर्ष का बढ़ना अनिवार्य था।

एक संगठन के रूप में कांग्रेस का जन्म एक अंग्रेज की पहलकदमी पर हुआ था। कांग्रेस की स्थापना ब्रिटिश सरकार की नीति के अनुसार और उसके सीधे नेतृत्व में की गयी थी। उसकी पूरी योजना वायसराय के मशविरे से पहले ही चुपचाप तैयार कर ली गयी थी। इरादा यह था कि अंग्रेजी राज को जनता की बढ़ती हुई बेचैनी और अंग्रेज-विरोधी भावना से बचाने के लिए इस नयी संस्था का इस्तेमाल किया जाय।

लेकिन बाद में कांग्रेस का जो इतिहास रहा, जिस तरह उसका विकास हुआ, और जिस तरह कांग्रेस साम्राज्यवाद के शुरू के इरादों की सीमाओं को तोड़कर आगे निकल गयी, उससे केवल यही साबित होता है कि राष्ट्रीय आन्दोलन की शक्तियां अबाध गति से आगे बढ़ रही थीं और साम्राज्यवाद ने उनको बांधने के लिए जो संकरी नालियां बना रखी थीं, उनमें इन शक्तियों को रोक रखना असम्भव था। सच तो यह है कि खुद भारतीय पूंजीपति वर्ग की कार्रवाइयों के फलस्वरूप देश में राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना का विचार जोर पकड़ने लगा था। (१८२८ में ब्रह्म-समाज की स्थापना होने के समय से लेकर

१८८३ में श्री आनन्द मोहन बोस के सभापतित्व में राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाये जाने तक, यह विचार बराबर फैलता गया।) तभी अंग्रेजी सरकार ने बीच में टांग अड़ाने का फैसला किया। लेकिन उसने किसी ऐसे आन्दोलन को जन्म नहीं दिया जिसका देश में पहले से कोई अस्तित्व या आधार नहीं था। आन्दोलन तो अपने-आप बढ़ ही रहा था; जब सरकार ने यह देखा कि वह हर हालत में बढ़ता ही जायगा, तब उसने उसकी बागडोर अपने हाथ में ले ली।

सरकार का दृष्टिकोण यह था कि कांग्रेस की स्थापना से निकट भविष्य में होने वाली क्रान्ति की संभावना मिट जायगी या उसका खतरा टल जायगा।

कांग्रेस का संस्थापक मि. ए. ओ. ह्यूम नामक एक अंग्रेज हाकिम को समझा जाता है। १८८२ तक ह्यूम ने सरकारी नौकरी की थी। फिर पेंशन लेकर वह कांग्रेस की स्थापना के काम में लग गये। सरकारी हाकिम होने की वजह से ह्यूम को पुलिस की कुछ गुप्त और बहुत भारी-भरकम रिपोर्टें देखने को मिली थीं। उनसे यह पता चलता था जनता में बेचैनी बहुत अधिक बढ़ गयी है और जगह-जगह लोग छिपकर षड़यंत्रकारी संगठन बनाने लगे हैं। उन्नीसवीं सदी का आठवां दशक बड़े-बड़े अकालों और भुखमरी का दशक था, और जनता की बढ़ती हुई बेचैनी दकन के किसान विद्रोहों के रूप में फूट भी चुकी थी। १८७७ में एक तरफ भयंकर अकाल पड रहा था, तो दूसरी तरफ बड़े ठाट-बाट से राज-दरबार हो रहा था जिसमें महारानी विक्टोरिया को भारत की साम्राज्ञी घोषित किया गया। दूसरा अफगान युद्ध भी इसी साल हुआ था। जनता की बेचैनी का उत्तर दमन के जरिये दिया गया। १८७८ में देशी भाषाओं के अखबारों का कानून बनाकर पत्र-पत्रिकाओं की आजादी छीन ली गयी। अगले वर्ष हथियारों का कानून (आर्म्स ऐक्ट) बनाकर देहात के लोगों से जंगली जानवरों से अपनी रक्षा करने के साधन तक छीन लिये गये। सभा करने के अधिकार पर बन्दिशें लगा दी गयीं। ह्यूम की जीवनी के लेखक सर विलियम वेडरबर्न ने लिखा है :

> "दुर्भाग्य से, सरकार ने जिन प्रतिक्रियावादी उपायों से काम लिया और जिन रूसी तरीकों से पुलिस के जरिये दमन किया, उन सबका यह नतीजा हुआ कि लार्ड लिटन के जमाने में भारत में चन्द दिनों के अन्दर एक क्रान्तिकारी विस्फोट होने की आशंका पैदा हो गयी। वह तो खैरियत हुई कि इसी समय मि. ह्यूम और उनके भारतीय सलाहकारों के मन में बीच में हस्तक्षेप करने का विचार पैदा हुआ और परिस्थिति बच गयी।"
> सर विलियम ने आगे बताया है कि "मि. ह्यूम को विश्वास हो गया

था कि जनता की बढ़ती हुई बेचैनी को रोकने के लिए कोई अमली कदम उठाना जरूरी है।"

सरकारी आशीर्वाद के साथ कांग्रेस की स्थापना के पहले दमन-चक्र चला। ये दोनों क्रियाएं एक-दूसरे की विरोधी नहीं, बल्कि पूरक थीं। जब तक दमन के जरिये क्रान्तिकारी आन्दोलन की आशंका को दूर नहीं कर दिया गया, तब तक नरमदली नेताओं के नेतृत्व में एक कानूनी आन्दोलन शुरू कराना भी खतरे से खाली नहीं समझा जाता था। इसलिए, खूब जोरों से दमन करने के बाद ही "जनता की बढ़ती हुई बेचैनी को रोकने के लिए" वह दूसरा कदम उठाया गया। बारी-बारी से दमन और समझौता करने का यह दोहरा तरीका, एक हाथ से कट्टर लड़ाकों को दबाने और दूसरे हाथ से "वफादार" नरमदली नेताओं को पुचकारने और उनसे गठबन्धन करने का यह हथकन्डा साम्राज्यवादी राजनीतिज्ञों की पुरानी तरकीब है, जिसका वे आने वाले जमाने में भी कई बार इस्तेमाल करने वाले थे।

पुलिस की रिपोर्टों में मि. ह्यूम को ऐसी कौन सी बातें मिली थीं जिनके आधार पर उन्होंने यह लिखा कि "मुझे न तब जरा भी सन्देह था और न आज है कि हम उस समय सचमुच एक बहुत ही भयानक क्रान्ति के खतरे का सामना कर रहे थे और खतरा हद से ज्यादा बढ़ चुका था"? इन बातों को मि. ह्यूम के शब्दों में ही बताना अधिक उपयोगी होगा :

> "मुझे सात बड़ी-बड़ी जिल्दें दिखाई गयीं...जिनमें बहुत सामग्री जमा थी। उनमें देशी भाषाओं में लिखी गयी किसी न किसी तरह की रिपोर्टों या समाचारों का अंग्रेजी में सारांश या संक्षिप्त अथवा विस्तृत अनुवाद दिया गया था... उस वक्त बताया गया था कि तीस हजार से ज्यादा अलग-अलग संवाददाताओं की रिपोर्टें इन जिल्दों में जमा थीं। बहुत सी रिपोर्टों में सबसे नीचे दर्जे के लोगों की बातचीत दर्ज की गयी थी, और उन सबसे पता चलता था कि ये गरीब लोग अपनी मौजूदा हालत से एकदम निराश हो गये हैं और उन्हें विश्वास हो गया है कि वे भूखों मर जायेंगे, और इसलिए वे अब कुछ करना चाहते हैं। वे कुछ करने पर तुल गये हैं और एक-दूसरे का साथ देना चाहते हैं, और इस कुछ का मतलब हिंसा है। बेशुमार रिपोर्टों में पुरानी तलवारें, भाले और बन्दूकें छिपाकर जमा करने की बात थी कि मौका पड़ते ही उनसे काम लिया जाय। यह ख्याल नहीं था कि इस सबके परिणामस्वरूप शुरू में ही हमारी सरकार के खिलाफ बगावत खड़ी हो जायगी। सबसे नीचे स्तर के आधा पेट खा कर रहने वाले लोगों की जो हालत थी, उसे देखते हुए

यह लगता था कि पहले कुछ छिटपुट अपराध होंगे और फिर उनके होते ही उसी प्रकार के सैकड़ों अपराधों का तांता लग जायगा, और देश में ऐसी अराजकता फैल जायगी कि अधिकारियों से और भद्र वर्गों से कुछ भी करते-धरते न बनेगा। यह भी ख्याल था कि...जब बदमाशों के दल काफी मजबूत हो जायेंगे, तो पढ़े-लिखे वर्गों के भी कुछ लोग उनके साथ हो जायेंगे। पढ़े-लिखे लोग पहले से ही सरकार से बहुत नाराज थे भले ही इसका कोई कारण न रहा हो। डर था कि ये लोग आन्दोलन में शामिल होकर कहीं-कहीं उसके नेता बन जायेंगे, उपद्रवों को एक सूत्र में बांध देंगे और एक राष्ट्रीय विद्रोह के रूप में उनकी रहनुमाई करने लगेंगे।"

१८८५ के शुरू के हिस्से में ह्यूम ने वायसराय लार्ड डफरिन से बातचीत की और सारी परिस्थिति उनके सामने रखी। लार्ड डफरिन अनुभवी राजनीतिज्ञ थे। शिमला में साम्राज्यवाद के मुख्य कार्यालय में इस बातचीत के दौरान ही कांग्रेस की रूपरेखा तैयार की गयी। कांग्रेस के पहले अध्यक्ष श्री डब्ल्यू.सी. बनर्जी ने कांग्रेस के जन्म का इस प्रकार वर्णन किया है :

"शायद बहुत लोगों को यह बात मालूम न होगी कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की जिस रूप में शुरू-शुरू में स्थापना हुई और जिस प्रकार वह तब से काम करती आयी है, वह असल में डफरिन और आवा के मारक्विस की बनायी हुई है। उस समय वह भद्र पुरुष भारत के गवर्नर-जनरल थे। १८८४ में मि. ए. ओ. ह्यूम के मन में यह विचार पैदा हुआ कि यदि देश के प्रमुख नेताओं को साल में एक बार एक जगह जमा किया जा सके और वहां वे सामाजिक विषयों पर विचार-विनिमय किया करें तथा एक-दूसरे से मित्रता का सम्बन्ध कायम कर सकें, तो देश का बहुत लाभ होगा। मि. ह्यूम यह नहीं चाहते थे कि ये लोग राजनीति पर भी बातचीत करें।...लार्ड डफरिन ने मि. ह्यूम से यह शर्त मनवा ली थी कि जब तक वह देश में रहें, तब तक उनका नाम गुप्त रहे।"

शुरू के राष्ट्रीय आन्दोलन का जिन लोगों ने अभी हाल में इतिहास लिखा है (जैसे सी. एफ. ऐन्ड्रयूज और जी. सी. मुकर्जी), उन्होंने इस घटना का इस प्रकार वर्णन किया है :

"१८५७ के बाद इतना खतरनाक वक्त कभी नहीं आया था, जितना कांग्रेस की स्थापना के ठीक पहले आया था। अंग्रेज हाकिमों में

ह्यूम थे जिन्होंने इस खतरे को देखा और उसको रोकने की कोशिश की।
...इस अखिल भारतीय आन्दोलन के लिए परिस्थिति पूरी तरह परिपक्व हो गयी थी। एक ऐसे किसान विद्रोह की जगह, जिसे पढ़े लिखे वर्गों की सहानुभूति और समर्थन प्राप्त होता, इसके जरिये नये उदीयमान वर्गों को नये भारत का निर्माण करने के लिए एक राष्ट्रीय मंच मिल गया। कुल मिलाकर यह अच्छा ही हुआ कि देश में एक बार फिर हिंसा पर आधारित क्रान्तिकारी परिस्थितियां पैदा होने से रोक दी गयीं।"

ध्यान देने की बात है कि कांग्रेस की "हिंसा पर आधारित क्रान्तिकारी परिस्थिति को पैदा होने से रोकने" की भूमिका गांधी जी के आने के बाद नहीं शुरू हुई थी। साम्राज्यवाद ने कांग्रेस के जन्म के समय ही उसे इसकी घूंटी पिला दी थी।

कांग्रेस की भूमिका के विषय में ह्यूम साहब की क्या धारणा थी, यह उन्हीं के शब्दों में सुनिये :

"हमारे अपने कामों से जो विराट और बढ़ती हुई शक्तियां भारत में पैदा हो गयी थीं, हिफाजत के साथ उनका सारा जोश बाहर निकाल देने के लिए एक यंत्र की जरूरत थी; और इस काम के लिए हमारे कांग्रेस आन्दोलन से ज्यादा कारगर कोई यंत्र नहीं बनाया जा सकता था।"

लार्ड डफरिन का उद्देश्य यह था कि कांग्रेस के जरिए "वफादार" लोगों को "बागियों" से अलग करके सरकार की मदद करने के लिए एक आधार तैयार कर दिया जाय। उन्होंने अपना यह उद्देश्य कांग्रेस की स्थापना के एक साल बाद १८८६ में, शिक्षित वर्गों की मांगों के विषय में भाषण करते हुए बहुत ही साफ शब्दों में बता दिया था :

"जिन काले आदमियों से मैं मिला हूं, उनमें काफी लोग योग्य भी हैं और बुद्धिमान भी। इन लोगों की वफादारी और सहयोग पर कोई भी बिला-शक भरोसा करता है। जब ये लोग सरकार का समर्थन करने लगेंगे तो सरकार के ऐसे बहुत से कामों का जनता में प्रचार हो जायगा जो आज उसकी निगाह में धारासभाओं से जबर्दस्ती कानून बनवा कर किये जाते हैं। और अगर इन लोगों के पीछे काले आदमियों की एक पार्टी की ताकत हो जाती है, तो फिर भारत सरकार आज की तरह अकेली न रह जायगी। आज तो मालूम होता है कि अंग्रेजी सरकार एक अकेली चट्टान की तरह एक तूफानी समुद्र के बीचोंबीच खड़ी है और

चारों दिशाओं से भयानक लहरें आ-आकर उस पर एक साथ टूट रही हैं।"

लार्ड डफरिन ने जो हिसाब लगाया था, वह बिल्कुल साफ था। और शुरू-शुरू में कांग्रेस की स्थापना का जो परिणाम हुआ, उससे लगता था कि डफरिन साहब की तरकीब पूरी तरह कामयाब रहेगी। कांग्रेस के पहले अधिवेशन ने परम साम्राज्य-भक्ति का परिचय दिया। उसने नौ प्रस्ताव पास किये। सभी में शासन-प्रबन्ध में केवल छोटे-मोटे सुधारों की मांग थी। राष्ट्र की जनवादी मांगों से कुछ मिलती-जुलती सिर्फ यह प्रार्थना थी कि लेजिस्लेटिव काउंसिलों में कुछ चुने हुए प्रतिनिधि भी ले लिये जायें। अपनी भेड़ों को मनचाहे ढंग से हांकने में ह्यूम साहब को कितनी कामयाबी मिली, यह अधिवेशन समाप्त होने के समय की एक घटना से स्पष्ट हो जाता है। कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन की रिपोर्ट में इस घटना का विवरण दिया गया है :

"मि. ह्यूम ने अपने प्रति प्रकट किये गये सम्मान के लिए धन्यवाद देने के बाद कहा : जयकार का काम चूंकि मुझे सौंपा गया है, इसलिए मेरा प्रस्ताव है कि भला काम शुरू में नहीं, तो बाद में कर लेने के सिद्धान्त का पालन करते हुए, सब लोग तीन बार ही नहीं, बल्कि तीन तिया नौ बार, और अगर हो सके तो नौ तिया सत्ताइस बार उस व्यक्ति की जय बोलें जिसके जूतों के फीते खोलने के लायक भी मैं नहीं हूं, जो आप सबको प्यार करती है और जो आप सबको अपने बच्चे के समान समझती हैं। मेरा मतलब है कि सब मिलकर बोलिए महामहिम, महाउदार, महारानी विक्टोरिया की जय !

"वक्ता ने और क्या कहा, यह नहीं सुना जा सका क्योंकि तभी चारों तरफ से जय-जयकार होने लगी और मि. ह्यूम की आवाज शोर में डूब गयी। उनकी इच्छानुसार लोगों ने बार-बार जय-जयकार की।"

इस तरह कांग्रेस की शुरुआत जी-हजूरी से हुई (परन्तु, ध्यान देने की बात है कि इस काम में बाजी हिन्दुस्तानियों के नहीं, अंग्रेजों के ही हाथ रही)। लेकिन वही कांग्रेस एक रोज गैर कानूनी करार दे दी गयी। एक दिन आया कि उसी कांग्रेस को अंग्रेजी सरकार जहां-तहां ढूंढती फिरती थी, और लाखों आजादी के सिपाही उसके इशारे पर लड़ने-मरने को तैयार थे। कांग्रेस के इन दोनों रूपों में यह कितना बड़ा अन्तर है !

कांग्रेस के जन्म के समय ही उसका जो यह दोरंगा रूप प्रकट हुआ था, उसका कांग्रेस के बाद के इतिहास के लिए भी बहुत महत्व था। जब तक कांग्रेस राष्ट्रीय आन्दोलन के अस्त्र के रूप में काम करती रही तब तक उसकी

भूमिका और उसके अस्तित्व का यह दोरंगापन बराबर कायम रहा। यह बात कांग्रेस के पूरे इतिहास में साफ नजर आती है। एक तरफ तो कांग्रेस जन-आन्दोलन के "खतरे" से बचने के लिए साम्राज्यवाद की ओर सहयोग का हाथ बढ़ाती थी; दूसरी तरफ वह राष्ट्रीय संघर्ष में जनता का नेतृत्व करती थी। कांग्रेस के पुराने युग के नेता गोखले से लेकर, नये युग के नेता गोखले के शिष्य गांधी तक—कांग्रेस के सभी नेताओं की असंगतियों के रूप में यह बात प्रकट होती है (गोखले और गांधी का अन्तर मुख्यतया जन आन्दोलन की अलग-अलग मंजिलों का अन्तर है, और इसलिए दोनों नेताओं को अलग-अलग ढंग की कार्य-नीति अपनानी पड़ी)। यह दोरंगापन भारत के पूंजीपति वर्ग की दोहरी या ढुलमुल भूमिका का प्रतिबिम्ब है, जिसकी ब्रिटिश पूंजीपति वर्ग से टक्कर होती है और इसलिए जो भारतीय जनता का नेतृत्व करना चाहता है, लेकिन इसके साथ-साथ जिसे सदा यह डर भी बना रहता है कि जन-आन्दोलन की रफ्तार कहीं "इतनी तेज" न हो जाय कि साम्राज्यवादियों के साथ-साथ उसके विशेषाधिकारों का भी सफाया हो जाय।

दूसरे महायुद्ध के बाद जब भारत में क्रान्तिकारी उभार आया, तो यह असंगति अपनी चरम सीमा पर पहुंच गयी। कांग्रेसी नेताओं ने भारत बंटवारे और भारत तथा पाकिस्तान के डोमीनियनों की स्थापना करने की माउंटबैटन योजना स्वीकार कर ली। ऐलान किया गया कि साम्राज्यवाद से उन्होंने यह अन्तिम समझौता किया है। इस समय की कांग्रेस भारत संघ की नयी डोमीनियन सरकार की सरकारी पार्टी बन गयी। बाद में भारत संघ भारतीय प्रजातंत्र बन गया मगर वह इंगलैंड के राजा को "राष्ट्र-समूह का प्रमुख" मान कर ब्रिटिश राष्ट्र-समूह में शामिल रहा। तब से भारत की स्वतंत्रता का संघर्ष नये रास्तों पर होकर बढ़ रहा है। लेकिन ऐसा होने के पहले एक लम्बा अरसा गुजरा जिसमें मुख्यतया कांग्रेस के नेतृत्व में और कांग्रेस के रूप में राष्ट्रीय आन्दोलन बार-बार आगे बढ़ा और पीछे हटा; कभी उसने आगे बढ़कर साम्राज्यवाद को चुनौती दी और कभी फिर उससे समझौता कर लिया। इस पूरे काल में व्यापक राष्ट्रीय आंदोलन का मुख्य अस्त्र कांग्रेस थी; और इसी मार्ग पर चलकर भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन आगे बढ़ा।

अध्याय ११

राष्ट्रीय आन्दोलन की तीन मंजिलें

भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का ऐतिहासिक विकास संघर्ष की तीन बड़ी लहरों से गुजरा है। इनमें से हर लहर पहले से अधिक ऊंची उठी और हरेक आन्दोलन पर अपनी स्थायी छाप छोड़ गयी तथा नयी लहर के आने के लिए रास्ता खोल गयी। जैसा हम देख चुके हैं कि शुरू-शुरू में भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन केवल बड़े पूंजीपति वर्ग का—जमींदारों के प्रगतिशील तत्वों का, नये कारखानेदारों का और धनी बुद्धिजीवियों का—प्रतिनिधित्व करता था। इस निश्चल जल में पहली बार १९१४ के पूर्व के युग में हलचल पैदा हुई जबकि देश में आंदोलन की पहली बड़ी लहर उठी। यह लहर शहरों में रहने वाले निम्न पूंजीपति वर्ग के असंतोष को व्यक्त करती थी, लेकिन वह जन-साधारण तक अभी नहीं पहुंच पायी थी। राष्ट्रीय आंदोलन में साधारण जनता की—किसानों की और कल-कारखानों में काम करने वाले मजदूरों की, जो देश में एक नयी शक्ति के रूप में सामने आये थे—इन दोनों ही वर्गों की क्या भूमिका है, यह केवल १९१४-१८ के महायुद्ध के बाद ही स्पष्ट हुआ। युद्ध के बाद वाले काल में जन संघर्ष की दो बड़ी लहरें देश में आयीं—पहली युद्ध के बाद फौरन ही, और दूसरी संसारव्यापी अर्थ-संकट के बाद। और यह सब उस निर्णायक परीक्षा की तैयारी मात्र थी जो दूसरे महायुद्ध के साथ आरम्भ हुई और उसके उपसंहार के बाद तक चलती रही।

१. संघर्ष की पहली बड़ी लहर (१९०५-१९१०)

बीस साल तक कांग्रेस उसी रास्ते पर चलती रही जो रास्ता उसके संस्थापकों ने उसके लिए तैयार कर दिया था। इन बीस बरसों में उसके प्रस्तावों में कभी भी और किसी भी रूप में स्वराज्य की मांग नहीं की गयी। यानी, उसने राष्ट्र की कोई बुनियादी मांग नहीं उठायी। इन बीस बरसों में वह केवल यही मांग करती रही कि अंग्रेजी शासन-व्यवस्था में ही इतना सुधार हो जाय कि हिन्दुस्तानियों को कुछ अधिक प्रतिनिधित्व मिल जाय। शुरू के जमाने के कांग्रेस के नरमदली नेताओं का दृष्टिकोण जानने के लिए रमेशचन्द्र दत्त का एक उदाहरण दिया जा सकता है। रमेशचन्द्र दत्त उस युग के नेताओं में सबसे

अधिक योग्य—और सबसे अधिक नरम—थे और १८९० में कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये थे। उन्होंने १९०१ में "भारत की जनता" की मांग को निम्नलिखित शब्दों में पेश किया था :

> "भारत की जनता यकायक होने वाले परिवर्तनों और क्रान्तियों को पसन्द नहीं करती...वह मौजूदा सरकार को और मजबूत बनाना चाहती है और साधारण लोगों से उसका अधिक घनिष्ठ सम्पर्क कायम करना चाहती है। वह चाहती है कि भारत-मंत्री की काउंसिल में और वायसराय की कार्यकारिणी काउंसिल में भारत की खेती तथा उद्योग-धंधों के प्रतिनिधियों के रूप में कुछ भारतीय सदस्य और लिये जायें। वह हर प्रांत की कार्यकारिणी समिति में कुछ भारतीय सदस्यों को देखना चाहती है। वह चाहती है कि शासन से सम्बन्धित हर महत्वपूर्ण सवाल पर विचार करने के समय भारत के लोगों के हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले लोग भी मौजूद रहें। वह चाहती है कि साम्राज्य तथा उसके विशाल प्रान्तों का शासन-प्रबन्ध जनता के सहयोग से चलाया जाय।"

इन मांगों की नरमी शुरू के जमाने के भारतीय पूंजीपति वर्ग की स्थिति को सही तौर पर व्यक्त करती थी। उस जमाने की कांग्रेस पूंजीपति वर्ग के केवल ऊपरी स्तर की, और विशेष रूप से विचारों के क्षेत्र में उसके प्रतिनिधि पढ़े-लिखे मध्य वर्ग की प्रतिनिधि थी। ब्रिटिश पार्लामेंट के एक अंग्रेज सदस्य डब्ल्यू. एस. केन ने कांग्रेस के १८८९ के अधिवेशन में भाग लिया था। उन्होंने लिखा था : "मेरे इर्द-गिर्द जो चार हजार भद्र पुरुष बैठे हुए हैं, वे पूरे भारत के वकीलों, डॉक्टरों, इंजीनियरों और लेखकों में से चुने हुए लोग हैं।" उस काल के नरमदली नेताओं को यह अच्छी तरह मालूम था कि वे लोग जनता के प्रतिनिधि नहीं हैं और वे जनता के नाम पर उसकी भावनाओं की व्याख्या करने का भले ही प्रयत्न करते हों, पर वे उसकी तरफ से बोलने का दावा नहीं कर सकते। शुरू के सालों में कांग्रेस के मुख्य मार्ग-प्रदर्शक सर फीरोजशाह मेहता ने कहा था : "अवश्य ही कांग्रेस जनता की आवाज नहीं थी; लेकिन पढ़े-लिखे हिन्दुस्तानियों का फर्ज था कि वे जनता की शिकायतों को पेश करें और उनको दूर करने के लिए सुझाव दें।"

उस काल का भारत का प्रारम्भिक पूंजीपति वर्ग अच्छी तरह समझता था कि वह अंग्रेजी राज को चुनौती देने की स्थिति में नहीं है। उल्टे, वह अंग्रेजी राज को अपना मददगार समझता था। उसके लिए मुख्य शत्रु खुद अंग्रेजी राज नहीं था। उसके लिए मुख्य शत्रु थे जनता का पिछड़ापन, देश में विकास की कमी, अज्ञान और अंधविश्वास की शक्तियों की जबर्दस्त ताकत, और

"नौकरशाही" शासन व्यवस्था के वे दोष जिनके कारण यह स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। इन बुराइयों के खिलाफ लड़ने में उन्हें यह आशा थी कि अंग्रेज शासकों से उन्हें सहयोग मिलेगा। कांग्रेस के १८९८ के अधिवेशन के अध्यक्ष श्री आनन्द मोहन बोस ने कहा था : "शिक्षित वर्ग इंगलैंड का शत्रु नहीं, बल्कि मित्र है। इंगलैंड के सामने आज जो काम है, उसमें उसे भारत के पढ़े-लिखे लोगों की आवश्यकता है और वे स्वभावतया उसकी मदद करेंगे।" सर फीरोजशाह मेहता ने १८९० में कहा था : "मुझे इस बात में तनिक भी संदेह नहीं है कि अन्त में अंग्रेज राजनीतिज्ञ वक्त की पुकार को सुनेंगे।" कांग्रेस के पितामह श्री दादा भाई नौरोजी ने कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन के अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए अंग्रेज शासकों से यह अपील की थी : "इस शक्ति को (यानी पढ़े-लिखे हिन्दुस्तानियों को) अपनी तरफ खींचने के बजाय वे उसे अपना दुश्मन न बनायें।" पुराने कांग्रेसी नेताओं में सबसे प्रभावशाली वक्ता सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कांग्रेस के सामने यह आदर्श रखा था कि "वह सदा अंग्रेजों के प्रति अडिग राजभक्ति के साथ काम करे—क्योंकि हमारा उद्देश्य भारत से अंग्रेजी राज को हटाना नहीं, बल्कि उसके आधार को और व्यापक बनाना है। हमारा उद्देश्य अंग्रेजी राज के स्वरूप को और उदार बनाना है और उसे राष्ट्र के स्नेह की अटूट नींव पर खड़ा कर देना है।"

इन घोषणाओं और ऐलानों से जो ध्वनि निकलती है, उससे हमें यह नहीं समझ लेना चाहिए कि शुरू के जमाने के कांग्रेसी नेता विदेशी सरकार के प्रतिक्रियावादी और राष्ट्र-विरोधी चाकर थे। इसके विपरीत, सत्य यह है कि वे उस समय भारतीय समाज की राजनीतिक दृष्टि से संगठित सबसे अधिक प्रगतिशील शक्ति का प्रतिनिधित्व करते थे। जब तब हाल ही में पैदा हुए मजदूर वर्ग ने अपनी आवाज बुलन्द करना शुरू नहीं कर दिया था और जब तक उसका संगठन कायम नहीं हो गया था और किसान असंगठित अवस्था में थे, तब तक भारत का पूंजीपति वर्ग ही यहां की सबसे प्रगतिशील-संगठित शक्ति था। वह समाज सुधार का काम करता था। जनता में जागृति फैलाता था और देश की तमाम दकियानूसी और पिछड़ी हुई चीजों के खिलाफ शिक्षा तथा नयी रोशनी का प्रचार करता था। वह मांग करता था कि उद्योग-धंधों और कौशल की दृष्टि से भारत का आर्थिक विकास हो।

लेकिन उनका यह विश्वास और यह आशा कि इस काम में ब्रिटिश साम्राज्यवाद उनकी मदद करेगा, झूठी साबित होने वाली थी। ब्रिटिश साम्राज्यवाद यह अच्छी तरह समझता था—बल्कि कहना चाहिए कि इन लोगों से भी ज्यादा अच्छी तरह समझता था—कि इस काम का क्या परिणाम होगा। वह जानता था कि इन सब सुधारों का यह मतलब होगा कि अन्त में यह नयी

ताकत साम्राज्यवादी शासन तथा शोषण के हितों से टकरायेगी। इसलिए, शुरू में कांग्रेस को सरकार से जो सरपरस्ती मिली थी, वह बहुत जल्द संदेह और शत्रुता में बदल गयी। कांग्रेस की स्थापना के तीन साल के अन्दर ही लार्ड डफरिन, जिनकी प्रेरणा से कांग्रेस का जन्म हुआ था, बड़े निरादर के साथ कांग्रेस की चर्चा करने लगे और कहने लगे कि कांग्रेस तो "केवल मुट्ठी भर लोगों" का ही प्रतिनिधित्व करती है। १८८७ में जब एक प्रतिनिधि ने अपने जिले के कलक्टर के हुक्म की अवहेलना करके कांग्रेस अधिवेशन में भाग लिया, तो उससे २०,००० रुपये का मुचलका मांग लिया गया। १८९० में सरकार ने एक गश्ती हुक्म जारी किया कि सरकारी अफसरों को कांग्रेस के अधिवेशनों में दर्शकों की तरह भी भाग नहीं लेना चाहिए। १९०० में लार्ड कर्जन ने भारत मंत्री को एक खत में लिखा: "कांग्रेस लड़खड़ाकर गिरने वाली ही है, और भारत में रहते हुए मेरी एक बड़ी महत्वाकांक्षा यह है कि मैं उसे शान्ति से दफनाने में मदद करूं।"

अतएव, भारतीय राष्ट्रवाद की पुरानी धारा के नेताओं के भाग्य में यही लिखा था कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद से उन्होंने जो आशाएं बांध रखी थीं, वे धूल में मिल जायें। नरमदली नेताओं के अग्रज श्री गोखले ने अपने अन्तिम वर्षों में बड़े दुख के साथ कहा: "नौकरशाही साफ-साफ स्वार्थी बनती जा रही है और राष्ट्र की आशाओं का खुलकर विरोध कर रही है। पहले वह ऐसी नहीं थी।"

जैसे-जैसे यह बात साफ होती गयी कि पुरानी नीति असफल रही है, वैसे-वैसे एक नयी धारा का उदय होना अवश्यम्भावी होता गया। इस धारा का प्रतिनिधित्व करने वाले लोग पुराने नेताओं की आलोचना करते थे और मांग करते थे कि कोई ऐसा ठोस कार्यक्रम और नीति अपनायी जाय जिसका मतलब साम्राज्यवाद से नाता तोड़ लेना हो। इस नयी धारा का लोकमान्य बालगंगाधर तिलक के नेतृत्व से खास सम्बन्ध था। वैसे तो उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशक में ही यह धारा देश के सामने आ गयी थी, लेकिन जब तक परिस्थिति परिपक्व नहीं हुई, तब तक वह कोई निर्णायक भूमिका अदा न कर सकी। यह बात दस साल बाद हुई। तिलक ने बम्बई प्रान्त में महाराष्ट्र प्रदेश को अपना आधार बनाया था, जहां उन्नीसवीं सदी के आठवें दशक में सबसे तेज किसान विद्रोह हुआ था। तिलक के अलावा नये नेताओं में सबसे अधिक विख्यात बंगाल के विपिनचन्द्र पाल और अरविन्द घोष और पंजाब के लाला लाजपतराय थे।

नयी धारा के नेता अपने को "राष्ट्रवादी" और कभी-कभी "अखंड राष्ट्रवादी" और "कट्टर राष्ट्रवादी" भी कहते थे। जनता आम तौर पर उन्हें

"नरमदली" नेताओं के मुकाबले में "गरमदली" नेता कहती थी। इन नामों से यह समझ लेना गलत होगा कि दोनों पक्षों में केवल इतना ही अन्तर था कि उनमें से एक उग्रवादियों का वामपक्ष था और दूसरा रूढ़िवादियों का दक्षिण-पक्ष। वास्तव में उस समय की परिस्थिति में एक आन्तरिक विरोध था जिससे यह बात झलकती थी कि राष्ट्रीय आन्दोलन का अभी पूरा विकास नहीं हुआ है।

पुराने नेताओं के मुकाबले में विरोधी पक्ष शुरुआत ही इसी बात से करता था कि साम्राज्यवाद से समझौता करने की नीति को त्यागा जाय और उसके खिलाफ डटकर और निर्णायक ढंग से संघर्ष करने की नीति अपनायी जाय। इस हद तक नये नेता एक प्रगतिशील शक्ति का प्रनिनिधित्व करते थे। लेकिन संघर्ष की नीति अपनाने की उनकी यह इच्छा अभी केवल इच्छा ही थी। अभी जन-आन्दोलन का वह आधार नहीं तैयार हुआ था जिसके सहारे ही ऐसा निर्णायक संघर्ष चलाया जा सकता था। इन नेताओं का असर असंतुष्ट निम्न मध्य वर्ग पर था। पढ़े-लिखे नौजवानों के दिलों पर और खास तौर पर गरीब विद्यार्थियों तथा बेकार अथवा बहुत ही कम तनखाह पर काम करने वाले बुद्धि-जीवियों के दिलों पर नये नेताओं की बातें जबर्दस्त असर डालती थीं। बीसवीं सदी के शुरू के सालों में ऐसे बुद्धिजीवियों की एक पूरी सेना तैयार हो गयी थी। उनकी हालत दिन-ब-दिन बिगड़ती जा रही थी और यह बात अधिकाधिक साफ होती जा रही थी कि साम्राज्यवादी शासन के रहते हुए इन लोगों के लिए न तो उन्नति का कोई रास्ता खुल सकता है और न ही उनकी कोई इच्छा पूरी हो सकती है। ऐसी परिस्थिति में समाज में अच्छी तरह से जमे हुए ऊपरी वर्ग के नेतागण क्रमशः एवं सुगम विकास की जो बातें किया करते थे, वे निम्न मध्य वर्ग के लोगों को पसन्द नहीं आ सकती थीं। सामाजिक परिवर्तन और किसी पुरानी व्यवस्था के ध्वंस के समय इस तरह के लोग जनता की बेचैनी और संघर्ष शक्ति को बढ़ाने में बहुत मददगार साबित हो सकते हैं। लेकिन खुद अपनी परिस्थिति से मजबूर होने के कारण जब तक ये लोग जन-आन्दोलन से अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ते, तब तक इन लोगों में अपनी आकांक्षाएं पूरी करने की शक्ति नहीं पैदा होती। तब तक वे या तो बहुत गरम-गरम बातें करके संतोष प्राप्त कर सकते हैं, या अराजकतावादी और व्यक्तिवादी काम कर सकते हैं जिनका अन्त में जाकर राजनीतिक दृष्टि से कोई फल नहीं निकलता।

नये नेताओं का सामाजिक विकास से तथा राजनीति के किसी वैज्ञानिक सिद्धांत से कोई संबंध न था। इसलिए, वे नरमदली नेताओं की समझौतावादी और असफल नीति का कारण यह समझते थे कि पुराने नेताओं की "भारती-

यता" नष्ट हो गयी है और वे देश को पश्चिम के रंग में रंग देना चाहते हैं। इसलिए वे नरमदली नेताओं की इन्हीं प्रवृत्तियों का सबसे ज्यादा विरोध करते थे। इस प्रकार गरमदली नेता पुराने नरमदली नेताओं की ठीक उन्हीं बातों की सबसे कड़ी आलोचना करते थे जो सचमुच प्रगतिशील बातें थीं। इन प्रगतिशील प्रवृत्तियों के मुकाबले में वे राष्ट्रीय आन्दोलन को सामाजिक रूढ़िवाद की उन शक्तियों के आधार पर खड़ा करना चाहते थे, जो भारत में इस समय भी बहुत बलवान थीं। वे राष्ट्रीय आन्दोलन को कट्टर हिन्दुत्व और इस भावना के आधार पर खड़ा करना चाहते थे कि प्राचीन हिन्दू अथवा "आर्य" सभ्यता आध्यात्मिक दृष्टि से "पश्चिम" की आधुनिक सभ्यता से श्रेष्ठतर है। यानी, वे राष्ट्रीय आंदोलन को, जो भारत का सबसे प्रगतिशील आन्दोलन था, एक पुरानपंथी धर्म और घोर अंधविश्वास की नींव पर खड़ा करना चाहते थे। इसी युग से भारत में उग्रवादी राजनीति और सामाजिक प्रतिक्रियावाद का वह सत्यानाशी गठबंधन आरम्भ होता है, जिसका राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए इतना घातक परिणाम हुआ है, और जिसके प्रभाव को नष्ट करना अभी भी बाकी है।

उग्र राष्ट्रवाद और कट्टर हिन्दुत्व की सबसे प्रतिक्रियावादी ताकतों के गठबंधन का घटा १८९० में तब बजा जब तिलक ने "एज ऑफ कसेंट" बिल के खिलाफ आंदोलन शुरू किया। यह बिल लड़की की उम्र दस के बजाय बारह वर्ष हो जाने के बाद ही उसके पति को उसके साथ यौन-कर्म करने की इजाजत देता था। रानाडे और पुराने प्रगतिशील राष्ट्रीय नेताओं ने इस बिल का समर्थन किया। तिलक ने उसके खिलाफ धुआंधार आन्दोलन चलाया और हिन्दू समाज के घोर प्रतिक्रियावादी लोगों की मांगों को बुलन्द किया। बाद में, उन्होंने "गौरक्षा समिति" का संगठन किया। राष्ट्रीय त्योहार मनाये जाने लगे—न केवल मराठा जाति के राष्ट्रीय वीर शिवाजी की स्मृति में, बल्कि हिन्दुओं के देवता गणपति के सम्मान में भी उत्सव होने लगे। बंगाल में कुछ विशेष उत्साही लोगों ने संहार की देवी काली की पूजा बड़े जोरों से शुरू कर दी।

इन धार्मिक उत्सवों और पूजा के पीछे जो राष्ट्रीय उद्देश्य और देशभक्ति की भावना छिपी थी, उसे समझ लेना आवश्यक है। जिस समय साम्राज्यवाद हर तरह के प्रत्यक्ष राजनीतिक प्रचार और संगठन का क्रूर दमन करता था और राष्ट्रीय आन्दोलन को जनता के बीच कोई आधार नहीं प्राप्त हुआ था, उस समय इस तरह के धार्मिक रूपों का सहारा लेना समझ में आता है। लेकिन यहां सिर्फ यह सवाल नहीं है कि राजनीतिक प्रचार के लिए धार्मिक उत्सवों की आड़ ली जाती थी। न ही यहां यह सवाल है कि एक राजनीतिक

आन्दोलन विशेष प्रकार के रूपों से गुजर कर आगे बढ़ा है। कहा यह जाता था कि प्राचीन हिन्दू धर्म ही राष्ट्रीय आन्दोलन की जान है। इससे लाजमी तौर पर आन्दोलन की वास्तविक प्रगति रुकती थी, आन्दोलन कमजोर पड़ता था, और राजनीतिक चेतना कमजोर पड़ती थी। मुस्लिम जनता के एक बहुत बड़े भाग के राष्ट्रीय आन्दोलन से अलग रहने का एक कारण यह भी है कि उसमें हिन्दू धर्म पर इतना जोर दिया जाता है।

इन धारणाओं का भारतीय राष्ट्रवाद के विकास पर जबर्दस्त असर पड़ा है, क्योंकि आधुनिक काल में ये ही बातें और भी निखरे रूप में गांधीवाद में प्रकट हुई हैं। इसलिए यह अनुचित न होगा यदि उन पर थोड़े अधिक ध्यान से गौर कर लिया जाय। ये धारणाएं वास्तव में इस विश्वास को व्यक्त करती हैं कि भारत के विकास तथा उसकी स्वतंत्रता का मार्ग सामाजिक विकास और पुरानी कमजोरियों, फूट और बुरी परम्पराओं को दूर करने का मार्ग नहीं है, बल्कि वह समाज को पीछे की ओर ले जाने और बीते हुए जमाने के तौर-तरीकों में और उस काल के अवशेषों में फिर से जान डालने का मार्ग है।

कट्टर राष्ट्रवादी पूंजीवाद के काम करने के ढंग को नहीं समझ सकते थे। वे न तो उसकी अच्छाइयों को देख पाते थे, और न बुराइयों को। इसके परिणामस्वरूप वे यह नहीं समझ पाते थे कि जिस "अंग्रेजी" संस्कृति के पीछे वे डंडा लेकर पड़ गये हैं, वह वास्तव में पूंजीवाद की संस्कृति है, और जिस हद तक राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व पूंजीपति वर्ग के हाथ में है, उस हद तक यह आन्दोलन इस सांस्कृतिक आधार से आगे नहीं जा सकता, क्योंकि तथाकथित "अंग्रेजी" संस्कृति का प्रगतिशील दृष्टिकोण से विरोध तो अन्त में जाकर केवल मजदूर वर्ग ही कर सकता था। पूंजीवादी संस्कृति का एकमात्र जवाब मजदूर वर्ग की संस्कृति है। वही पूंजीवादी संस्कृति की जगह ले सकती है; वही उससे आगे जाती है और उसमें जो कुछ अच्छा है, उसे ले लेती है और बाकी को छोड़ देती है। लेकिन उस समय तक भारत में जितना अनुभव हुआ था, उसके बल पर गरमदली नेता मजदूर वर्ग के इस दृष्टिकोण तथा संस्कृति की कल्पना भी न कर सकते थे।

इसलिए, जब उन्होंने देखा कि देश में ब्रिटेन की पूंजीवादी संस्कृति तथा विचारधारा की बाढ़ आ गयी है और भारतीय पूंजीपति वर्ग तथा बुद्धिजीवी लोग उसमें बहे जा रहे हैं, तो इस बाढ़ को रोकने के लिए उन्होंने जल्दी-जल्दी हिन्दू संस्कृति एवं विचारों की कमजोर दीवार खड़ी करने की कोशिश की, हालांकि जीवन की वास्तविक परिस्थितियों में इस विचारधारा का अब कोई प्राकृतिक आधार न रह गया था। गरमदली नेताओं में भी जो ज्यादा कट्टर

थे, वे हर तरह के सामाजिक तथा वैज्ञानिक विकास को विजेताओं की संस्कृति कहकर कोसते, और हर तरह की पुरानी बातों को और यहां तक कि भ्रष्टाचार, स्वेच्छाचारिता और अंधविश्वासों को भी श्रद्धा और आदर की वस्तु समझते थे।

यही कारण था कि जनता के ये लड़ाकू राष्ट्रीय नेता, जिनमें से बहुत से बड़े निडर और सच्चे देशभक्त थे, व्यवहार में सामाजिक रूढ़ियों और अंधविश्वासों के समर्थक बन गये थे।

कट्टर राष्ट्रवादियों को विश्वास था कि इस प्रकार वे साम्राज्यवाद के खिलाफ एक राष्ट्रीय जन-आन्दोलन खड़ा कर रहे हैं। केवल इसी प्रकार यह बात समझ में आती है कि तिलक जैसे मेधावी नेता भी बाल-विवाह तथा गोरक्षा के समर्थन में क्यों आन्दोलन चलाते थे।

लेकिन यह नीति न केवल सिद्धान्त में घातक थी, बल्कि व्यवहार में भी गलत थी। उससे न केवल राजनीतिक चेतना लाजमी तौर पर कमजोर हो जाती थी और आन्दोलन का मार्ग धुंधला पड़ जाता था, बल्कि प्रगति की ओर बढ़ने वाली शक्तियों में फूट पड़ जाती थी। यह बात अकारण नहीं है कि लगभग सभी प्रसिद्ध गरमदली नेता बाद में चलकर या तो न्यूनाधिक मात्रा में साम्राज्यवाद से सहयोग करने लगे, या राजनीति से सन्यास लेकर दार्शनिक गुत्थियां सुलझाने लगे, और उन्हें आन्दोलन की प्रगति में कोई दिलचस्पी न रह गयी। इसके अलावा, सामाजिक मामलों में गरमदली नेताओं का प्रतिक्रियावादी कार्यक्रम देखकर बहुत से ऐसे लोग आन्दोलन से दूर हट गये जो एक लड़ाकू राष्ट्रीय नीति का समर्थन करने को तो तैयार थे, मगर इतने खर-दिमाग नहीं थे कि उग्रवादी कार्यक्रम के नाम पर प्रतिक्रियावादी गंदगी और दार्शनिक कलाबाजियों की पूजा करने लगते।

कट्टर राष्ट्रवादियों ने अपनी दलीलों के लिए यह धार्मिक आधार तो तैयार कर लिया था, किन्तु व्यावहारिक संघर्ष में वे उसकी सहायता से कोई नया अस्त्र, कोई नयी कार्य-योजना नहीं बना सके। उन्होंने कोई अस्त्र खोजकर निकाला भी तो वही व्यक्तिवादी आतंकवाद का अस्त्र, जो हर देश में चारों ओर से निराश किन्तु निष्क्रिय, और हर प्रकार के जन-आन्दोलन से कटे हुई निम्न-पूंजीपति वर्ग का अस्त्र रहा है। यहां भी उस बहुत ही धुंधली धार्मिक भावना और प्रेरणा ने बहुत कम काम किया। गुप्त संगठन बनाये गये, लेकिन उन्होंने भी कोई खास काम नहीं किया। बाद में जब आन्दोलन का एक नया युग आरंभ होने के लिए परिस्थिति तैयार हो गयी, तभी आतंकवादी आन्दोलन ने भी एक सहयोगी के रूप में कुछ महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

१९०५ तक आन्दोलन के एक नये युग के लिए परिस्थितियां तैयार हो

गयीं, उस समय हमारे इन कट्टर राष्ट्रवादियों ने जो मुख्य अस्त्र खोजकर निकाला, वह उनकी तमाम धार्मिक और आध्यात्मिक कलाबाजियों से बहुत दूर की चीज था और बुनियादी तौर पर एक आधुनिक एवं आर्थिक अस्त्र था। वह था आर्थिक बहिष्कार का अस्त्र। उस समय केवल एक यही कारगर अस्त्र था जिसे अपनाया जा सकता था। उसे अपनाकर गरमदली नेताओं ने यह स्पष्ट कर दिया कि उनका आन्दोलन पूंजीवादी आन्दोलन है, और बाद में तो नरमदली नेताओं ने भी इस अस्त्र को अपना लिया।

१९०५ में आन्दोलन के नये युग का श्रीगणेश करने के लिए जो शक्तियां एकत्रित हुई थीं, वे वास्तव में प्रगति की उस संसारव्यापी लहर का ही प्रतिबिम्ब थी, जो जापान के हाथों जारशाही की हार और पहली रूसी क्रांति की प्रारम्भिक जीतों के बाद दुनिया में आयी थी। जारशाही पर जापान की विजय आधुनिक काल में योरप की एक शक्ति पर एक एशियाई शक्ति की पहली जीत थी, और भारत पर उसका गहरा प्रभाव पड़ा था। जिस फौरी सवाल पर भारत में संघर्ष शुरू हुआ, वह बंग-भंग का सवाल था। बंगाल उस जमाने में राजनीतिक प्रगति का केन्द्र था। लार्ड कर्जन ने उसके दो टुकड़े कर देने की योजना तैयार की और उनके उत्तराधिकारी ने इस योजना को कार्यान्वित कर दिया। इस बंटवारे से सारे देश में गुस्से की लहर दौड़ गयी और ७ अगस्त १९०५ को उसका विरोध करने के लिए विदेशी माल के बहिष्कार की घोषणा की गयी।

इसके बाद राष्ट्रीय आंदोलन बड़ी तेजी से आगे बढ़ा। कांग्रेस के १९०५ के अधिवेशन ने केवल आंशिक रूप से बहिष्कार का समर्थन किया था। परन्तु १९०६ के कलकत्ता अधिवेशन ने, जिस पर गरमदली नेताओं की गहरी छाप थी, एक पूर्णतया नवीन कार्यक्रम अपनाया। इस कार्यक्रम को खुद कांग्रेस के पितामह दादाभाई नौरोजी ने पेश किया था। उसमें पहली बार यह घोषणा की गयी कि कांग्रेस का लक्ष्य स्वराज्य प्राप्त करना है। स्वराज्य की परिभाषा यह की गयी कि ब्रिटिश साम्राज्य में रहते हुए भारत को खुद अपना शासन प्रबंध चलाने का अधिकार मिल जाना चाहिए (कार्यक्रम के शब्दों में भारत में ऐसी राज्य-व्यवस्था कायम होनी चाहिए "जैसी अंग्रेजों के अपना शासन-प्रबन्ध आप चलाने वाले उपनिवेशों में कायम है")। इसके अलावा कार्यक्रम में बहिष्कार आंदोलन का समर्थन किया गया, "स्वदेशी" अर्थात देशी उद्योग-धंधों को बढ़ावा देने की नीति का समर्थन किया गया, और राष्ट्रीय शिक्षा की योजना स्वीकार की गयी। स्वराज्य, विदेशी माल का बहिष्कार, स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षा—कांग्रेस कार्यक्रम के ये चार मूल मंत्र हो गये।

एक वर्ष बाद, १९०७ में सूरत अधिवेशन में कांग्रेस दो टुकड़ों में बंट

गयी। गोखले के नेतृत्व में नरमदल और तिलक के नेतृत्व में गरमदल एक-दूसरे से अलग हो गये। इसके बाद १९१६ तक दोनों दलों का अलग-अलग विकास हुआ। १९१६ में दोनों में एकता हो गयी, लेकिन १९१८ में नरमदली नेताओं ने कांग्रेस को सदा के लिए त्याग दिया और अपना लिबरल फेडरेशन अलग बना लिया।

नयी जागृति के आते ही सरकार के दमनचक्र का चलना भी शुरू हो गया। १९०७ में राजद्रोही सभाओं पर रोक लगाने वाला कानून बनाया गया। १९१० में एक नया प्रेस-कानून बनाया गया जो पुराने प्रेस कानून से भी ज्यादा सख्त था (१८७८ का पुराना प्रेस-कानून लार्ड रिपन के उदारपंथी शासन के काल १८८२ में मंसूख कर दिया गया था)। गरमदली नेताओं को बिना मुकदमा देश से जलावतन करने के लिए १८१८ का एक पुराना रेगुलेशन खोद कर निकाला गया और यह सब उस जमाने में हुआ जबकि "उदारपंथी" कहलाने वाले लार्ड मोर्ले भारत मंत्री थे। सरकार सबसे ज्यादा तिलक से डरती थी। चुनांचे १९०८ में तिलक को अपने अखबार में एक लेख लिखने के लिए ६ वर्ष की कैद की सजा सुना दी गयी, और १९१४ में युद्ध आरम्भ होने तक उनको बर्मा में मांडले की जेल में बंद रखा गया। तिलक की गिरफ्तारी पर बम्बई के कपड़ा मजदूरों ने आम हड़ताल की। यह भारत के मजदूर वर्ग की पहली राजनीतिक हड़ताल थी और लेनिन ने उसको भविष्य की शुभ सूचना मानकर उसका अभिनन्दन किया था। दूसरे प्रमुख नेताओं को भी या तो सजा सुनाकर जेल में ठूंस दिया गया, या बिना मुकदमा चलाये जलावतन कर दिया गया। कुछ लोग सजा से बचने के लिए खुद देश छोड़कर चले गये। १९०६ और १९०९ के बीच अकेले बंगाल में ५५० राज-नीतिक मुकदमे चलाये गये। पुलिस बड़ी सख्ती से अपनी कार्रवाई कर रही थी। सभाएं तोड़ी जाती थीं। पंजाब में एक किसान विद्रोह का बड़ी क्रूरता-पूर्वक दमन किया गया। स्कूली बच्चों को राष्ट्रीय गीत गाने पर ही पकड़ लिया जाता था।

पहले काल की तरह इस बार भी दमन के बाद सुधारों का नम्बर आया ताकि उनके जरिये सरकार को नरमदली नेताओं का समर्थन प्राप्त हो जाय। १९०९ में मोर्ले-मिंटो का सुधार आया जो बहुत ही संकुचित ढंग की योजना थी। १८९२ के इन्डियन काउंसिल एक्ट के द्वारा काउंसिलों में कुछ भारतीय प्रतिनिधि लेने की जिस क्रिया का श्रीगणेश किया गया था, वह क्रिया अब और आगे बढ़ी। मोर्ले-मिंटो सुधार-योजना द्वारा केन्द्रीय लेजिस्लेटिव काउंसिल में कुछ भारतीय प्रतिनिधि ले लिये गये, हालांकि इन प्रतिनिधियों का काउंसिल में अल्पमत था और वे अप्रत्यक्ष रीति से चुने जाने वाले थे। और

प्रांतीय काउंसिलों के अप्रत्यक्ष रीति से चुने गये प्रतिनिधियों का बहुमत कर दिया। लेकिन इन काउंसिलों को कोई ठोस अधिकार नहीं दिया गया। उनका काम केवल अंग्रेज गवर्नर को सलाह देना था। कांग्रेस इस समय नरमदली नेताओं के कब्जे में थी। सुधारों का ऐलान होते ही उन्होंने घोषणा कर दी कि वे सरकार के साथ हैं। १६१० में जब नया वायसराय आया तो कांग्रेस के नेताओं ने राजभक्ति के भावों से भरे एक अभिनन्दन पत्र से उसका स्वागत किया। और जब १६११ में एक शाही फरमान के द्वारा बंग-भंग रद्द कर दिया गया, तो कांग्रेस की तरफ से ऐलान किया गया कि "इस समय हर एक भारतीय का हृदय ब्रिटिश सम्राट के प्रति श्रद्धा और भक्ति से ओत प्रोत है; और ब्रिटिश राजनीतिज्ञों में हमारा विश्वास फिर से दृढ़ हो गया है और हम उनके अत्यंत कृतज्ञ हैं।"

१६११ में बंग-भंग का रद्द किया जाना बहिष्कार आंदोलन की एक आंशिक जीत थी। १६०६ से १६११ तक भारत में संघर्ष की जो लहर उठी थी, वह बाद के वर्षों में नीचे गिरने लगी; लेकिन उससे राष्ट्रीय आंदोलन के बल और विस्तार में जो स्थायी विकास हुआ था, वह कायम रहा। १६१४ के पहले के गरमदली नेताओं ने अपने बहुत से दोषों के बावजूद एक महान एवं स्थायी कार्य कर डाला था। उनके कार्य के फलस्वरूप इतिहास में पहली बार भारत की आजादी की मांग दुनिया की राजनीति का एक प्रमुख प्रश्न बन गयी; और भारत के राजनीतिक आंदोलन में पूर्ण राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लक्ष्य तथा उसे प्राप्त करने के लिए दृढ़ संघर्ष के बीज पड़ गये, जो आगे चल कर आम जनता से बल प्राप्त करके अंकुरित हुए।

२. संघर्ष की दूसरी बड़ी लहर (१६१६-२२)

पहले संसारव्यापी महायुद्ध ने साम्राज्यवाद की पूरी व्यवस्था पर ऐसा जबर्दस्त प्रहार किया कि वह सदा के लिए कमजोर हो गयी; और १६१७ तथा उसके बाद के वर्षों में सारी दुनिया में एक क्रांतिकारी लहर शुरू हो गयी। इन्हीं दो बातों से भारत में भी पहले जन-आन्दोलन के रूप में विद्रोह का श्रीगणेश हुआ।

जिस प्रकार १६०५ के जागरण पर संसारव्यापी आन्दोलन की छाप थी, ठीक उसी प्रकार बल्कि उससे भी ज्यादा उस महान जन-आन्दोलन पर संसार के संघर्ष छाप थी जिसने १६१७ के बाद के वर्षों में अंग्रेजों के राज्य-सिंहासन को हिला दिया। भारत के संघर्ष तथा दुनिया की जनता के संघर्ष

की एकता को समझना अत्यन्त आवश्यक है। खास तौर पर इसलिए कि भारत के राजनीतिक जीवन में कुछ ऐसी विचारधाराएं भी हैं जो भारत को दुनिया से अलग करके देखती हैं और जिन्होंने यह अवैज्ञानिक समझ बना रखी है कि कुछ महान व्यक्तियों अथवा दलों के नेतृत्व करने या न करने से ही बड़े-बड़े आन्दोलन चलते या ठप हो जाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि १९१७ के बाद के वर्षों में भारत में राजनीतिक आंदोलन थोड़े से लोगों की चीज न रह कर जनता का आंदोलन बन गया। लेकिन यह परिवर्तन अकेले भारत में ही नहीं हुआ था।

दस साल पहले जापान के हाथों जारशाही रूस की हार के बाद १९१४ के महायुद्ध ने एशिया के लोगों के सामने यह बात और भी साफ कर दी कि पश्चिम के साम्राज्यवादी अजेय नहीं हैं। जब साम्राज्यवादी ताकतें खुद एक-दूसरे का गला काटने लगीं, तो गुलाम देशों के करोड़ों लोगों को यह आशा बंधने लगी कि साम्राज्यों का सूर्य अब अस्त होने वाला है।

साम्राज्यवाद ने शुरू से ही परिस्थिति पर काबू पाने के लिए बड़ी सख्ती से काम किया। उसने नये-नये कानून बनाकर विशेष अधिकार अपने हाथ में ले लिये। खास तौर पर इसके लिए भारत रक्षा कानून बनाया गया और सबसे ज्यादा डटकर लड़ने वालों को या क्रान्तिकारी दलों के सदस्यों को कैद या नजरबन्द कर दिया गया। युद्ध के शुरू के दिनों में राजनीतिक आन्दोलन के ऊपरी हिस्सों ने अपनी इच्छा से इस काम में साम्राज्यवाद की मदद की। कांग्रेस नरमदली नेताओं के कब्जे में थी। युद्ध-काल में उसके जो चार वार्षिक अधिवेशन हुए, उनमें कांग्रेस ने अपनी राजभक्ति का ऐलान किया और युद्ध के समर्थन में प्रस्ताव पास किये। यहां तक कि युद्ध खत्म हो जाने के बाद १९१८ में दिल्ली में जो अधिवेशन हुआ, उसमें भी अंग्रेज बादशाह के प्रति वफादारी का ऐलान किया गया और उसे "युद्ध के सफलतापूर्वक समाप्त हो जाने" पर बधाई दी गयी। बदले में सरकार ने भी कांग्रेस पर कृपादृष्टि रखी। कांग्रेस के १९१४ के अधिवेशन में मद्रास के गवर्नर लार्ड पेंटलैंड ने, १९१५ के अधिवेशन में बम्बई के गवर्नर लार्ड विलिंगडन ने, और १९१६ के अधिवेशन में उत्तर प्रदेश के गवर्नर सर जेम्स मेस्टन ने भाग लिया, और हर बार अंग्रेजी सरकार के प्रतिनिधि का बड़ी धूमधाम से स्वागत किया गया। लड़ाई शुरू होने के समय जो जिम्मेदार भारतीय नेता लन्दन में मौजूद थे, उन्होंने तुरन्त सरकार की मदद करने का ऐलान किया। उस समय कांग्रेस का एक प्रतिनिधि-मंडल लन्दन गया हुआ था, जिसमें लाला लाजपत राय, मि. जिन्ना, लार्ड सिन्हा, आदि थे। इस प्रतिनिधि-मंडल ने भारत-मंत्री को एक पत्र लिख कर अपना यह विश्वास प्रकट किया कि "भारत के राजे रजवाड़े और साधा-

रण जनता बड़ी तत्परता के साथ और स्वेच्छा से भरसक सहयोग करेगी और देश के तमाम साधन सम्राट को अर्पण कर देगी" ताकि "साम्राज्य की शीघ्र विजय हो।"

गांधी जी दक्षिण अफ्रीका से नये-नये लन्दन आये थे। सिसिल होटल में उनका स्वागत किया गया। वहां उन्होंने अपने नौजवान भारतीय दोस्तों से कहा कि उन्हें "साम्राज्य के दृष्टिकोण से सोचना चाहिए" और "अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए।" अपने तथा दूसरों के दस्तखतों के साथ उन्होंने भारत-मंत्री के पास एक पत्र भेजा और अपनी सेवाओं का वचन दिया। बाद में उन्होंने लन्दन में रहने वाले भारतीयों को भर्ती करके एक डाक्टरी दल संगठित करने के सिलसिले में जो काम किया, वह सर्वविदित है। भारत लौटकर उन्होंने फिर अपनी सेवाएं वायसराय को अर्पण की और कहा कि वह मेसोपोटामिया के युद्ध में होने वाले जख्मियों को ढोने के लिए एक टुकड़ी भर्ती करना चाहते हैं। वायसराय ने १९१७ में जब दिल्ली में एक युद्ध-सम्मेलन बुलाया, तो उसमें गांधी जी भी शरीक हुए। और यहां तक कि जुलाई १९१८ में भी गांधी जी गुजरात में रंगरूटों की भर्ती का प्रचार करते घूम रहे थे और गुजराती किसानों से कह रहे थे कि स्वराज्य लेना है तो फौज में भर्ती हो।

नरमदली नेताओं के इन ऐलानों और "राजभक्ति" के प्रदर्शनों का अंग्रेजी सरकार ने यह मतलब लगाया कि भारत के नेताओं में अंग्रेजी राज के उपकारों को देखकर बड़ा उत्साह और कृतज्ञता का भाव पैदा हुआ है। लेकिन असलियत कुछ और ही थी। बाद में खुद कांग्रेस के नेताओं ने बात साफ कर दी। असल में उन्होंने यह हिसाब लगाया था कि युद्ध में साम्राज्यवाद की सहायता करने पर सबसे जल्दी स्वराज्य का दरवाजा खुल जायगा। चुनांचे १९२२ में गांधी जी ने अपने मुकदमे के दौरान बयान देते हुए कहा था :

> "साम्राज्य की सेवा करने के ये तमाम प्रयत्न मैंने इस विश्वास के साथ किये कि इस प्रकार की सेवाओं के द्वारा मैं अपने देशवासियों के लिए पूर्ण समानता का स्थान प्राप्त कर सकूंगा।"

बाद में इन लोगों ने खुद कहा कि उनकी आशाएं झूठी साबित हुईं।

ऊपरी नेताओं की इस नीति के बावजूद जनता का असंतोष बढ़ने से नहीं रुका। युद्ध के कारण जनता की हालत बहुत खराब हो गयी थी। युद्ध का खर्चा चलाने के लिए भारत की गरीब जनता से इतना कसकर रुपया वसूला गया था कि उसकी कमर टूट गयी थी। महंगाई की मार और अंधाधुंध नफाखोरी ने लोगों को तबाह और बर्बाद कर दिया था। यह इसी का एक नतीजा था कि युद्ध समाप्त होने पर भारत में काले बुखार की ऐसी महामारी फैली,

जैसी पहले कभी न आयी थी। १ करोड़ ४० लाख लोग इस महामारी के शिकार हो गये। जनता की बढ़ती हुई बेचैनी की एक झलक पंजाब के गदर आंदोलन और फौजों की बगावतों के रूप में दिखाई दी जिनका बड़ी बेरहमी से दमन किया गया और जिनको कुचलने के लिए अनेक लोगों को फांसी और लम्बी कैद की सजाएं दी गयीं। १६१७ में इंगलैंड के एक जज की मातहती में रौलट कमीशन नियुक्त किया गया। इस कमीशन को आदेश दिया गया कि वह "भारत में चलने वाले क्रांतिकारी आंदोलनों से सम्बन्धित षड्यन्त्रों की जांच" करके सिफारिश करे कि उसका दमन करने के लिए सरकार कौन से नये कानून बनाये।

कुछ समय बाद जनता की बढ़ती हुई बेचैनी राजनीतिक आंदोलन में भी प्रकट होने लगी। १६१६ के बाद से राष्ट्रीय आन्दोलन में कुछ नयी प्रवृत्तियां दिखाई पड़ने लगीं। १६१६ में तिलक महाराज ने होम-रूल (स्वराज्य) लीग की स्थापना की। उनके आंदोलन में श्रीमती एनी बेसेंट नामक एक अंग्रेज थियोसोफिस्ट महिला भी शामिल हुईं। श्रीमती बेसेंट राष्ट्रीय आंदोलन को साम्राज्य के प्रति "वफादारी" के मार्ग पर घसीटने का प्रयत्न करती थीं। बाद में इन्होंने सक्रिय रूप से असहयोग आन्दोलन का विरोध किया। १६१६ में कांग्रेस का अधिवेशन लखनऊ में हुआ, और इस अवसर पर गरमदली और नरमदली नेताओं में मेल हो गया। इससे भी ज्यादा महत्व की बात यह रही कि कांग्रेस और मुस्लिम लीग (जिसकी स्थापना १६०५ में हुई थी) के बीच समझौता कराने के जिन प्रयत्नों का सूत्रपात १६१३ में कांग्रेस के करांची अधिवेशन में हुआ था, वे अन्त में १६१६ में आकर सफल हो गये। कांग्रेस और लीग के बीच समझौता होने का एक कारण यह था कि तुर्की के खिलाफ अंग्रेजों के लड़ाई छेड़ देने की वजह से मुस्लिम जनता में बड़ा गुस्सा फैल गया था, और उसकी यह भावना १६१५ में मुस्लिम लीग के सम्मेलन में व्यक्त भी हो चुकी थी। १६१६ में कांग्रेस और लीग के बीच समझौता हो गया। दोनों ने मिलकर सुधारों की एक संयुक्त योजना तैयार की। इस योजना का आधार साम्राज्य के अन्दर रहते हुए आंशिक स्वराज्य था (उसकी मुख्य बातें ये थीं: काउंसिलों में चुने हुए सदस्यों का बहुमत हो, काउंसिलों के अधिकार बढ़ाये जायें, वायसराय की कार्यसमिति के आधे सदस्य भारतीय हों)। इसके साथ-साथ दोनों संस्थाओं ने यह ऐलान किया कि भारत का उद्देश्य यह है कि उसे "साम्राज्य के अन्दर खुदमुख्तार डोमीनियनों जैसा बराबरी का दर्जा मिले।"

भारत की यह हालत थी जबकि १६१७ में रूसी क्रान्ति के बाद दुनिया की परिस्थिति में यकायक एक बड़ा परिवर्तन आया, और उसके कारण घटनाचक्र बड़ी तेजी से घूमने लगा। यह परिवर्तन ब्रिटेन और भारत के

सम्बन्धों के क्षेत्र में भी प्रकट हुआ। रूसी क्रान्ति ने राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के सवाल को इस तरह दुनिया के सामने लाकर खड़ा कर दिया कि दोनों पक्षों की साम्राज्यवादी ताकतें बेहद परेशानी में पड़ गयीं। जारशाही के पतन को पांच महीने भी नहीं बीते थे कि ब्रिटिश सरकार ने जल्दी-जल्दी यह ऐलान निकाला कि भारत में अंग्रेजी राज्य का उद्देश्य "स्वायत्त शासन की संस्थाओं का धीरे-धीरे विकास करना है ताकि भारत ब्रिटिश साम्राज्य का एक अभिन्न अंग रहते हुए क्रमशः जिम्मेदार हुकूमत की ओर बढ़ सके।" साथ ही इस ऐलान में यह वादा किया गया था कि जल्द से जल्द इस दिशा में ठोस कदम उठाये जायेंगे।" (यही वह ऐलान है जो मांटेग्यू घोषणा के नाम से प्रसिद्ध है क्योंकि उस समय मांटेग्यू साहब भारत-मंत्री थे; हालांकि असल में इस ऐलान को कर्जन और ऑस्टेन चेम्बरलेन ने तैयार किया था।) ब्रिटिश सरकार ने कितनी जल्दी में यह ऐलान किया था, इस बात से साफ हो जाता है कि ऐलान कर चुकने के बाद ही इस बात की छानबीन शुरू हुई कि आखिर किस मतलब से यह ऐलान किया गया था। इस छानबीन के नतीजे के तौर पर, मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट कहीं एक साल बाद जाकर तैयार हुई। उसके आधार पर कानून कहीं १९१९ में बनाया गया। और उस पर अमल करना तो १९२० में जाकर शुरू हुआ। तब तक भारत की पूरी परिस्थिति बदल गयी थी।

१९१८-१९१९ के सुधारों की मुख्य बात यह थी कि प्रान्तों में "डायर्की" -यानी दोहरी हुकूमत कायम कर दी गयी; अर्थात, कुछ विभाग अंग्रेज मंत्रियों के हाथ में रहे और कुछ भारतीय मंत्रियों के सुपुर्द कर दिये गये। दस साल पुरानी मोर्ले-मिंटो योजना की तरह ये सुधार भी इस माने में कामयाब रहे कि उनसे ऊपरी वर्गों के राष्ट्रीय नेताओं में फूट पड़ गयी। लेकिन, इस बार सुधारों के द्वारा जिन नरमदली नेताओं का समर्थन साम्राज्यवाद को मिला, उनका देश के राजनीतिक जीवन में कम वजन था। यह इस बात का सूचक था कि राष्ट्रीय आन्दोलन विकास की एक नयी मंजिल में पहुंच गया है। १९१७ के अन्त में कांग्रेस का कलकत्ता अधिवेशन हुआ। उसकी अध्यक्ष श्रीमती बेसेंट थीं। उन्होंने वहां एक प्रस्ताव पास कराया जिसमें कहा गया था कि "एकता के सूत्र में बंधी हुई भारत की जनता की ओर से कांग्रेस, महामहिम सम्राट को अत्यन्त आदरपूर्वक अपनी हार्दिक वफादारी और गहरे प्रेम का विश्वास दिलाती है तथा निवेदन करती है कि भारत की जनता हर मुसीबत में और हर कीमत देकर ब्रिटिश साम्राज्य का साथ देगी।" लेकिन जब मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट १९१८ की गर्मियों में प्रकाशित हो गयी, तब बम्बई में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन हुआ और उसने रिपोर्ट के सुझावों को

"निराशाजनक और असंतोषप्रद" बताते हुए उनकी निन्दा का प्रस्ताव पास किया। इस विशेष अधिवेशन के बाद ही गांधी जी के सिवा बाकी सभी नरम-दली नेता कांग्रेस से अलग हो गये और बाद में उन्होंने भारतीय लिबरल फेडरेशन की स्थापना कर डाली। ये लोग पूंजीपति वर्ग के उन तत्वों का प्रतिनिधित्व करते थे जो साम्राज्यवाद से सहयोग करना चाहते थे। लेकिन दिसम्बर १९१९ में कांग्रेस ने फिर सुधारों को स्वीकार करने का ही प्रस्ताव पास किया, हालांकि इस बार इस सवाल को लेकर संगठन में गहरा मतभेद उठ खड़ा हुआ। गांधी जी ने श्रीमती बेसेंट के समर्थन से सुधारों को स्वीकार करने पर जोर दिया। विरोधी पक्ष का नेतृत्व श्री सी. आर. दास ने किया। अन्त में जो प्रस्ताव पास हुआ, उसमें सुधारों की एक बार फिर आलोचना करने के बाद यह मांग की गयी थी कि "आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के अनुसार पूरी तौर पर जिम्मेदार हुकूमत कायम करने के लिए फौरन कदम उठाये जायें।" लेकिन इसके साथ प्रस्ताव में गांधी जी का यह संशोधन भी जोड़ दिया गया था कि "जब तक ऐसे कदम नहीं उठाये जाते, तब तक कांग्रेस यह विश्वास करती है कि जनता जहां तक सम्भव होगा, इन सुधारों से इस तरह काम लेगी कि जल्द ही देश में एक पूरी तौर पर जिम्मेदार हुकूमत कायम हो सके।"

गांधी जी का मत १९१९ के अन्तिम दिनों में भी सरकार से सहयोग करने और सुधारों को मंजूर करने का था। उन्होंने अपने साप्ताहिक पत्र में एक लेख के दौरान लिखा था :

> "सरकारी ऐलान के साथ सुधारों का जो कानून पास हुआ है, वह इस बात का सबूत है कि अंग्रेज लोग भारत के साथ न्याय करना चाहते हैं और अब इस बारे में हमारे सन्देह दूर हो जाने चाहिए...इसलिए हमारा कर्तव्य है कि सुधारों की बेकार नुक्ताचीनी न करके चुपचाप उनसे काम लेना शुरू करें ताकि वे कामयाब हों।"

गांधी जी का यह ऐलान बड़े महत्व का है, क्योंकि रौलट कानूनों के बनने, जलियांवाला बाग की घटना और पंजाब में मार्शल-लॉ लगने के बाद यह बात कही गयी थी। यानी, यह उन तीनों घटनाओं के बाद का ऐलान है जिनको बाद में असहयोग आन्दोलन छेड़ने का कारण बताया गया था। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जब अगले साल नेताओं ने असहयोग आंदोलन छेड़ने का फैसला किया, तब ये तीन घटनाएं नहीं बल्कि कुछ और ही बात उनके सामने थी।

वास्तविकता यह थी कि कांग्रेस हालांकि अब भी सरकार से सहयोग कर

रही थी, मगर १९१९ में परिस्थिति एकदम बदल गयी थी और कांग्रेस की सहयोग की नीति का सारा आधार नष्ट हुआ जा रहा था। १९१९ में सारे देश में बेचैनी की लहर फैल गयी। १९१८ के अन्तिम और १९१९ के शुरू के महीनों में हड़तालों की एक ऐसी लहर शुरू हो चुकी थी, जैसी पहले भारत में कभी नहीं देखी गयी थी। दिसम्बर १९१८ में बम्बई की मिलों से हड़ताल आरम्भ हुई जो जनवरी १९१९ तक १२५,००० मजदूरों में फैल गयी। १९१९ के आरम्भ में रौलट कानून काउंसिल में पेश हुए और मार्च के महीने में पास हो गये। इन कानूनों का उद्देश्य यह था कि युद्ध-काल में सरकार ने विशेष कानून पास करके दमन करने के जो असाधारण अधिकार अपने हाथ में ले लिये थे, वे युद्ध समाप्त हो जाने और विशेष कानूनों की मियाद खतम हो जाने के बाद भी सरकार के हाथों में बने रहें, ताकि उसे अदालती कार्रवाई करने की जरूरत न पड़े और वह लोगों को बिना मुकदमा जेल में बन्द कर सके। इन कानूनों से यह बात साफ हो गयी कि सरकार मुंह से तो सुधारों की मीठी बातें कर रही है, मगर उसके हाथ में दमन का डंडा है। जनता को यह देखकर बड़ा क्रोध आया। गांधी जी ने दक्षिण अफ्रीका के अपने अनुभव के आधार पर रौलट कानूनों के खिलाफ सत्याग्रह आंदोलन चलाना चाहा और इसके लिए फरवरी के महीने में उन्होंने एक सत्याग्रह लीग भी बना डाली। जनता से ६ अप्रैल को हड़ताल करने की अपील की गयी। जनता ने इतने उत्साह से अपील पर अमल किया कि खुद अपील करने वाले हक्के-बक्के रह गये। मार्च और अप्रैल में देश के अनेक भागों में बड़े-बड़े जुलूस निकले, हड़तालें हुईं और कहीं-कहीं पर जनता की पुलिस से टक्करें हो गयीं और जनता ने सरकारी दमन का बहादुरी से मुकाबला किया, हालांकि इसमें बहुत से लोग जख्मी हुए और अनेक मारे गये। इस वर्ष की सरकारी रिपोर्ट में इस बात पर बड़ी हैरानी और घबराहट जाहिर की गयी है कि लोगों में यकायक ऐसी एकता कैसे कायम हो गयी कि हिन्दू-मुस्लिम विरोध की सारी बातें गायब हो गयीं। रिपोर्ट के शब्द हैं :

> "इस आम हलचल में एक खास बात यह देखी गयी कि हिन्दुओं और मुसलमानों में अभूतपूर्व भाईचारा कायम हो गया है। नेताओं ने बहुत दिन पहले हिन्दू-मुस्लिम एकता को राष्ट्रवादी कार्यक्रम का निश्चित अंग बना रखा था। इस आम हलचल के वक्त नीचे के वर्ग भी एक बार अपने भेदभाव भूल गये। भाईचारे के असाधारण दृश्य दिखायी दिये।"

सरकार ने असाधारण ढंग का दमन किया। अमृतसर में जलियांवाला बाग की घटना इसी समय हुई जहां जनरल डायर ने चारों ओर दिवारों से

घिरे हुए एक स्थान में एकत्रित जनता पर, जिसके बाहर निकलने का कोई मार्ग न था, १,६०० गोलियां बरसायीं। इस हत्याकांड में (सरकारी आंकड़े के अनुसार) ३७६ व्यक्ति मारे गये और १,२०० जख्मी हुए जो बिना किसी तरह की मरहम पट्टी के घटना-स्थल पर ही पड़े रहे। जनरल डायर ने बाद में कहा कि गोली चलाने का उद्देश्य "वहां पर मौजूद लोगों पर ही नहीं, बल्कि विशेषतया पूरे पंजाब के लोगों पर, सैनिक दृष्टि से नैतिक प्रभाव डालना था।" सीधे सादे शब्दों में कहा जाय तो जनरल डायर के अनुसार जलियांवाला बाग हत्याकांड का उद्देश्य सारी जनता को आतंकित करना था। उस समय भारत पर दमन का कैसा घटाटोप छाया हुआ था, यह इससे जाना जा सकता है कि कांग्रेस के नेताओं को भी इस हत्याकांड का विस्तृत समाचार घटना के चार महीने बाद मिला और लगभग आठ महीने तक सरकार ने उसकी एक भी खबर समाचार पत्रों में नहीं छपने दी तथा उसे ब्रिटिश पार्लमेंट और अंग्रेज जनता से छिपाये रखा। जब बहुत आंदोलन हुआ और कांग्रेस ने मामले की जांच करने के लिए अपनी एक कमेटी नियुक्त कर दी, तब ब्रिटिश सरकार को भी कूटनीति के नाम पर मजबूर हो कर घटना की जांच और निन्दा करनी पड़ी। लेकिन जनरल डायर की साम्राज्यवादियों ने बड़ी तारीफें कीं (और उसे २०,००० पौंड की एक थैली भी दी) और लार्ड-सभा ने उसके काम की बाक़ायदा प्रशंसा की। पंजाब में मार्शल ला लगा दिया गया। आतंक-राज के उस काल में वहां किस बड़े पैमाने पर गोलीकांड हुए, फांसियां दी गयीं, हवाई जहाजों से बम गिराये गये, और भयानक सजाएं दी गयीं, इसका पूरा हिसाब अभी तक नहीं लगाया जा सका है। बाद में जो जांच पड़ताल हुई, उससे भी केवल आंशिक जानकारी ही प्राप्त हो सकी।

ब्रिटिश सरकार का मत था कि इस काल में "आंदोलन ने निस्सन्देह अंग्रेजी राज के खिलाफ संगठित विद्रोह का रूप ले लिया था।" परिस्थिति को यूं बदलते देखकर गांधी जी को घबराहट हुई। कलकत्ता, बम्बई, अहमदाबाद और कुछ अन्य स्थानों में जनता ने शासकों के खिलाफ इक्के दुक्के हिंसा का प्रयोग किया। इस पर गांधी जी ने ऐलान किया कि मैंने "एक हिमालय जैसी भूल की थी जिससे कुछ ऐसे लोगों को उपद्रव करने का मौका मिल गया जिनका उद्देश्य अच्छा नहीं था और जो सच्चे सत्याग्रही कदापि न थे।" चुनांचे एक हफ्ता हड़ताल चलने के बाद ही गांधी जी ने अप्रैल के मध्य में सत्याग्रह आंदोलन रोक दिया। इस प्रकार ठीक उस समय, जब आंदोलन शिखर पर पहुंचने ही वाला था उसे बन्द कर दिया गया। बाद में गांधी जी ने २१ जुलाई को अखबारों के नाम खत लिख कर यह बताया कि आंदोलन इसलिए वापस ले लिया गया है क्योंकि "सत्याग्रही कभी सरकार को

परेशान नहीं करना चाहता।" सत्याग्रह का यह अनुभव आगे चलकर बड़े पैमाने पर दुहराया जाने वाला था।

हम ऊपर देख चुके हैं कि दिसम्बर १६१६ में कांग्रेस सुधारों से काम लेने की बात सोच रही थी और गांधी जी कह रहे थे कि राष्ट्रीय आंदोलन का कर्तव्य है कि "चुपचाप सुधारों से काम लेना शुरू करे, ताकि वे कामयाब हों।" लेकिन अब देश की परिस्थिति ऐसी नहीं रह गयी थी कि यह सपना सच्चा होता। १६१६ में जनता में बेचैनी की जो लहर तेजी से उठी थी, वह १६२० और १६२१ में बराबर आगे बढ़ती रही और १६२० के उत्तरार्ध में जो अर्थ संकट शुरू हुआ, उससे तो इस लहर का वेग और भी बढ़ गया। १६२० के पहले छः महीने में हड़तालें सबसे तेज रहीं। इस काल में २०० हड़तालें हुईं जिनमें १५ लाख मजदूरों ने भाग लिया। इस बाढ़ के सामने "चुपचाप सुधारों से काम लेना शुरू करने" की सलाहें एक मखौल बन गयी। सितम्बर १६२० में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन हुआ। उसके अध्यक्ष लाला लाजपतराय ने कहा :

> "इस सत्य की ओर से आंखें मूंद लेने से कोई लाभ नहीं है कि हम लोग एक क्रांतिकारी जमाने से गुजर रहे हैं...हम स्वभाव और परम्परा से क्रांतियों के खिलाफ हैं। परम्परा से हम धीरे-धीरे चलने वाले लोग हैं; मगर जब एक बार हम तै कर लेते हैं कि चलना है तो फिर हम बहुत तेजी से चलते हैं और बहुत जल्दी-जल्दी डग भरते हैं। कोई भी सजीव वस्तु अपने जीवनकाल में क्रान्तियों से एकदम अछूती नहीं रह सकती।"

कांग्रेस अध्यक्ष के इस विश्लेषण की मूल बात सही थी। उनके एलान का असल में यह मतलब था कि जमाना क्रान्ति का है, मगर नेतागण "स्वभाव और परम्परा से क्रान्तियों के खिलाफ हैं," और इसलिए उनके सामने समस्या यह पैदा हो गयी है कि बढ़ते हुए आंदोलन का आखिर कैसे नेतृत्व किया जाय। युद्ध के बाद भारत में जो राजनीतिक परिस्थिति पैदा हो गयी थी, उसका भीतरी विरोध इसी बात में था। उस समय और भी बहुत से देशों में ऐसी हालत थी कि युद्ध से जो अवसर पैदा हुआ था, उससे लाभ उठाने की परिपक्वता राजनीतिक आंदोलन में नहीं थी।

इस परिस्थिति में गांधी जी और कांग्रेस के अन्य प्रमुख नेताओं ने (नरम-दली नेता तो इस समय तक कांग्रेस छोड़ ही चुके थे) अपना मोर्चा एकदम बदल देने का फैसला किया। १६२० में उन्होंने सुधारों से सहयोग करने की बात छोड़ दी और बढ़ते हुए जन आंदोलन की बागडोर अपने हाथ में लेने का फैसला किया। इसके लिए उन्होंने तरीका निकाला "अहिंसात्मक असहयोग"

का। यहां से जन-आंदोलन का नेतृत्व कांग्रेस करने लगती है, मगर इसके लिए देश को यह कीमत देनी पड़ती है कि संघर्ष सदा "अहिंसात्मक" रहे।

अहिंसात्मक असहयोग की नयी योजना कांग्रेस ने सितम्बर १९२० में कलकत्ते के अपने विशेष अधिवेशन में स्वीकार की। कुछ लोगों ने उसका विरोध किया, लेकिन गांधी जी और पंडित मोतीलाल नेहरू के साथ उग्रवादी मुसलमान नेता अली-बंधुओं के मिल जाने से एक ऐसा जबर्दस्त मोर्चा कायम हो गया था कि विरोधियों की कुछ न चलने पायी। अली-बंधु इस समय खिलाफत आन्दोलन की अगुवाई कर रहे थे, जो कि नाम को तो तुर्की के साथ सेव्रेज की संधि के द्वारा किये गये अन्याय का विरोध करने का आन्दोलन था, मगर व्यवहार में मुस्लिम जनता के असंतोष को एक सूत्र में बांधने का काम कर रहा था। कलकत्ता अधिवेशन के प्रस्ताव में ऐलान किया गया कि "महात्मा गांधी ने जो उत्तरोत्तर बढ़ने वाला अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन आरम्भ किया है, वह तब तक जारी रहेगा जब तक कि उपरोक्त अन्याय की बातों का निराकरण नहीं किया जाता और स्वराज्य नहीं कायम होता।" असहयोग का यह आन्दोलन कई मंजिलों से होकर बढ़ने वाला था। उसका श्रीगणेश सरकार की दी हुई उपाधियों को त्यागने और तीन तरह के बहिष्कार से होने वाला था। तीन तरह के बहिष्कार में धारा-सभाओं का, अदालतों और कचहरियों का तथा स्कूलों-कालेजों का बहिष्कार शामिल था। उसके साथ ही "हर घर में फिर से चर्खा और करघा चालू करने" की बात थी। आन्दोलन की अन्तिम अवस्था में कर-बन्दी आरम्भ करने की योजना थी, पर यह निश्चित नहीं था कि यह समय कब आयेगा। यह बात देखने की है कि तुरन्त जो कदम उठाये जा रहे थे, वे मध्य-वर्ग के कदम थे; जैसे वकीलों को अदालतों का बहिष्कार करना था और विद्यार्थियों को स्कूलों-कालेजों का, और अफसरों को सरकारी नौकरियां छोड़नी थीं। मगर आम जनता से केवल चर्खा कातने के लिए कहा गया था। कर-बन्दी (जो लाज़मी तौर पर लगान-बन्दी बन जाती) के कार्यक्रम में जनता सचमुच सक्रिय रूप से भाग ले सकती थी, लेकिन वह बाद के लिए टाल दिया गया था।

धारा-सभाओं का चुनाव नवम्बर में होने वाला था। उसका बहिष्कार बहुत सफल रहा। दो-तिहाई वोटरों ने चुनाव में भाग नहीं लिया। स्कूलों, कालेजों का बायकाट भी काफी कामयाब रहा। विद्यार्थियों में बड़ा जोश था। उनकी बहुत बड़ी संख्या असहयोग आन्दोलन में खिंच आयी। अदालतों का वकीलों द्वारा बहिष्कार कम कामयाब रहा। हां, पं. मोतीलाल नेहरू और श्री चितरंजन दास जैसे देश के कुछ वकीलों ने जरूर मुकदमे लड़ना छोड़ दिया।

दिसम्बर १९२० में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन नागपुर में हुआ। वहां लगभग एकमत से नया कार्यक्रम पास हो गया। इसके पहले कांग्रेस का लक्ष्य साम्राज्य के अन्दर रहते हुए औपनिवेशिक खुदमुख्तार हुकूमत प्राप्त करना था। अब उसे बदलकर "शान्तिपूर्ण तथा उचित उपायों से स्वराज्य प्राप्त करना" कांग्रेस का लक्ष्य बना दिया गया। इसके पहले कांग्रेस का संगठन बड़ा ढीला-ढाला था। नागपुर में एक आधुनिक ढंग की पार्टी का विधान स्वीकार हुआ ताकि कांग्रेस की स्थानीय शाखाएं हर गांव और मुहल्ले में कायम हो सकें। पूरे संगठन का संचालन करने के लिए पन्द्रह सदस्यों की एक कार्यसमिति बनायी गयी।

गांधी जी के दिये हुए नये कार्यक्रम और नीति को अपनाकर कांग्रेस ने एक बहुत बड़ा कदम उठाया था। अब कांग्रेस राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए सरकार के खिलाफ संघर्ष में जनता का नेतृत्व करने वाली राजनीतिक पार्टी बन गयी थी। इस स्थिति से (जिसको देखकर शुरू के जमाने के उग्र राष्ट्रवादी भी आंख मलते नजर आते) प्रगति करते-करते कांग्रेस आगे चलकर राष्ट्रीय आन्दोलन का मुख्य केन्द्र बन गयी।

लेकिन इस नये कार्यक्रम और नीति में एक दूसरा तत्व भी था, जो जन-संघर्ष से मेल नहीं खाता था। यह मध्यवर्गीय आध्यात्मिकता, नैतिक उधेड़-बुन और सुधारपन्थी शान्तिवाद का तत्व था जो "अहिंसा" के बड़े निर्दोष लगने वाले शब्द के रूप में प्रकट हुआ था। गांधी जी के हाथों में यह शब्द एक पूरी धार्मिक एवं दार्शनिक विचारधारा का सूचक बन गया। गांधी जी बहुत प्रभावशाली ढंग से और बड़ी लगन के साथ इस विचारधारा का प्रतिपादन और प्रचार कर रहे थे। कुछ बातों में उनकी विचारधारा भारत की पुरानी दार्शनिक चिन्तन-धाराओं से मिलती-जुलती थी, मगर उसका घनिष्ठ सम्बन्ध पश्चिम के तोल्सतोय, थोरो और इमर्सन जैसे आधुनिक विचारकों के चिन्तन के साथ था। जब गांधी जी अपने युवाकाल में विलायत गये थे, तब वहां इन लोगों के विचारों का बड़ा चलन और प्रभाव था। गांधी जी की चिन्तनधारा के निर्माण में इन विचारों का जबर्दस्त हाथ रहा। गांधी जी के बहुत से सहयोगी उनके दार्शनिक विचारों को नहीं मानते थे। मगर उन्होंने भी अहिंसा शब्द को यह सोचकर ग्रहण कर लिया कि जहां निहत्थी जनता को एक शक्तिशाली सशस्त्र शासक वर्ग से लड़ना है, वहां, कम से कम संघर्ष की शुरुआती अवस्था में, उसके लिए अहिंसात्मक उपायों से काम लेना ही बुद्धिमानी है। लेकिन, जैसा कि बाद की घटनाओं से और इस शब्द की नित नयी और अधिक विस्तृत व्याख्याओं से स्पष्ट हो गया, ऊपर से यह शब्द कितना ही निर्दोष, मानवतावादी और उपयोगी क्यों न लगता हो, वास्तव में, उसके

गर्भ में न सिर्फ अन्तिम संघर्ष से भागने की बात छिपी हुई थी, बल्कि उसमें फौरी अथवा तात्कालिक संघर्ष को रोकने की नीति भी निहित थी, क्योंकि अहिंसा के नाम पर आम जनता के हितों की बड़े-बड़े पूंजीपतियों और जमींदारों के हितों से पटरी बैठाई जाती थी, जबकि ये लोग लाजमी तौर पर हर तरह के निर्णायक जन संघर्ष के खिलाफ थे। यही वह भीतरी विरोध था जिसके कारण आन्दोलन बहुत बड़ी सफलताएं प्राप्त करने के बाद भी न तो पहली बार सफल हुआ, और न दस साल बाद दूसरी बार, जबकि पहले से भी बड़े पैमाने पर संघर्ष छेड़ा गया। नेताओं ने हर किसी को विश्वास दिलाया था कि नयी नीति अपनाने पर बहुत जल्द और निश्चित रूप से स्वराज्य मिल जायगा। इसी भीतरी विरोध के कारण यह आशा पूरी नहीं हो सकी।

जल्द से जल्द स्वराज्य प्राप्त करने के लिए कांग्रेस ने सरकार के खिलाफ संघर्ष चलाने का जो नया लड़ाकू कार्यक्रम अपनाया, उससे जन-आंदोलन बड़ी तेजी से आगे बढ़ चला। गांधी जी ने स्पष्ट और दृढ़ शब्दों में यह भविष्यवाणी की थी कि स्वराज्य १२ महीने के अन्दर मिल जायगा। यहां तक कि उसके लिए उन्होंने एक तारीख भी निश्चित कर दी थी—३१ दिसम्बर १९२१ के पहले-पहले स्वराज्य मिल जाने वाला था। बात यहां तक बढ़ गयी थी कि सितम्बर १९२१ में गांधी जी ने एक सम्मेलन में कह डाला कि "साल खत्म होने के पहले-पहले स्वराज्य प्राप्त कर लेने का मुझे इतना पक्का विश्वास है कि बिना स्वराज्य लिये मैं ३१ दिसम्बर के बाद जीवित रहने की कल्पना नहीं कर सकता।" लेकिन जाहिर है कि इस तारीख के बहुत वर्ष बाद तक गांधी जी सक्रिय रूप से राजनीति में भाग लेते रहे और आखिर तक अपनी यह दो-तरफा भूमिका अदा करते रहे।

गांधी जी ने विजय की तिथि तो निश्चित कर दी थी, लेकिन उनकी आन्दोलन की योजना उतनी सुनिश्चित नहीं थी। कांग्रेस का इतिहास में यह लिखा गया है :

> "लोग इस बात से आकर्षित हो रहे थे कि इस बार साधारण जनता सत्याग्रह करेगी। यह कैसा सत्याग्रह होगा, यह आंदोलन क्या रूप धारण करेगा? खुद गांधी जी ने यह कभी नहीं बताया था, इसकी कभी विस्तार से व्याख्या नहीं की थी, और खुद अपने दिमाग में भी इसका कोई चित्र नहीं बनाया था।"

सुभाष बोस ने अपनी पुस्तक में बताया है कि कैसे वह १९२१ के उन ऐतिहासिक दिनों में एक युवा शिष्य के रूप में बड़ी उत्सुकता के साथ पहली बार महात्मा जी से मिले थे और कैसे गांधी जी की बात सुनकर उन्हें घोर

निराश हुई थी। सुभाष बोस महात्मा जी से "साफ-साफ और तफसील के साथ यह जानना चाहते थे कि उनकी योजना क्या है, वह किन मंजिलों में से होकर बढ़ेगी, और एक-एक कदम रखते हुए अन्त में किस तरह विदेशी नौकरशाही के हाथों से सत्ता छीनी जायगी। लेकिन गांधी जी ने उनकी जिज्ञासा शांत नहीं की। सुभाष बाबू ने लिखा है :

> "मैं यह समझने में असमर्थ रहा कि गांधी जी सचमुच चाहते क्या थे। या तो वह समय से पहले अपना भेद नहीं देना चाहते थे और या उनके दिमाग में इस बात की कोई साफ समझ नहीं थी कि आखिर किन दांवपेंचों से सरकार को परास्त किया जायगा।"

श्री जवाहर लाल नेहरू ने गांधी जी की "मजेदार अस्पष्टता" का जिक्र इन शब्दों में किया है :

> "यह बात साफ थी कि हमारे अधिकतर नेताओं के लिए स्वराज्य का मतलब स्वतंत्रता से बहुत छोटी चीज था। गांधी जी इस विषय पर एक मजेदार अस्पष्टता से काम लेते थे, और वह यह भी नहीं चाहते थे कि दूसरे लोग ही उसके बारे में कोई साफ समझ रखें।"

लेकिन फिर भी, जैसा कि श्री जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है :

> "हम सब यह महसूस करते थे कि वह एक महान और अनोखे व्यक्ति तथा तेजस्वी नेता हैं; और एक बार उनमें विश्वास कर लेने के बाद हमने उन्हें अपनी तरफ से, कम से कम उस समय, सब कुछ करने का अधिकार दे दिया था।"

१९२१ के आन्दोलन की प्रगति केवल इसी बात में नहीं दिखाई देती थी कि लोग बड़े जोश के साथ असहयोग आन्दोलन में भाग ले रहे थे, बल्कि उसके साथ-साथ देश के तमाम भागों में जन-संघर्ष नया और अधिकाधिक उग्र रूप धारण कर रहा था। असम-बंगाल रेलवे पर मजदूरों ने हड़ताल कर दी थी। मिदनापुर में कर-बन्दी आन्दोलन चल रहा था। दक्षिण में मलाबार के मोपला किसानों ने विद्रोह कर दिया था। पंजाब में सरकार के दलाल महन्तों के खिलाफ अकालियों का उग्र आंदोलन चल रहा था।

१९२१ के अन्तिम महीनों में संघर्ष और तेज हो गया। सरकार पूरी परिस्थिति से बहुत अधिक चिन्तित और घबराई हुई थी। उसने बहुत सोच-विचार कर और बड़ी उम्मीद के साथ गांधी जी को हराने के लिए अपना तुरुप का इक्का फेंका। वर्ष के शुरू में कनाट के ड्यूक को भारत का दौरा करने के लिए भेजा गया था। इस बार सरकार ने खुद युवराज को भारत यात्रा पर भेजा। सरकार को यह आशा तो नहीं थी कि इस तरह जनता खुश हो जायगी, लेकिन पूर्व के रहस्यों का हर अंग्रेज विशेषज्ञ यह समझता

था कि पूर्व के लोगों के लिए राजा अथवा युवराज सबसे अधिक श्रद्धा और भक्ति का पात्र होता है। इसलिए, सरकार युवराज को भारत में घुमाकर जनता की भावनाओं को आंकना चाहती थी। युवराज के दौरे का परिणाम सरकार की आशाओं से अधिक हुआ—लेकिन उल्टी दिशा में। १७ नवम्बर को जब अंग्रेज युवराज ने भारत में पैर रखा, तो एक देशव्यापी हड़ताल से उसका स्वागत किया गया। जनता के असंतोष का ऐसा जबर्दस्त और कामयाब प्रदर्शन भारत में पहले कभी नहीं हुआ था। एक तरफ जनता का विरोध, दूसरी तरफ क्रोध से भरी सरकार का दमन-चक्र, दोनों में खूनी टक्करें हुईं। गांधी जी ने उन्हें रोकने की कोशिश की, पर वह सफल नहीं हुए। आखिर में उन्होंने ऐलान कर दिया कि उन्हें स्वराज्य शब्द से भी घिन आने लगी है।

इसी समय से राष्ट्रीय सेवादल का संगठन जोर पकड़ने लगा। अभी भी स्वयंसेवकों का संगठन कांग्रेस या खिलाफत आंदोलन के मातहत था और उसका आधार "अहिंसात्मक असहयोग" का सिद्धांत था। लेकिन स्वयंसेवकों की संख्या बहुत बड़ी थी। वे वर्दी पहनते थे, कवायद करते थे और जब वे हड़ताल कराने और विलायती कपड़े की दुकानों पर धरना देने या लोगों को शांतिपूर्ण ढंग से समझाने के लिए जाते, तो सिपाहियों की तरह लाइन बनाकर चलते।

सरकार ने अपनी पूरी ताकत से सेवादल का दमन किया। स्टेट्समैन और इंग्लिशमैन जैसे सरकारी अखबार चीख रहे थे कि कलकत्ते पर सेवादल के स्वयंसेवकों ने कब्जा कर लिया है और सरकार खत्म हो गयी है। वे मांग कर रहे थे कि सेवादल के खिलाफ तुरन्त कार्रवाई की जाय। सरकार ने सेवादल को गैर-कानूनी करार दे दिया। हजारों स्वयंसेवक गिरफ्तार कर लिये गये। उनकी खाली जगहों को तुरन्त हजारों विद्यार्थियों और कारखानों के मजदूरों ने भर दिया।

दिसम्बर खत्म होते-होते एक गांधी जी को छोड़कर कांग्रेस के बाकी सभी प्रमुख नेता जेलों में बन्द कर दिये गये। जेलों में राजबन्दियों की संख्या बीस हजार तक पहुंच गयी। अगले वर्ष जब आन्दोलन अपने शिखर पर पहुंचा, तो राजबन्दियों की संख्या तीस हजार हो गयी। जनता का जोश मानो उबला पड़ रहा था।

सरकार उलझन और परेशानी में थी। उसके हाथ-पैर ढीले पड़ने लगे थे। उसे डर था कि यदि सार्वजनिक विद्रोह की यह बीमारी शहरों से फैलती हुई करोड़ों किसानों के बीच पहुंच गयी, तो फिर अंग्रेजी राज को कोई नहीं बचा सकेगा। और उसके सारे हवाई जहाज और तोपें भी ३० करोड़ नर-नारियों के क्रोध की धधकती आग को शान्त न कर सकेंगी। वायसराय ने पंडित मदनमोहन मालवीय को बीच में डालकर जेल में बन्द राजनीतिक

नेताओं से समझौते की बातचीत शुरू की। वायसराय का सुझाव था कि यदि कांग्रेस असहयोग आन्दोलन को रोक दे, तो सरकार सेवादल को फिर से कानूनी करार दे देगी और राजबन्दियों को रिहा कर देगी। बातचीत बीच में ही टूट गयी। समझौता नहीं हो सका।

इस परिस्थिति में, वर्ष के अन्त में, कांग्रेस का अहमदाबाद अधिवेशन हुआ। अब नेताओं में अकेले गांधी जी जेल के बाहर थे। अधिवेशन के अध्यक्ष बंगाल के वीर नेता चितरंजन दास चुने गये थे, लेकिन वह भी जेल में थे। गांधी जी अधिवेशन की कारंवाई शुरू करने के लिए एक अंग्रेज पादरी को ले आये थे। यह कहा गया कि पादरी साहब कांग्रेस को एक धार्मिक संदेश देंगे। उन्होंने इस अवसर से लाभ उठाया और विलायती कपड़ा जलाने के खिलाफ एक उपदेश झाड़ दिया।

अहमदाबाद अधिवेशन ने बड़े उत्साह के साथ कुछ प्रस्ताव पास किये। इन प्रस्तावों में "कांग्रेस का यह दृढ़ निश्चय" प्रकट किया गया कि वह "अहिंसात्मक असहयोग आंदोलन को और भी जोर से चलायेगी और उस वक्त तक जारी रखेगी...जब तक कि भारत सरकार की बागडोर जनता के हाथों में न आ जाय;" अठारह वर्ष के तमाम लोगों से गैर-कानूनी राष्ट्रीय सेवा दल में भर्ती होने की अपील की गयी; इस लक्ष्य पर जोर दिया गया कि "सारा ध्यान सविनय अवज्ञा आन्दोलन पर दिया जायगा, यह आन्दोलन चाहे सार्वजनिक हो और चाहे व्यक्तिगत, और चाहे बचाव की लड़ाई के रूप में चलाया जाय और चाहे हमले की लड़ाई के रूप में;" और इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए सारे अधिकार गांधी जी के हाथों में दे दिये गये जिनको "कांग्रेस का एकमात्र अधिकारी" बना दिया गया।

अब गांधी जी कांग्रेस के डिक्टेटर हो गए थे। आन्दोलन अपने शिखर पर था। कांग्रेस ने सारे अधिकार गांधी जी के हाथों में दे दिये थे ताकि वे आन्दोलन को विजयी बना सकें। अब वक्त आ गया था कि शक्ति की आखिरी आजमाइश हो जाय, और आम सत्याग्रह आंदोलन छेड़ दिया जाय। पूरा देश गांधी जी की ओर ताक रहा था कि देखें, अब वह क्या करते हैं।

जब सारा राष्ट्र उत्साह और आशा से आन्दोलित हो रहा था, उस समय कांग्रेस के पक्ष में एक व्यक्ति था जो दुखी था और घटना-क्रम को देखकर चिन्तित हो रहा था। वह व्यक्ति थे गांधी जी। उन्हें लग रहा था कि उनका आन्दोलन, वह आन्दोलन जिसकी कल्पना पहले-पहल उन्होंने की थी, उनकी सोची हुई राह पर नहीं बढ़ रहा है। मानो कहीं कोई गड़बड़ी हो गयी हो! यह तो वह सुन्दर, मनमोहक, आदर्श "अहिंसात्मक" आन्दोलन नहीं था जिसकी उन्होंने कल्पना की थी। यह तो मानो अनजाने में उन्होंने कोई

राक्षस पैदा दिया था ! अनचाहे लोग आंदोलन में शरीक हो रहे थे। आगा-पीछा सोचकर न चलने वाले लोग, खासकर गांधी जी के मुसलमान साथी, यहां तक मांग करने लगे थे कि अब अहिंसा का नियम छोड़ देना चाहिए। १६२१ के अन्त में जब हजारों देशभक्त योद्धा गांधी जी की जय बोलते हुए जेल जा रहे थे, तब गांधी जी अपनी घबराहट और घृणा प्रकट कर रहे थे और कह रहे थे, कि उन्हें स्वराज्य शब्द से भी घिन आने लगी है।

अहमदाबाद में कांग्रेस ने पीछे हटना शुरू कर दिया। अभी खुलकर नहीं, क्योंकि देश में निकट भविष्य में होने वाली लड़ाइयों की आशा से तनाव का वातावरण था और हजारों लोग लड़ने-मरने को उत्सुक थे। लेकिन पीछे हटने के बहुत से छोटे-छोटे चिन्ह दिखाई देने लगे। अहमदाबाद अधिवेशन एक ऐतिहासिक अवसर था। देश भर में आम सत्याग्रह आन्दोलन छेड़ने के लिए, आखिरी लड़ाई का बिगुल बजाने के लिए—जिसकी सब बाट जोह रहे थे—इससे अच्छा और कोई अवसर नहीं हो सकता था। नवजात भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने अहमदाबाद कांग्रेस के नाम अपने ऐलान में कहा था :

> "यदि कांग्रेस उस क्रांति का नेतृत्व करना चाहती है जो तमाम भारत को हिलाये डाल रही है, तो उसे केवल प्रदर्शनों और क्षणिक आवेश पर ही भरोसा नहीं करना चाहिए। उसे मजदूर यूनियनों की तात्कालिक मांगों को अपनाना चाहिए; उसे किसान सभाओं के कार्यक्रम को अपने कार्यक्रम के रूप में स्वीकार करना चाहिए; और तब वह वक्त दूर नहीं रहेगा जब कि कोई भी बाधा कांग्रेस का रास्ता नहीं रोक पायेगी; क्योंकि तब अपने भौतिक हितों के लिए सचेत होकर लड़ने वाली समस्त जनता की अजेय शक्ति कांग्रेस के पीछे होगी।"

लेकिन अहमदाबाद में लड़ाई का बिगुल नहीं बजाया गया। उसकी जगह, देखने वालों ने देखा कि अहमदाबाद के प्रस्ताव में कर-बन्दी का जरा भी जिक्र नहीं होने दिया गया है। जहां-जहां आम सत्याग्रह का जिक्र था, वहां उसे भी तरह-तरह की अगर-मगर की शर्तों से घेर दिया गया था। कहीं कहा गया था : "आवश्यक शर्तों के पूरा होने पर ही" आन्दोलन छेड़ा जायगा; कहीं पर "आंदोलन के लिए खास हिदायतें" देने की बात थी; और कहीं पर कहा गया था कि "जब आम जनता अहिंसा के तरीकों को अच्छी तरह सीख जायगी," तभी आंदोलन छेड़ने की इजाजत दी जायगी।...इसके बाद प्रजातंत्रवादी मुस्लिम नेता मौलाना हसरत मोहानी वाली घटना हुई। उन्होंने एक प्रस्ताव पेश किया जिसमें कहा गया था कि स्वराज्य का मतलब ऐसी "पूर्ण स्वतंत्रता" है "जिसमें हर प्रकार के विदेशी नियंत्रण से मुक्ति मिल जायगी।" गांधी जी ने इस प्रस्ताव का जोरों से विरोध किया और कहा कि "इस प्रस्ताव से मुझे

चोट लगी है क्योंकि इससे जिम्मेदारी की भावना का अभाव प्रकट होता है।" अन्त में, उन्होंने प्रस्ताव को अस्वीकार करा दिया।

भारत सरकार आंखें फाड़कर अहमदाबाद का रवैया देख रही थी। उसने पीछे हटने के छोटे-छोटे चिन्हों को पहचाना और सुख की सांस ली। वायसराय ने भारत मंत्री के पास इस आशय का तार लन्दन भेजा :

"बड़े दिन की छुट्टियों में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन अहमदाबाद में हुआ। गांधी जी पर बम्बई के दंगों का बड़ा असर पड़ा था। उस वक्त उन्होंने जो बयान दिये थे, उनसे भी यही जाहिर होता था। इन दंगों से उनकी समझ में यह आ गया था कि आम सत्याग्रह शुरू करने में क्या-क्या खतरे हैं। अहमदाबाद कांग्रेस के प्रस्तावों से भी यह बात जाहिर होती है। उनमें न सिर्फ खिलाफत पार्टी के सबसे ज्यादा उग्रवादी लोगों का यह सुझाव नहीं माना गया है कि कांग्रेस को अहिंसा की नीति को छोड़ देना चाहिए; बल्कि उनमें यह ऐलान करते हुए भी कि दिल्ली वाली शर्त पूरी हो जाने पर सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू किया जायगा, कहीं पर भी कर-बन्दी का जिक्र नहीं किया गया है।"

अब गांधी जी क्या करेंगे ? अहमदाबाद अधिवेशन तो बिना कोई योजना बनाये ही खत्म हो गया। सारा दारोमदार गांधी जी पर था। जिस तरह पेरिस के घेरे के समय पेरिस निवासी यह कहकर अपने दिल को तसल्ली दिया करते थे कि जनरल त्रोचू ने जरूर कोई न कोई योजना तैयार कर रखी होगी, उसी तरह साम्राज्यवादी दमन की चक्की में पिसती भारतीय जनता गांधी जी की ओर आशाभरी नजरों से देख रही थी कि बस, अब वह अपनी योजना आरम्भ करने ही वाले हैं।

मगर गांधी जी ने जो कुछ किया वह विचित्र था। एक महीने तक वह इन्तजार करते रहे। पूरे महीने जिलों से गांधी जी के पास दरखास्तें आती रहीं कि उन्हें कर-बन्दी शुरू करने की इजाजत दी जाय। एक जिले ने—गुंटूर ने—तो बिना इजाजत पाये ही कर-बन्दी शुरू कर दी। गांधी जी ने तुरन्त वहां के कांग्रेस अधिकारियों को लिखा कि निश्चित तारीख तक सारे कर जमा कर दिये जायें। इसके बाद उन्होंने एक छोटे से इलाके में कर-बन्दी आरम्भ करने का निश्चय किया। यह बारदोली का इलाका था। यहां गांधी जी ने बड़ी एहतियात के साथ पूर्ण अहिंसा की परिस्थितियां तैयार की थीं। जब पूरा देश गांधी जी से नेतृत्व पाने की बाट देख रहा था, तब उन्होंने अपने को केवल बारदोली के उस छोटे से इलाके तक सीमित कर लिया जिसकी आबादी ८७,००० थी, यानी देश की आबादी का चार-हजारवां हिस्सा। १ फरवरी को उन्होंने वायसराय के पास अल्टीमेटम भेजा कि अगर राजबन्दी फौरन रिहा नहीं किये

गये और दमन बन्द नहीं हुआ, तो "आम सविनय अवज्ञा आन्दोलन" शुरू कर दिया जायगा—लेकिन केवल बारदोली के ताल्लुके में। उन्होंने अल्टीमेटम भेजा ही था कि चन्द दिन बाद खबर आयी कि उत्तर प्रदेश के चौरीचौरा नामक एक गांव में झुंझलाये हुए किसानों ने एक थाने पर हमला करके उसे जला दिया है और उसमें बाइस पुलिस वालों की जान चली गयी है। इस खबर से प्रकट होता था कि किसानों में बेचैनी कितनी बढ़ गयी है। गांधी जी ने समाचार सुनते ही तै कर लिया कि अब ज्यादा रुकने का समय नहीं है। जल्दी-जल्दी कांग्रेस कार्यसमिति की बैठक १२ फरवरी को बारदोली में बुलायी गयी। उसने फैसला किया कि "चौरीचौरा में भीड़ के अमानुषिक आचरण" को ध्यान में रखते हुए यह जरूरी है कि न सिर्फ आम सविनय अवज्ञा आन्दोलन को, बल्कि उसके प्रचार समेत पूरे आन्दोलन को ही बन्द कर दिया जाय। तै कर दिया गया कि स्वयंसेवकों के जलूस निकालना, सरकारी रोक को तोड़कर सभाएं करना, आदि सब रोक दिये जायें; और इस सब के बदले चर्खा, शराब-बन्दी और शिक्षा का "रचनात्मक" कार्य किया जाय; यानी, लड़ाई रोक दी गयी। पूरा आन्दोलन खत्म हो गया। खोदा पहाड़ निकली चुहिया।

अगर हम यह कहें कि बारदोली के फैसले से कांग्रेस के सभी लोग हक्के-बक्के रह गये, तो इससे उनकी असली भावनाएं प्रकट नहीं होंगी। इंगलैंड निवासियों को समझाने के लिए यह कहा जा सकता है कि भारत में बारदोली के फैसले का १९२२ में वही असर हुआ था, जो १९२६ में इंगलैंड में आम हड़ताल को वापस ले लेने का हुआ था। सुभाष बाबू ने लिखा है :

> "जब जनता का जोश उबला पड़ रहा था, ठीक उस वक्त पीछे हटने का बिगुल बजा देना पूरे राष्ट्र के लिए बहुत बड़ी दुर्घटना थी। महात्माजी के प्रमुख सहायक देशबंधु दास, पंडित मोतीलाल नेहरू और लाला लाजपत राय, सब के सब जेल के अन्दर थे। साधारण जनता की तरह वे भी इस फैसले को सुनकर बहुत नाराज हुए। मैं उस समय देशबंधु के साथ था और यह देख सकता था कि वह क्रोध और दुख से पागल हो रहे हैं।"

पं. मोतीलाल नेहरू, लाला लाजपत राय और दूसरे नेताओं ने जेल से गांधी जी को, उनके फैसले का विरोध करते हुए क्रोध से भरे हुए लम्बे-लम्बे खत लिखे। गांधी जी ने उन्हें यह सीधा सा उत्तर दे दिया कि जो लोग जेल में बन्द हैं, वे "नागरिकता की दृष्टि से मर चुके हैं," और नीति के मामले में उन्हें कुछ कहने-सुनने का अधिकार नहीं है।

यह पूरा आन्दोलन एक आदमी की इच्छा के अधीन बना दिया गया था। उसका संगठन ही इस आधार पर हुआ था कि जनता की स्वयं-स्फूर्त

क्रियाशीलता को जरा भी बढ़ावा न दिया जाय और एक नेता के सभी आदेशों का यंत्रवत पालन किया जाय। इसलिए, बारदोली के फैसले का लाजमी तौर पर यह नतीजा हुआ कि पूरा आन्दोलन उलझन, निराशा और पस्तहिम्मती का शिकार हो गया। पं. जवाहरलाल नेहरू ने इस आधार पर बारदोली के फैसले का समर्थन करने की कोशिश की है कि यदि आन्दोलन को रोका न जाता, तो वह हाथ से निकल जाता और हिंसा और खून-खच्चर के रास्ते पर चला जाता; और ऐसा होने से निश्चय ही सरकार की जीत होती। लेकिन जवाहर लाल जी ने भी यह माना है कि जिस ढंग से यह फैसला किया गया, उससे :

> "कुछ पस्तहिम्मती फैली। यह भी मुमकिन है कि इतने बड़े आन्दोलन को इस तरह यकायक बोतल में बन्द कर देने से देश में घटनाओं के शोचनीय रूप पकड़ने में मदद मिली। राजनीतिक संघर्ष में छिट-पुट और अनावश्यक हिंसा की प्रवृत्ति तो रुक गयी, मगर यह दबी हुई हिंसा अपने निकलने का रास्ता ढूंढती ही रही; और शायद यही कारण था कि आने वाले वर्षों में साम्प्रदायिक झगड़े बहुत बढ़ गये।"

जब आन्दोलन को इस तरह भीतर से पंगु और पस्तहिम्मत बना दिया गया, तब सरकार ने हिम्मत के साथ वार दिया। १० मार्च को गांधी जी को गिरफ्तार करके छः बरस की कैद की सजा सुना दी गयी। लेकिन इससे जन-आन्दोलन में जरा सी हरकत तक न आयी। दो वर्ष के भीतर ही गांधी जी रिहा कर दिये गये। संकट की घड़ी खत्म हो गयी थी।

बारदोली के फैसले को लेकर बहुत बहसें हुई हैं। उसके जो कटु परिणाम हुए और संघर्ष को रोक देने से आन्दोलन में छः बरस तक जो ढील बनी रही है, उसके बारे में बहुत तेज वाद-विवाद होता रहा है। दलील दी गयी है कि बारदोली फैसले की असली वजह चौरीचौरा के कांड से ज्यादा गहरी थी; और असलियत यह थी कि "हमारा आन्दोलन ऊपर से तो बहुत ताकतवर दिखाई देता था और जनता में बहुत ज्यादा जोश भी मालूम पड़ता था, पर भीतर से वह छिन्न-भिन्न हुआ जा रहा था;" और इसलिए उसे रोक देना जरूरी था। पूछा जा सकता है कि आन्दोलन किस माने में "छिन्न-भिन्न हुआ जा रहा था।" यदि इसका यह मतलब है कि आन्दोलन पर सुधारवादी-शान्तिवादी विचारों का नियन्त्रण ढीला पड़ रहा था, तो बात बिल्कुल ठीक है। लेकिन आन्दोलन की प्रगति के फलस्वरूप यह होना तो लाजिमी था और ऐसा हुए बिना आन्दोलन सफल नहीं हो सकता था (नेहरू जी ने भले ही यह मान लिया हो कि सारे देश में जनता के विद्रोह करने पर सरकार की जीत होती, लेकिन सरकार को अपनी जीत का इतना भरोसा न था)। दूसरी ओर, यदि

आन्दोलन के छिन्न-भिन्न होने का यह मतलब है कि जन-संघर्ष का उठान समाप्त हो चुका था और अब वह कमजोर पड़ने लगा था, तो निश्चय ही यह दावा झूठा था। सच तो यह है कि खुद बारदोली के निर्णय के समर्थक भी यह दावा नहीं करते थे। इसका सबसे अच्छा प्रमाण यह है कि खुद भारत सरकार ने बारदोली के फैसले के तीन दिन पहले परिस्थिति का बिल्कुल दूसरा मूल्यांकन किया था। ९ फरवरी १९२२ को वायसराय ने एक तार लन्दन भेजा था, जिसमें उन्होंने लिखा था :

> "शहरों के निम्न वर्गों पर असहयोग आन्दोलन का गहरा असर पड़ा है...। कुछ इलाकों में, खास कर असम घाटी, उत्तर प्रदेश, बिहार और उड़ीसा तथा बंगाल में किसानों पर भी असर पड़ा है। जहां तक पंजाब का सम्बंध है, वहां अकाली आन्दोलन...देहात में रहने वाली सिख जनता तक पहुंच गया है। पूरे देश में मुसलमानों का एक बड़ा हिस्सा कुढ़ा हुआ और नाराज बैठा है...किसी भी वक्त खतरनाक हालत पैदा हो सकती है...भारत सरकार समझती है कि यहां पर अभी तक जैसे उपद्रव हुए हैं, निकट भविष्य में उससे कहीं अधिक भयंकर उपद्रव हो सकते हैं। सरकार इस बात को जरा भी छिपाना नहीं चाहती कि वह देश की परिस्थिति को देखकर बहुत अधिक चिन्तित है।"

१२ फरवरी को बारदोली के फैसले ने सारे आंदोलन को रोक दिया। उसके तीन दिन पहले, ९ फरवरी को भारत सरकार ने परिस्थिति का यह मूल्यांकन किया था।

जनता कैसे अनुशासन के साथ आन्दोलन चला रही थी, और निर्णायक लड़ाई के लिए कितनी तैयार थी, यह गुंटूर के उदाहरण से स्पष्ट है, जहां गांधी जी के आदेशों के बावजूद एक गलतफहमी के कारण करबन्दी आंदोलन शुरू कर दिया गया था। जब तक गांधी जी के पास से आन्दोलन को रोकने और सरकारी कर जमा करा देने का आदेश नहीं आया, तब तक गुंटूर में सरकार ५ प्रतिशत से ज्यादा कर या लगान नहीं वसूल कर पायी थी। कांग्रेस के केन्द्र से एक इशारा भर मिलने की देर थी कि सारे देश में यह क्रिया आरम्भ हो जाती और जनता सरकारी कर और लगान देने से इंकार कर देती। मगर इस क्रिया के परिणामस्वरूप केवल साम्राज्यवाद का ही नहीं, बल्कि जमींदारी प्रथा का भी सफाया हो जाता।

बारदोली का फैसला सबसे ज्यादा इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर किया गया था। यह खुद फैसले के शब्दों से साफ हो जाता है। १२ फरवरी को कांग्रेस कार्यसमिति ने बारदोली में जो फैसला किया था, वह इतना महत्वपूर्ण है कि उसे पूरा उद्धृत कर देना उचित होगा। उसका ध्यानपूर्वक अध्ययन करने

पर भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन की शक्तियों और असंगतियों को समझने में मदद मिलेगी। बारदोली प्रस्ताव के मुख्य अंश ये हैं :

"धारा १। कार्यसमिति चौरीचौरा में भीड़ के इस अमानुषिक आचरण की दुख के साथ निंदा करती है कि उसने पुलिस वालों की पाशविक ढंग से हत्या कर डाली और अंधे होकर पुलिस के थाने को जला दिया।

"धारा २। जब भी सविनय अवज्ञा का जन-आन्दोलन आरम्भ किया जाता है, तभी हिंसात्मक उपद्रव होने लगते हैं। इससे जाहिर होता है कि देश अभी काफी अहिंसक नहीं हुआ है। इसलिए, कांग्रेस कार्य-समिति फैसला करती है कि आम सविनय अवज्ञा आन्दोलन...फिलहाल रोक दिया जाय, और वह **स्थानीय कांग्रेस कमेटियों को आदेश देती है कि वे किसानों को सरकार का लगान तथा दूसरे कर अदा कर देने की सलाह दें** और हर तरह की हमलावर कार्रवाई बन्द कर दें।

"धारा ३। सविनय अवज्ञा का आम आन्दोलन उस समय तक रुका रहेगा जब तक की देश का वातावरण इतना अहिंसक नहीं हो जायगा कि इस बात की गारंटी हो जाय कि अब गोरखपुर जैसी बर्बरता या १७ नवम्बर की बम्बई और १३ जनवरी की मद्रास जैसी हुल्लड़बाजी फिर कभी न हो सकेगी।...

"धारा ४। सरकारी रोक को तोड़कर जलूस निकालना और सभाएं करना बन्द कर देना चाहिए।

"धारा ६। **कांग्रेस कार्यसमिति कांग्रेस के कार्यकर्ताओं व संगठनों को सलाह देती है कि वे किसानों को यह बात बता दें कि जमींदारों को लगान न देना कांग्रेस के प्रस्तावों के खिलाफ है और हानिकर भी है।**

"धारा ७। **कांग्रेस कार्यसमिति जमींदारों को विश्वास दिलाती है कि कांग्रेस के आन्दोलन का उद्देश्य किसी तरह भी उनके कानूनी अधिकारों पर चोट करना नहीं है; और जहां किसानों को कुछ शिकायतें हैं, वहां भी कार्यसमिति यही चाहेगी कि आपस के सलाह-मशविरे से और पंचायत करके मामला निपटा दिया जाय।**"

प्रस्ताव से जाहिर है कि उसके पेश करने वालों के मन में जो प्रेरणा काम कर रही थी, वह अहिंसा के सिद्धांत की प्रेरणा नहीं थी। प्रस्ताव की तीन धाराओं में (जो काले टाइप में छपी हैं) खास तौर पर बहुत जोर देकर, और एक बहुत ही जरूरी हिदायत के रूप में यह कहा गया है कि किसानों को जमींदारों का और सरकार का लगान अदा कर देना चाहिए। यहां हिंसा या अहिंसा का कोई सवाल नहीं है। सवाल साफ-साफ वर्ग-हितों का है। सवाल

शोषितों और शोषकों का है। कोई नहीं कह सकता कि लगान न देना "हिंसक" कार्य है। इसके विपरीत, यह विरोध प्रकट करने का सबसे शान्तिपूर्ण (और साथ ही सबसे क्रांतिकारी) ढंग है। तब फिर जो प्रस्ताव "हिंसा" की निन्दा करने चला था, उसमें लगान न देने पर और जमीदारों के "कानूनी अधिकारों" के सवाल पर इतना जोर क्यों दिया गया? इस सवाल का सिर्फ एक ही जवाब हो सकता है। वह यह कि अहिंसा की शब्दावली एक रामनामी मात्र है, जिसे ओढ़कर दरअसल जाने या अनजाने में वर्ग-स्वार्थों का समर्थन किया जाना है और वर्ग-शोषण को कायम रखा जाता है।

कांग्रेस के ज्यादा असरदार नेताओं ने, जो गांधी जी के साथ थे, इसलिए आन्दोलन को रोक दिया था कि वे जनता की बढ़ती हुई क्रियाशीलता से डर गये थे, क्योंकि उससे उन सम्पत्तिवान वर्गों के हितों के लिए खतरा पैदा हो रहा था जिनके साथ नेताओं का घनिष्ठ सम्बंध था।

१६२२ में जिस सवाल पर राष्ट्रीय आन्दोलन टूटा, वह "हिंसा" बनाम "अहिंसा" का नहीं, बल्कि वर्ग-स्वार्थ बनाम जन-संघर्ष का सवाल था। इसी चट्टान पर आन्दोलन टूटा था। अहिंसा का असली मतलब यही था।

३. संघर्ष की तीसरी बड़ी लहर (१६३०-३४)

बारदोली के धक्के के बाद पांच वर्ष तक राष्ट्रीय आन्दोलन को लकवा मारे रहा। कांग्रेस में बड़ी पस्ती आ गयी। १६२४ में गांधी जी ने बताया कि कांग्रेस अपने एक करोड़ मेम्बर बनाना चाहती थी, मगर वह दो लाख से ज्यादा मेम्बर नहीं बना सकी है। उन्होंने कहा है कि "हम राजनीतिज्ञ लोग सरकार के विरोध के सिवा और किसी बात में जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करते।" गांधी जी ने उस वर्ष कांग्रेस के विधान में चर्खा कातने की शर्त रखवा दी थी, जिसके अनुसार चुनी हुई कमिटियों के सदस्यों को हर महीने दो हजार गज सूत कातकर देना होता था। उसके मातहत, १६२५ के पतझड़ तक केवल १०,००० मेम्बर ही बन पाये। तब आखिर इस शर्त को हटा लिया गया और सूत कातकर देना सदस्यों की इच्छा पर छोड़ दिया गया। १६२५ में बम्बई क्रानिकल ने लिखा है कि "चारों तरफ गतिरोध और जड़ता फैली हुई है।" उसी वर्ष लाला लाजपत राय ने "अराजकता और मति-भ्रम" का जिक्र किया। उन्होंने कहा कि "राजनीतिक परिस्थिति आशाजनक और उत्साहप्रद कदापि नहीं है। जनता में पस्ती आ गयी है। सिद्धांत, पार्टियां और राजनीति, हर चीज टूटती-बिखरती दिखायी देती है।" राष्ट्रीय आन्दोलन की

पस्ती के इस काल में साम्प्रदायिक झगड़ों की जहरीली हवा देश में चलने लगी। मुस्लिम लीग ने फिर अपने को कांग्रेस से अलग कर लिया। उसके जवाब में हिन्दू महासभा संकुचित और प्रतिक्रियावादी ढंग का प्रचार करने लगी।

कांग्रेस के नेताओं के एक हिस्से ने, जिसका प्रतिनिधित्व देशबंधु चितरंजन दास और पं. मोतीलाल नेहरू करते थे, बारदोली के फैसले के बाद एक नया मोड़ लेने की कोशिश की। ये लोग समझते थे कि गांधी जी की नीति अनुपयोगी और अव्यावहारिक है। इसलिए उन्होंने कांग्रेस के अन्दर रहते हुए, चुनाव लड़ने और नयी धारासभाओं में वैधानिक मोर्चे पर संघर्ष चलाने के लिए एक नयी पार्टी बनायी, जिसका नाम स्वराज्य पार्टी रखा गया।

जन-आन्दोलन की कमजोरी को देखते हुए चुनाव और धारासभाओं का बहिष्कार खत्म करने का सुझाव निस्सदेह एक प्रगतिशील कदम था। कांग्रेस के उन पुरानपंथी, निष्क्रिय लोगों ने उसका विरोध किया जो "नो-चेंजर" या "अपरिवर्तनवादी" कहलाते थे और चर्खा, शराबबंदी, अछूतोद्धार तथा ऐसे ही अन्य सामाजिक सुधारों के "रचनात्मक कार्यक्रम" को ही मुक्ति का एकमात्र मार्ग मानते थे। लेकिन ये लोग कांग्रेस के उस हिस्से को रोकने की सामर्थ्य नहीं रखते थे जो एक ज्यादा ठोस नीति अपनाना चाहता था। १६२५ तक कांग्रेस ने स्वराज्य पार्टी के सामने पूरी तरह और बिना शर्त हथियार डाल दिये। कांग्रेस में स्वराज्य पार्टी का बहुमत हो गया। उसके नेताओं ने कांग्रेस की बागडोर अपने हाथों में ले ली और गांधी जी कुछ समय के लिए पृष्ठभूमि में चले गये।

गांधी जी की नीति से आन्दोलन दलदल में फंस गया था। उससे हटना जरूरी था। लेकिन स्वराज्य पार्टी के नेता उससे इस तरह हटे कि जनता से और भी दूर हो गये। गांधी जी की नीति से आगे बढ़ने का केवल यही तरीका था कि जिन ऊपरी वर्गों के हितों के कारण राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ विश्वासघात किया गया था, उनके प्रभुत्व को हटाकर राष्ट्रीय आन्दोलन को एक नये आधार पर, राष्ट्र के बहुमत के आधार पर, मजदूरों और किसानों के हितों के आधार पर खड़ा किया जाय, क्योंकि ये ही ऐसे वर्ग थे जिनका साम्राज्यवाद से समझौता करने में कोई लाभ नहीं था। जहां तक हवाई सिद्धांतों का सवाल है, स्वराज्य पार्टी ने यह बात मान ली थी। देशबंधु चितरंजन दास ने कहा था कि "हम लोग देश के ६८ प्रतिशत लोगों के लिए स्वराज्य चाहते हैं;" और उनके ये शब्द सारे देश में गूंज उठे थे। नये कार्यक्रम में भी मोटे तौर पर मजदूरों और किसानों के संगठनों की आवश्यकता

का जिक्र था। लेकिन अमली तौर से स्वराज्य पार्टी पूंजीपति वर्ग के ऊपरी स्तर के प्रगतिशील लोगों की पार्टी थी। उसका अस्तित्व इसी स्तर के समर्थन पर निर्भर करता था। उसके प्रमुख नेता इसी वर्ग के थे। और वे लोग मजदूरों और किसानों के हितों के बारे में चाहे जितनी भावुकतापूर्ण बातें करते रहे हों, पर ऊपरी वर्गों का समर्थन प्राप्त करने के लिए उन्हें यह बात बिल्कुल साफ कर देनी पडी थी कि जमींदारी प्रथा और पूंजीवाद के लिए उनकी पार्टी से कोई खतरा नहीं है। इसलिए, स्वराज्य पार्टी की स्थापना के समय अपने उद्देश्यों का ऐलान करते हुए उन्होंने पार्टी का एक खास उद्देश्य यह बताया था कि "निजी और व्यक्तिगत सम्पत्ति को मान्यता दी जायगी और उसकी रक्षा की जायगी, और हर आदमी को इस बात का अधिकार होगा कि वह चल और अचल दोनों तरह का अपना व्यक्तिगत धन जितना चाहे बढ़ा ले।" कार्यक्रम की व्याख्या करते हुए एक बयान दिया गया था। उसमें इस "मिथ्या प्रचार" का खंडन किया गया था कि स्वराज्य पार्टी जमींदारों के खिलाफ है। बयान में यह कहा गया था : "यह सच है कि हमारी पार्टी किसानों के साथ न्याय करना चाहती है, लेकिन यदि जमींदारों के साथ अन्याय हुआ तो वह न्याय किस काम का रहेगा ?"

इसलिए, हालांकि स्वराज्य पार्टी बनाने का उद्देश्य एक प्रगतिशील कदम उठाना था, मगर व्यवहार में उस पर जन-संघर्षों की लहर के नीचे गिरने की ही छाप थी। स्वराज्य पार्टी उस प्रगतिशील पूंजीपति वर्ग की पार्टी थी जो वैधानिकता की ढालू जमीन पर बड़ी तेजी से लुढ़कता हुआ साम्राज्यवाद से सहयोग करने की ओर बढ रहा था। अपने जन्म से ही स्वराज्य पार्टी तथा-कथित दुश्मन की ओर खिसकने लगी थी। शुरू में कहा गया था कि काउंसिलों में जाने का उद्देश्य "केवल हर कदम पर रुकावट डालना" है। इस नीति के आधार पर १९२३ के चुनाव में पार्टी की काफी बड़ी जीत हुई और उसने केन्द्रीय असेम्बली में सबसे बड़ी पार्टी के रूप में प्रवेश किया। स्वतंत्र या लिबरल (पुराने नरमदली) सदस्यों के साथ मिलकर स्वराज्य पार्टी थोड़ी खींचतान करके अपना बहुमत भी कायम कर सकती थी। पार्टी के नेता देश-बंधु चितरंजन दास ने असेम्बली में प्रवेश करने के समय ऐलान किया : "मेरी पार्टी यहां सहयोग करने के लिए आयी है। यदि सरकार उनका सहयोग स्वीकार करेगी, तो वह पायेगी कि स्वराज्य पार्टी के लोग उसके अपने आदमी हैं।" और १९२५ तक तो देशबंधु यह कहने लगे थे कि उन्हें सरकार में "हृदय परिवर्तन" (यह कहना कितना गैर-वाजिब था, इसे तत्कालीन भारत मंत्री लार्ड बर्केनहेड के रुख से देखा जा सकता है जिन्होंने उन्हीं दिनों एक भाषण में खुलेआम "भारतीय राष्ट्रीयता के भूत" की खिल्ली उड़ायी थी) के

चिन्ह दिखायी दे रहे हैं। यह बात उन्होंने फरीदपुर के अपने प्रसिद्ध बयान में कही थी और उसके साथ-साथ उन्होंने कुछ शर्तों के साथ सरकार से सहयोग करने का भी सुझाव रखा था। उनमें से एक शर्त यह थी कि स्वराज्य पार्टी और सरकार दोनों मिलकर क्रान्तिकारी आन्दोलन का विरोध करेंगी। लिबरलों के नेता ने इसके बाद कहा कि अब स्वराज्य पार्टी के साथ हमारा कोई खास मतभेद नहीं रह गया है। १९२६ के बसन्त में साबरमती के समझौते के रूप में पद-ग्रहण का फैसला होने जा रहा था, लेकिन साधारण कार्यकर्ताओं के विरोध के कारण न हो सका। १९२६ के पतझड़ में नये चुनाव हुए। उनमें मद्रास के सिवा बाकी हर जगह स्वराज्य पार्टी को पीछे हटना पड़ा।

लेकिन साम्राज्यवाद से मधुर सहयोग करने के पूंजीपति वर्ग के मीठे सपने पूरे होने वाले नहीं थे। उनका भंग होना लाजमी था। जब यह बात साफ हो गयी कि राष्ट्रीय आन्दोलन की शक्तियां कमजोर पड़ गयी हैं, और जन-आन्दोलन से कटकर स्वराज्य पार्टी वालों के सामने समझौते के लिए गिड़गिड़ाने के सिवा और कोई रास्ता नहीं रह गया है, तब साम्राज्यवाद ने भी अपने इंजिन का मुंह मोड़ दिया, और पिछले चन्द सालों में उसने भारत के पूंजीपति वर्ग को जो छोटी-मोटी आर्थिक रियायतें दी थीं, उन्हें वह वापस छीनने लगा। अब साम्राज्यवाद ने अपना पूर्ण प्रभुत्व कायम करने के लिए एक बड़ा आर्थिक हमला शुरू किया। १९२७ में, मुद्रा कानून बनाकर रुपये की कीमत १ शिलिंग ६ पेंस निश्चित कर दी गयी। सारे देश ने इसका विरोध किया, मगर साम्राज्यवाद ने कोई परवाह नहीं की। १९२७ में ही नया इस्पात संरक्षण कानून बनाया गया। १९२४ के कानून से भारत के इस्पात उद्योग को जो संरक्षण मिला था, वह इस कानून के द्वारा खत्म कर दिया गया और इंगलैंड आने वाले इस्पात पर चुंगी कम कर दी गयी। १९२७ के अन्त में भारत का भावी विधान बनाने के लिए साइमन कमीशन नियुक्त किया गया जिसमें एक भी भारतीय सदस्य न था।

इस प्रकार भारत के पूंजीपति वर्ग को अनिच्छा रहते हुए भी आखिर इस नतीजे पर पहुंचना पड़ा कि साम्राज्यवाद से सहयोग करने की आशाएं फलीभूत नहीं हो सकतीं और अगर अच्छा सौदा करना है, तो एक बार फिर जनता की शक्तियों को काम में लाना होगा। लेकिन अब दस वर्ष पहले के मुकाबले परिस्थितियां बहुत ज्यादा कठिन और पेचीदा हो गयी थीं। कारण कि इस बीच जनता की शक्तियों ने नयी करवट लेनी शुरू कर दी थी, वे खुद स्वतंत्र रूप से और अपने अलग उद्देश्यों के साथ देश के राजनीतिक रंगमंच पर प्रकट होने लगी थीं। उन्होंने न केवल साम्राज्यवाद के खिलाफ, बल्कि

भारतीय शोषकों के विरुद्ध भी सक्रिय संघर्ष शुरू कर दिया था। इस प्रकार, अब स्वतंत्रता के संघर्ष का तिरंगा स्वरूप पहले से कहीं अधिक स्पष्ट हो गया था; या यह कहना चाहिए कि अब साम्राज्यवाद और भारतीय जनता का अधिक गहरा संघर्ष और भारत के पूंजीपति वर्ग की ढुलमुल भूमिका अधिक स्पष्ट हो गयी थी। इसीलिए संघर्ष की नयी लहर इस बार एक नये रूप में सामने आयी। ;इस नई लहर के प्रथम चिन्ह १६२७ के उत्तरार्द्ध में दिखायी दिये और १६३०-३४ के बीच तक वह अपने पूरे जोर पर पहुंच गयी। यह नया संघर्ष एक तरफ तो पहले से अधिक व्यापक और तेज था और ज्यादा दिनों तक चला; दूसरी तरफ उसका विकास रुक-रुक कर, झटकों के साथ, और उद्देश्यों के मामले में काफी ढुलमुलपन दिखाते हुए और टेढ़े-मेढ़े रास्तों पर चलते हुए हुआ। बीच-बीच में समझौते की बातचीत शुरू हो जाती थी और बिना समझौता हुए यकायक अस्थायी संधि हो जाती थी। और अन्त में तो आन्दोलन एकदम ही ठप हो गया।

संघर्ष की इस नयी लहर को जिस नये तत्व से प्रेरणा मिली थी, वह था मजदूर वर्ग का एक स्वतंत्र शक्ति के रूप में सामने आना। यह नया तत्व सबसे पहले बीसवीं सदी के तीसरे दशक के बीच के दिनों में प्रकट हुआ। संघर्ष की नयी लहर मजदूर वर्ग के नेतृत्व में नहीं उठी थी, मगर उसे प्रेरणा उसी से मिली थी। इस बीच मजदूर वर्ग ने स्वयं अपने संघर्ष अपूर्व वीरता और क्रियाशीलता से चलाये थे, और वह अपने बीच से नेतृत्व भी पैदा करने लगा था। इसके साथ-साथ मजदूर वर्ग की नयी विचारधारा—समाजवाद—का भारत में प्रचार होने लगा था। नौजवानों और उग्रवादी राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं में इस नयी विचारधारा का काफी असर हुआ था, और उससे उन्हें एक नया जीवन, नयी शक्ति और अधिक व्यापक दृष्टिकोण प्राप्त हुए थे। समाजवाद भारत की राजनीति का एक नया तत्व बन गया था। १६२४ के कानपुर षड्यंत्र केस से यह बात स्पष्ट हो गयी थी कि साम्राज्यवाद भी चौकन्ना हो गया है और वह मजदूर वर्ग की क्रान्तिकारी राजनीति के पहले अंकुरों को ही कुचल देना चाहता है। १६२६ और १६२७ में मजदूर-किसान पार्टी सामने आयी। उसके विकास ने १६२८ के ट्रेड यूनियन आन्दोलन और हड़तालों की प्रचन्ड लहर की भूमिका का काम किया। १६२८ में मजदूर हड़तालों की जो लहर आयी, उसमें ३१,६४७,००० काम के दिनों का नुकसान हुआ। पिछले पांच वर्षों की हड़तालों में कुल मिलाकर भी इतने दिन जाम नहीं हुए थे। बम्बई के कपड़ा मजदूरों की नयी लड़ाकू यूनियन गिरनी कामगार यूनियन (लाल बावटा) के मेम्बरों की संख्या साल भर के अन्दर, सरकारी रजिस्टरों के अनुसार भी, ६५,००० तक पहुंच गयी। देश भर में मजदूर

यूनियनों के मेम्बरों की संख्या में ७० प्रतिशत की बढ़ती हो गयी। इसी साल साइमन कमीशन के विरोध में जो प्रदर्शन हुए, उनमें राजनीतिक दृष्टि से मजदूर वर्ग ने सबसे आगे बढ़ कर हिस्सा लिया। मजदूर यूनियनों की लड़ाकू वर्ग चेतना आगे बढ़ी और १९२९ में ट्रेड यूनियन कांग्रेस के अन्दर गरम दल की जीत हो गयी। संघर्ष की नयी लहर के उठने की सूचना इन सभी बातों से मिल चुकी थी। यही वह नयी शक्ति थी जो इस बार भारतीय जनता को संघर्ष के मार्ग पर बढ़ने के लिए प्रेरित कर रही थी।

इस प्रगति की छाया कांग्रेस में भी दिखायी दी। कांग्रेस के अन्दर एक नया गरम दल बन गया। राष्ट्रीय आन्दोलन में एक नया वामपक्ष प्रकट होने लगा। १९२७ के अन्त में पं. जवाहरलाल नेहरू डेढ़ साल तक योरप का दौरा करने के बाद भारत लौटे। उन्होंने योरप में समाजवादी क्षेत्रों और उनके विचारों से सम्पर्क कायम किया था। १९२७ के आखीर में कांग्रेस का मद्रास अधिवेशन हुआ। उसमें भी नयी वामपक्षी प्रवृत्तियां दिखायी दीं, और यह स्पष्ट हो गया कि खासकर नौजवानों में उनका बहुत असर हो गया है। मद्रास अधिवेशन ने सर्वसम्मति से एक प्रस्ताव पास किया जिसमें राष्ट्रीय आन्दोलन का लक्ष्य पूर्ण स्वाधीनता घोषित किया गया था। ध्यान रहे कि कांग्रेस के नेता अभी तक हमेशा इस तरह के प्रस्तावों का विरोध करते आये थे। इस बार प्रस्ताव के पास हो जाने का एक कारण यह भी था कि गांधी जी मद्रास अधिवेशन में उपस्थित नहीं थे। बाद में उन्होंने प्रस्ताव की निन्दा की और कहा कि यह जल्दी-जल्दी में और बिना सोचे-समझे पास कर दिया गया है। इसी अधिवेशन में साइमन कमीशन का बहिष्कार करने का निश्चय हुआ; साथ ही यह भी फैसला किया गया कि नये विधान के सरकारी योजना के मुकाबले में भारतीय योजना बनाने के लिए एक सर्वदली सम्मेलन हो और उसमें कांग्रेस भाग ले। कांग्रेस ने अन्तर्राष्ट्रीय साम्राज्यवाद-विरोधी लीग में शामिल होना स्वीकार किया। पं. नेहरू और सुभाष बोस नौजवानों के और कांग्रेस के अन्दर बढ़ती हुई वामपक्षी प्रवृत्तियों के मुख्य नेता समझे जाते थे। वे कांग्रेस के जनरल सेक्रेटरी नियुक्त कर दिये गये।

ऊपर से देखने में लगता था कि १९२७ के अधिवेशन में वामपक्ष की विजय हुई है। लेकिन असल में, यह जीत एक सतही चीज थी। उसका आधार यह था कि किसी ने मद्रास में वामपक्ष का विरोध नहीं किया था। १९२८ में जैसे-जैसे घटनाचक्र आगे बढ़ा, वैसे-वैसे कांग्रेस के पुराने नेता चौकन्ने होते गये। साइमन कमीशन के विरोध में बड़े सफल प्रदर्शन हुए। हड़तालों की लहर और ऊंची उठी। "इंडिपेंडेंस (स्वाधीनता) लीग" नामक संस्था, जो अभी हाल में कायम हुई थी, और युवकों तथा विद्यार्थियों के संगठन

बड़ी तेजी से विकसित होने लगे। इन सब बातों से पुराने नेताओं के सामने यह चीज साफ हो गयी कि वामपक्ष एक ऐसी जबर्दस्त शक्ति बनता जा रहा है जो पूरी कांग्रेस पर कब्जा कर सकती है। सर्वदली सम्मेलन में पुराने नेताओं ने कांग्रेस के बाहर के नरमदली या प्रतिक्रियावादी नेताओं के साथ मिलकर एक वैधानिक योजना बनायी (जो कि नेहरू रिपोर्ट के नाम से प्रसिद्ध है, क्योंकि योजना बनाने वाली समिति के अध्यक्ष पं. मोतीलाल नेहरू थे)। इस योजना में ब्रिटिश साम्राज्य के अन्दर रहते हुए जिम्मेदार सरकार की मांग की गयी थी और इस प्रकार स्वतंत्रता की मांग को दरकिनार कर दिया गया था। लेकिन जनता की बढ़ती हुई भावनाओं को देखते हुए इसमें शक था कि कांग्रेस नेहरू रिपोर्ट को स्वीकार कर लेगी।

हालत बहुत नाजुक थी। दस साल पहले के मुकाबले जमाना बहुत आगे बढ़ गया था। और इस परिस्थिति में ऐसा लग रहा था कि बड़े-बड़े संघर्ष होकर रहेंगे। ऐसी हालत में, नरमदली नेताओं ने फिर उसी गांधी की शरण ली जिसे उन्होंने गद्दी से हटा दिया था। १६२८ के अन्त में कांग्रेस का अधिवेशन कलकत्ते में हुआ। वहां गांधी जी को फिर कांग्रेस का अगुआ बना दिया गया। उनकी व्यक्तिगत विचित्रताओं के बारे में नरमदली नेता चाहे कुछ भी कहते रहे हों, पर इसमें किसी को शक न था कि पुराने नेताओं में गांधी जी सबसे चतुर और अनुभवी आदमी हैं, जिनका जनता पर इतना जबर्दस्त प्रभाव है कि कोई उनका मुकाबला नहीं कर सकता, और जिनको संसारव्यापी प्रचार ने भारत का सबसे महान व्यक्ति बना दिया है। दरिद्रनारायण की पूजा और विनय के अति धार्मिक एवं आदर्शवादी सिद्धांतों के नाम पर गांधी जी ऋषि-मुनियों की भांति सम्पत्ति का समर्थन करते थे। शास्त्रार्थ में बाल की खाल निकालने वाले तार्किकों की भांति वह व्याख्याओं और दलीलों का ऐसा जाल फैला सकते थे जिसमें हर अच्छी और बुरी बात सही मालूम पड़े। साधारण मिट्टी के बने हुए आदमियों में यह बात बेईमानी समझी जाती; मगर जब रैमजे मैक्डोनल्ड या गांधी जी जैसे महान व्यक्ति इस तरह की दलीलें देते हैं, तो उनकी गिनती ऐसे महात्माओं में होने लगती है जो तर्क और विवेक से ऊपर उठकर केवल अन्तरात्मा की पुकार सुनते हैं। नरमदली नेताओं को यह एक ऐसा मसीहा मिला था जो अपने व्यक्तिगत महात्मापन और त्याग से जनता के हृदय-कपाट खोल देता था, जहां से कि नरमदली पूंजीवादी नेता सिर पटक-पटक कर लौट आते थे। और यह एक ऐसा नेता था जिसकी रहनुमाई स्वीकार करने पर हर जन-आंदोलन के ठप हो जाने की गारंटी हो जाती थी। क्रान्ति की नैया को हर बार मंझधार में डुबोने वाला यह खेवनहार मानो पूंजी-पति वर्ग के लिए शुभ घड़ी लाने वाला तावीज बन गया था, जिसे वह संघर्ष का

हर बड़ी लहर के उठने पर पहन लेता था। इसी से भारतीय राजनीति के इस सम्पूर्ण युग की यह प्रधान विशेषता, हर देशव्यापी आंदोलन का यह अलिखित नियम, पैदा हुआ कि जब कभी भी कोई आन्दोलन होता था, तो गांधी जी का नेतृत्व अनिवार्य हो जाता था (वास्तव में, इससे यह प्रकट होता था कि वर्ग-शक्तियों का संतुलन कितना नाजुक है)। जब कभी आन्दोलन छेड़ना आवश्यक होता था, तभी पूंजीपति वर्ग की सारी आशाएं (विरोधी लोग कह सकते हैं कि साम्राज्यवाद की सभी आशाएं) गांधी जी पर केन्द्रित हो जाती थीं, क्योंकि वही एक ऐसे व्यक्ति थे जो आन्दोलन की लहरों पर सवारी गांठ सकते थे, उनको काबू में रख सकते थे, और जिनमें यह सामर्थ्य थी कि बस इतना जन-आन्दोलन छेड़ें जिससे साम्राज्यवाद के साथ सौदा पट जाय और साथ ही जो भारत को क्रान्ति से भी बचा ले जाय।

दिसम्बर १९२८ में, कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में नेहरू रिपोर्ट को स्वीकार कराने में गांधी जी को काफी दिक्कत हुई। उन्होंने जो प्रस्ताव बनाया था उसमें कहा गया था कि इस रिपोर्ट का मतलब यह नहीं है कि पूर्ण स्वतंत्रता का लक्ष्य छोड़ दिया गया है, और अगर सरकार ३१ दिसम्बर १९२९ तक यह रिपोर्ट नहीं मंजूर कर लेती, तो कांग्रेस एक बार फिर अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन छेड़ेगी और इस बार कर-बन्दी से शुरू करेगी। (गांधी जी ने पहले अपने प्रस्ताव में ३१ दिसम्बर १९३० की तारीख रखी थी और सरकार को दो वर्ष की मुहलत दी थी; लेकिन अधिवेशन ने सिर्फ एक साल की मुहलत देना ही स्वीकार किया।) यह प्रस्ताव भी अपेक्षाकृत कम वोटों से पास हुआ। उसके पक्ष में १,३५० वोट आये, जब कि सुभाष बाबू और पं. जवाहर लाल नेहरू के उस उग्रवादी संशोधन के पक्ष में ९७३ वोट पड़े, जिसमें नेहरू रिपोर्ट के मुकाबले पूर्ण स्वतंत्रता को अपना तात्कालिक लक्ष्य घोषित किया गया था। इस प्रकार आन्दोलन छेड़ने की बात साल भर के लिए टाल दी गयी, हालांकि १९२८ की घटनाओं से यह बात साफ हो गयी थी कि जनता की बेचैनी चरम सीमा पर पहुंच गयी है। साम्राज्यवाद को पहले से बता दिया गया कि साल भर बाद हम आन्दोलन करने वाले हैं, उसे दबाने के लिए तुम जो तैयारी करना चाहो अभी से कर लो। सुभाष बाबू ने लिखा है: "कलकत्ता कांग्रेस के टालमटोल के प्रस्ताव का सिर्फ यह नतीजा हुआ कि बेशकीमती वक्त हाथ से निकल गया।" इस बीच कांग्रेसी नेताओं को एक चेतावनी भी मिल गयी थी। कलकत्ते के २०,००० मजदूरों ने (कांग्रेस के इतिहास में उनकी संख्या ५०,००० बतायी गयी है) कांग्रेस पंडाल में घुसकर राष्ट्रीय स्वतंत्रता और "स्वतंत्र समाजवादी भारतीय प्रजातंत्र" के नारों के साथ प्रदर्शन किया। ये लोग दो घन्टे तक पंडाल पर कब्जा किये रहे।

सुधारवादी नेताओं को उनके लिए मंच देना पड़ा और राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए दृढ़ संघर्ष छेड़ने की मजदूर वर्ग की मांग को सुनना पड़ा।

बारह महीने की इस देरी से साम्राज्यवाद को अपनी कर गुजरने का मौका मिल गया। उसने इस अवसर को हाथ से नहीं जाने दिया। मार्च १९२९ में उठते हुए मजदूर आंदोलन के सभी प्रमुख नेताओं को देश के विभिन्न भागों में गिरफ्तार कर लिया गया। उन पर दूर मेरठ में मुकदमा चलाया गया जहां बिना जूरी के मुकदमे की सुनवाई हो सकती थी। यह मुकदमा चार साल तक चलता रहा और इस दौरान मजदूर नेता जेल में बन्द रहे। इस बीच संघर्ष की लहर उठी और उठकर दब भी गयी, मगर इन लोगों को सजाएं तक न सुनायी गयीं। गिरफ्तार नेताओं में मजदूर यूनियनों और मजदूर-किसान पार्टी के प्रमुख नेताओं के अलावा अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी, यानी कांग्रेस की सबसे ऊंची चुनी हुई कमेटी के तीन सदस्य भी शामिल थे। इस तरह कांग्रेस के नेतृत्व में संघर्ष छिड़ने के पहले ही मजदूर वर्ग का सिर काट डाला गया और वामपक्ष के सबसे सुलझे हुए और दृढ़चित्त नेताओं को, जिनका जनता पर सच्चा असर था, जेल में बन्द कर दिया गया। साथ ही, वायसराय ने जन-सुरक्षा आर्डिनेंस जारी कर दिया जिसका उद्देश्य भी लड़ाकू शक्तियों को कुचलना था।

कांग्रेस का होने वाला अधिवेशन बहुत ही महत्वपूर्ण था। आगामी वर्ष में संघर्ष छेड़ा जाने वाला था। इसलिए कांग्रेस का अध्यक्ष गांधी जी को चुना गया। लेकिन वह परिस्थिति को पहचानते थे। वह जानते थे कि इस समय राष्ट्रीय आन्दोलन के भीतर क्या स्थिति है। उन्होंने बड़ी चतुराई दिखाते हुए अपना नाम वापस ले लिया और अपनी जगह "इंडिपेंडेंस लीग" तथा युवकों के नेता पं. जवाहरलाल नेहरू को, जो समाजवाद से सहानुभूति प्रकट कर चुके थे, नामजद कर दिया। उस समय अपनी पसन्द के हक में दलील देते हुए उन्होंने पं. नेहरू के बारे में कहा :

> "देश-प्रेम में कोई भी उनसे आगे नहीं बढ़ सकता। वह वीर और भावुक हैं, और इस समय इन गुणों की बड़ी आवश्यकता है। लेकिन संघर्ष में दृढ़ता और भावुकता का परिचय देने के साथ-साथ उनमें एक राजनीतिज्ञ के विवेक से काम लेने की क्षमता भी है। वह अनुशासन-प्रेमी हैं और अपने कार्यों के द्वारा यह सिद्ध कर चुके हैं कि उनमें, असहमत होते हुए भी, फैसलों को मानने की क्षमता है। वह विनम्र स्वभाव के हैं और इतने व्यावहारिक भी हैं कि कभी हवा में नहीं उड़ने लगते। उनके हाथों में देश बिल्कुल सुरक्षित है।"

नरमदली नेताओं ने साम्राज्यवाद से समझौता करने की एक आखिरी कोशिश की। ३१ अक्तूबर १६२६ को वायसराय ने एक बहुत ही स्पष्ट किस्म का बयान दिया जिसमें आगे चलकर कभी "डोमीनियन स्टेटस के लक्ष्य" तक पहुंचने का कुछ जिक्र था। लन्दन के टाइम्स तक ने बयान के अगले दिन लिखा कि इस बयान में "न तो कोई वायदा किया गया है और न ही उससे नीति में कोई परिवर्तन मालूम होता है।" लेकिन भारतीय नेताओं ने इस बयान के निकलते ही तुरन्त एक संयुक्त वक्तव्य जारी कर दिया--जो बाद में दिल्ली का घोषणापत्र नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस बयान में सरकार से हार्दिक सहयोग करने का आश्वासन दिया गया था और कहा गया था कि "हम सरकार के बयान से प्रकट होने वाली सरकार की सच्ची भावना का आदर करते हैं...। भारत की आवश्यकताओं के अनुकूल डोमीनियन विधान की कोई योजना बनाने के लिए सम्राट की सरकार जो भी प्रयत्न करेगी, हम आशा करते हैं कि हम उसमें सहयोग दे सकेंगे।" इस वक्तव्य पर गांधी जी, श्रीमती बेसेंट, पं. मोतीलाल नेहरू, सर तेजबहादुर सप्रू, पं. जवाहरलाल नेहरू, आदि ने हस्ताक्षर किये। जवाहरलाल जी उससे असहमत थे और बाद में उन्होंने लिखा कि यह वक्तव्य "गलत और खतरनाक" था। लेकिन उन्हीं के शब्दों में, उस वक्त उनसे "बातों-बातों में बयान पर दस्तखत करा लिये गये।" दलील यह दी गयी कि वह कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये है, इसलिए यदि वह दस्तखत नहीं करेंगे तो एकता भंग हो जायगी। और दस्तखत करने के बाद गांधी जी ने उन्हें एक पत्र लिखकर दिलासा दिया जिससे उनका संशय दूर हो गया। साम्राज्यवाद को दिल्ली का घोषणापत्र पढ़ कर बहुत खुशी हुई। उसने समझा कि नेता कमजोर पड़ रहे हैं। (टाइम्स ने ४ नवम्बर १६२६ को लिखा : "कल रात को जो बयान प्रकाशित हुआ है, उसका यह मतलब है कि जिस कार्यक्रम के लिए लाहौर में कांग्रेस का अधिवेशन होने वाला था, उसे अब रद्द कर दिया गया है।") वक्तव्य से सिवा इसके कोई प्रत्यक्ष लाभ नहीं हुआ कि कांग्रेस जनों की उलझन बढ़ गयी। लाहौर अधिवेशन के कुछ दिन पहले कांग्रेस के नेता वायसराय से भी मिले; मगर उससे कोई फल नहीं निकला।

चुनांचे १६२६ के आखीर में लाहौर अधिवेशन हुआ और उसमें आन्दोलन छेड़ने का फैसला कर दिया गया। नेहरू रिपोर्ट में डोमीनियन स्टेटस लक्ष्य घोषित किया गया था। लाहौर में ऐलान कर दिया गया कि नेहरू रिपोर्ट का समय बीत गया है; आगे से कांग्रेस का ध्येय "पूर्ण स्वराज्य" रहेगा। कांग्रेस ने अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी को इस बात का अधिकार दे दिया कि "वह जब भी उपयुक्त समझे, सविनय अवज्ञा आन्दोलन छेड़

दे, जिसमें कर-बन्दी भी शामिल रहे।" आधी रात को जब पुराना साल खत्म हुआ और १६३० आरम्भ हुआ तो भारतीय स्वाधीनता का तिरंगा झंडा फहराया गया (इस झंडे में पहले लाल, सफेद और हरा, ये तीन रंग थे; बाद में लाल की जगह केसरिया रंग कर दिया गया)। २६ जनवरी १६३० को सारे देश में पहला स्वतंत्रता दिवस मनाया गया। हर जगह विराट प्रदर्शन और सभाएं हुईं जिनमें पूर्ण स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करने की प्रतिज्ञा की गयी। जनता ने घोषणा की कि अंग्रेजी राज को "अब और मानना मनुष्य और भगवान के प्रति पाप करना है;" और अपना विश्वास प्रकट किया कि "यदि हम सरकार से स्वेच्छापूर्वक सहयोग करना और उसे कर देना बन्द कर दें और उकसाये जाने पर भी हिंसा न करें, तो यह अमानुषिक राज अवश्य ही खत्म हो जायगा।"

अब जो संघर्ष शुरू हो रहा था, उसका ध्येय क्या था? इस आन्दोलन की योजना क्या थी? वे कम से कम शर्तें कौन सी थीं जिन पर सरकार से समझौता करना उचित समझा जाता था? ब्रिटिश सरकार पर इतना जबर्दस्त दबाव डालने के लिए कि यह "अमानुषिक राज खत्म हो जाय", क्या तरीका सोचा गया था? इन तमाम सवालों पर शुरू से ही कोई सफाई न थी।

ऊपर से देखने में ऐसा लगता था कि आन्दोलन का ध्येय पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करना है। कांग्रेस के अधिकतर सदस्यों का और कांग्रेस के आह्वान पर आन्दोलन में कूद पड़ने वाली साधारण जनता का भी सम्भवतः यही विश्वास था। बल्कि पं. मोतीलाल नेहरू ने भी, जिनकी मृत्यु गांधी-इरविन समझौते के कुछ ही दिन पूर्व हुई थी, अपनी मृत्यु-शैया पर जो अन्तिम शब्द कहे, उनसे भी आन्दोलन के विषय में यही धारणा व्यक्त होती है। उन्होंने कहा था: "अगर मुझे मरना ही है तो आजाद भारत की गोद में मुझे मौत मिले। गुलाम देश में नहीं, बल्कि आजाद देश में मेरी अन्तिम निद्रा का आरम्भ हो!"

किन्तु गांधी जी की धारणा यह नहीं थी। लाहौर अधिवेशन खत्म होते ही **न्यू यार्क वर्ल्ड** के ६ जनवरी के अंक में उनका एक बयान प्रकाशित हुआ। उसमें कहा गया था कि "स्वतंत्रता के प्रस्ताव से किसी को डरना नहीं चाहिए।" (मार्च में उन्होंने वायसराय के नाम खत लिखकर इसी बात को फिर दोहराया।) ३० जनवरी को उन्होंने अपने पत्र **यंग इंडिया** में ग्यारह शर्तें रखीं और कहा कि अगर शर्तें मान ली जायें तो आन्दोलन नहीं होगा। इन शर्तों में छोटे-मोटे सुधारों की मांग थी (जैसे: रुपये की कीमत १ शिलिंग ४ पेंस हो, देश में मुकम्मिल शराबबन्दी हो, मालगुजारी और फौजी खर्च घटाया जाय, विदेशी कपड़े पर चुंगी लगायी जाय, ताकि देशी कपड़े के उद्योग

की रक्षा हो सके, आदि)। संघर्ष आरम्भ करने के ठीक पहले इन ग्यारह शर्तों को प्रकाशित करके विरोधी पक्ष के सामने यह बात साफ कर दी गयी कि स्वतंत्रता की मांग केवल मोल-भाव करने के लिए है; बाजार में सौदे की बातचीत शुरू होने पर जिस प्रकार आरम्भ में भाव खूब बढ़ा-चढ़ाकर बताया जाता है, वैसे ही यहां भी देश की मांग को एकदम बढ़ाकर रखा गया है, मगर सौदा उससे बहुत कम पर भी पट सकता है।

आन्दोलन की रणनीति भी इतनी ही अस्पष्ट थी। फरवरी १९३० में साबरमती में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक हुई। उसने आन्दोलन चलाने के लिए कोई उप-समिति नहीं चुनी, बलिक एक बार फिर आन्दोलन की बागडोर पूरी तरह "महात्मा गांधी और उनके सहयोगियों" के हाथों में सौंप दी। दलील यह दी गयी कि "सविनय अवज्ञा आन्दोलन का श्रीगणेश उन लोगों को करना चाहिए, और उन्हीं लोगों के हाथों में उसकी बागडोर रहनी चाहिए जो...एक धार्मिक विश्वास के रूप में अहिंसा में यकीन करते हैं।" कांग्रेस के चुने हुए नेताओं ने इस प्रकार आन्दोलन का नेतृत्व दूसरे लोगों के हाथों में सौंप दिया और उन्हें यह हिदायत भी नहीं दी कि आन्दोलन किस तरह चलाया जाय। तब फिर आखिर संघर्ष किस प्रकार चलाया जाने वाला था? लाहौर अधिवेशन की चर्चा करते हुए सुभाष बाबू ने लिखा है :

> "वामपक्ष की ओर से मैंने यह प्रस्ताव रखा था कि कांग्रेस को देश में एक समानान्तर सरकार कायम करनी चाहिए और उसके लिए मजदूरों, किसानों और नौजवानों का संगठन करना चाहिए। यह प्रस्ताव गिर गया, और उसका यह परिणाम हुआ कि कांग्रेस ने पूर्ण स्वतंत्रता का ध्येय तो स्वीकार कर लिया, मगर उसे प्राप्त करने की कोई योजना नहीं बनायी गयी, और न ही आगामी वर्ष के लिए कोई कार्यक्रम तैयार किया गया। इससे अधिक हास्यास्पद दशा और क्या हो सकती थी?"

पं. जवाहरलाल नेहरू ने भी यह लिखा है :

> "फिर भी आगे के बारे में हमें साफ-साफ कुछ न सूझता था। हालांकि कांग्रेस अधिवेशन में बड़ा जोश दिखायी देता था, मगर कोई नहीं जानता था कि लड़ाई के कार्यक्रम का देश कहां तक साथ देगा। हम इतने आगे बढ़ गये थे कि अब पीछे नहीं लौट सकते थे। लेकिन आगे का रास्ता कैसा है, इसका हमें लगभग तनिक भी ज्ञान न था।"

जो लोग यह मांग कर रहे थे कि उन्हें आन्दोलन की योजना बतायी जाय, उनको डांटते हुए, डा. पट्टाभि सीतारमय्या ने यह लिखा है :

> "साबरमती में जो लोग जमा थे, उन्होंने गांधी जी से पूछा कि

आपकी योजना क्या है। उनका पूछना सही ही था, हालांकि महायुद्ध के पहले कोई आदमी लार्ड किचनर या मार्शल फॉक अथवा वान हिंडेनबर्ग से यह कभी न पूछता कि उनकी युद्ध की योजनाएं क्या हैं। योजनाएं उन सबके पास थीं, परन्तु उनमें से बताता कोई नहीं था। पर सत्याग्रह में यह नहीं होता। हमारी योजनाओं में कोई भी गुप्त बात नहीं थी। लेकिन उनमें कोई स्पष्ट बात भी नहीं थी। हमारा विश्वास था कि हमारे आन्दोलन की योजनाएं तो धीरे-धीरे अपने-आप उसी तरह प्रकट होती जायेंगी, जैसे कोहरे से ढंकी हुई सुबह के क्षीण प्रकाश में एक तेज चलती मोटर को आगे का रास्ता धीरे-धीरे, एक-एक गज करके, अपने-आप दिखायी देता जाता है। हमारा विश्वास था कि सत्याग्रही तो मानो अपने मस्तक पर ऐसी रोशनी बांधकर चलता है, जो उसे अगले कदम के लिए रास्ता दिखाती चलती है।" (कांग्रेस का इतिहास)

इस प्रकार सब कुछ इसी पर निर्भर था कि खुद गांधी जी आन्दोलन के बारे में क्या सोचते हैं। देश के भाग्य को पूरी तौर पर उन्हीं के हाथों में छोड़ दिया गया था।

यह स्पष्ट है कि आन्दोलन के लक्ष्य के विषय में किसी के मन में जैसी धारणा होगी, वह उसी ढंग से आन्दोलन को चलाना चाहेगा। और इसलिए, यहां आन्दोलन की दो योजनाएं हो सकती थीं। यदि आन्दोलन का लक्ष्य अंग्रेजी शासन को खत्म करके पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करना था, तो यह आवश्यक था कि भारतीय जनता की समस्त शक्तियों को एकत्र कर एक निर्णायक संघर्ष लड़ा जाय (कांग्रेस का इतिहास में इस आन्दोलन से सम्बंधित अध्याय का शीर्षक "निपटारे की लड़ाई" रखा गया है)। लेकिन, यदि आन्दोलन का लक्ष्य अंग्रेजी सरकार से केवल कुछ सुविधाएं और पहले से बेहतर शर्तें हासिल करना ही था, तो जाहिर है कि सरकार पर जनता का थोड़ा सा, सीमित ढंग का दबाव डालने से ही काम चल जाने की उम्मीद की जा सकती थी। जाहिर है कि लाहौर अधिवेशन में पहली तरह के आन्दोलन की बात सोची गयी थी और भारत की साधारण जनता भी उसी की आशा कर रही थी। लेकिन अगर यही उद्देश्य था तो इतने बड़े काम को संभालने के लिए और इतने ताकतवर दुश्मन को पस्त करने के लिए जरूरी था कि अपनी तरफ की ज्यादा से ज्यादा ताकत बटोरकर दुश्मन पर चढ़ाई की जाती, ताकि वह जवाबी हमले की बात सोचने के पहले ही ढेर हो जाता। ऐसा करने पर ही आन्दोलन में किसी सफलता की आशा की जा सकती थी; और इसके लिए आवश्यक था कि देश में आम हड़ताल का नारा दिया जाता और उसके पीछे कांग्रेस तथा मजदूर आन्दोलन की पूरी शक्ति लगा दी जाती; सभी किसानों से

लगान और कर देना बन्द कर देने के लिए कहा जाता; और एक समानान्तर सरकार कायम की जाती जिसकी अपनी अदालतें, स्वयंसेवक दल, आदि होते। उस वक्त देश में जैसा वातावरण था और जनता में जैसी भावनाएं थीं, उनको देखते हुए यह आशा की जा सकती थी कि यदि इस प्रकार का आन्दोलन बहुत ही तेजी और दृढ़ता से चलाया जाता, तो वह जनता की जत्थेबन्दी करने में कामयाब होता, साम्राज्यवाद का कोई सहायक न रह जाता (गढ़वाली सिपाहियों की बगावत तथा पेशावर और शोलापुर के अनुभव से इस बात की पुष्टि होती है) और देश स्वतंत्रता प्राप्त करने की दिशा में आगे बढ़ जाता।

परन्तु गांधी जी की धारणा यह नहीं थी। बल्कि सच तो यह है कि उन दिनों की और बाद की उनकी तमाम बातों से यही जाहिर होता था कि उनको सबसे अधिक चिन्ता इस बात की थी कि आन्दोलन को इस रास्ते पर बढ़ने से कैसे रोका जाय। मई १९३१ में प्रकाशित एक लेख में गांधी जी ने बताया कि यदि अहिंसा के सिद्धान्त से "बाल बराबर भी हटने" से जीत मिलती हो, तो वह जीत से हार ज्यादा पसन्द करेंगे। उनके शब्द थे :

> "अहिंसा से बाल बराबर भी हटकर जो संशयात्मक सफलता मिलने वाली हो, उसके मुकाबले मैं यह ज्यादा पसन्द करूंगा कि अहिंसा पर बट्टा न लगे, भले ही हमारी एकदम हार हो जाय।"

२ मार्च १९३० को वायसराय के नाम पत्र लिख कर गांधी जी ने यह स्पष्ट कर दिया कि उनके विचार से आगामी संघर्ष के पीछे कौन सी शक्तियां काम कर रही हैं और वह किस उद्देश्य से उसका नेतृत्व कर रहे हैं। उन्होंने अपने पत्र में यह लिखा था :

> "हिंसा का पक्ष बलवान हो रहा है और उसका प्रभाव प्रकट होने लगा है।...मेरा उद्देश्य यह है कि हिंसा के बढ़ते हुए पक्ष की असंगठित हिंसा के खिलाफ और उसके साथ-साथ अंग्रेजी शासन की संगठित हिंसा के खिलाफ भी मैं उस शक्ति को (अहिंसा की शक्ति को) मैदान में ले आऊं। इस समय चुपचाप बैठे रहना उपरोक्त दोनों शक्तियों को खुल कर खेलने का मौका देना होगा।"

इस प्रकार, जन-संघर्ष आरम्भ होने के ठीक पहले गांधी जी ने दो मोर्चों पर लड़ने का ऐलान कर दिया। उनका संघर्ष केवल अंग्रेजी राज के ही खिलाफ नहीं था, बल्कि अपने अन्दरूनी दुश्मन के खिलाफ भी था। दो मोर्चों पर लड़ने की यह धारणा भारतीय पूंजीपति वर्ग की भूमिका के सर्वथा अनुकूल थी। यह वर्ग जन-आन्दोलन की साम्राज्यवाद से बढ़ती हुई टक्कर को देखकर दहशत खा रहा था। वह देख रहा था कि उसके पैरों तले की जमीन खिसकी जा रही है। इसलिए, मजबूर होकर उसे संघर्ष की बागडोर अपने हाथों में लेनी

पड़ी थी। वह जानता था कि इस काम में "भयानक खतरा" है (वायसराय के नाम अपने पत्र में गांधी जी ने इन्हीं शब्दों का प्रयोग किया था)। लेकिन उसके लिए जरूरी हो गया था कि वह आन्दोलन को सीमाओं में बांधकर रखे (क्योंकि "इस समय चुपचाप बैठे रहना उपरोक्त दोनों शक्तियों को खुलकर खेलने का मौका देना होगा।") और अहिंसा के जादू की छड़ी से दोनों शक्तियों को मानने की कोशिश करे। लेकिन, बाद के दिनों में जिस तरह स्पेन के मामले में दुनिया की प्रजातांत्रिक सरकारों की "हस्तक्षेप न करने" की बदनाम नीति एकतरफा ढंग से बरती गयी, उसी तरह गांधी जी की यह "अहिंसा" भी "एकतरफा अहिंसा" साबित हुई। भारतीय जनता के लिए तो यह "अहिंसा" थी, लेकिन साम्राज्यवाद के लिए नहीं। वह दिल खोलकर हिंसा करता रहा—और अन्त में जीत भी उसी की हुई।

संघर्ष के विषय में गांधी जी की जैसी धारणा थी, वैसी ही उन्होंने रण-नीति तैयार की। और यदि यह मानकर चला जाय कि संघर्ष का उद्देश्य विजय प्राप्त करना और देश को स्वतंत्र करना नहीं, बल्कि केवल यह था कि एक प्रचंड क्रान्तिकारी उभार के काल में भी जन-आन्दोलन की बागडोर अपने हाथ में रखी जाय और साथ ही उस पर ज्यादा से ज्यादा रोकथाम लगायी जाय, तो स्वीकार करना पड़ेगा कि गांधी जी की रणनीति बड़ी ही चतुरतापूर्ण और कारगर नीति थी। अपने आन्दोलन का उन्होंने जो पहला लक्ष्य बनाया और उस तक पहुंचने के लिए जो मार्ग निर्धारित किया, उसी से उनकी नीति की चतुराई भली भांति प्रकट हो गयी। गांधी जी ने तय किया कि सरकार ने नमक बनाने पर अपना जो एकाधिकार कायम कर रखा है, सबसे पहले उसके खिलाफ लड़ाई होगी। इस तरह यह सम्भावना खत्म हो गयी कि कल-कारखानों में काम करने वाले मजदूर संघर्ष में भाग लेंगे। गांधी जी ने अपने हरेक बयान में यह बात साफ कर दी थी कि भारत में उन्हें सबसे ज्यादा डर इसी वर्ग से लगता है। इस प्रकार के संघर्ष में किसानों का समर्थन प्राप्त करने की क्षमता अवश्य थी, और साथ ही इस बात का भी कोई भय नहीं रहता था कि वे जमींदारों के खिलाफ संघर्ष करने लगेंगे। आन्दोलन को सीमाओं में रखने के अपने बन्दोबस्त को और भी मजबूत करने के लिए गांधी जी ने ऐलान किया कि शुरू में वह खुद और उनके कुछ शिष्यों का एक छोटा-सा जत्था ही नमक सत्याग्रह करेगा। उन्होंने लिखा :

> "जहां तक मेरा सम्बंध है, मैं चाहता हूं कि केवल आश्रमवासियों और उन लोगों के जरिये यह आन्दोलन शुरू करूं जो आश्रम का अनु-शासन स्वीकार कर चुके हैं और जिन्होंने उसकी कार्यप्रणाली हृदयंगम कर ली है।"

इस प्रकार, समुद्र के किनारे-किनारे गांधी जी और उनके ७८ चुने हुए अनुयायियों ने डांडी-यात्रा आरम्भ की। तीन कीमती हफ्ते बीत गये। दुनिया के अखबारों के फोटोग्राफर तसवीरें खींचते रहे। जनता से कहा गया—अभी इन्तजार करो; देखो, क्या होता है। अखबारों, सिनेमाघरों और प्रचार के अन्य साधनों के जरिये डांडी-यात्रा का घनघोर प्रचार हुआ। कांग्रेस के नेता समझते थे कि जनता को जगाने और जत्थेबन्द करने के लिए यह नीति खूब सफल रही। इसमें सन्देह नहीं कि इससे जनता के पिछड़े हुए हिस्सों को जगाने में सचमुच मदद मिली थी। लेकिन, साथ ही साम्राज्यवादी सरकार ने डांडी-यात्रा का प्रचार करने की जो खुली छूट दे रखी थी, उसकी वजह महज सिधाई या नासमझी नहीं थी। आगे चल कर सरकार ने जो रुख अपनाया, वह बहुत भिन्न था। और सुभाष बाबू को तो संघर्ष शुरू होने के पहले, स्वतंत्रता दिवस के पहले ही पकड़ लिया गया था, क्योंकि उनको सरकार वामपक्षी राष्ट्रवादियों का नेता समझती थी। साम्राज्यवाद डांडी-यात्रा का महत्व अच्छी तरह समझता था। सरकार ने जानबूझकर उसके प्रचार में मदद दी, ताकि आन्दोलन की गाड़ी उस लीक में जाकर फंस जाय जो गांधी जी ने उसके लिए तैयार की थी।

फिर भी, तीन हफ्ते खत्म होने पर जब ६ अप्रैल को गांधी जी ने समुद्र के किनारे धूम-धाम से नमक बनाया (और वह पकड़े नहीं गये), तो सारे देश में यकायक जन-आन्दोलन का ऐसा तूफान उठ खड़ा हुआ कि उसे देखकर दोनों तरफ के नेता अचम्भे में रह गये। गांधी जी की तरफ से बहुत ही सीमित और अपेक्षाकृत अहानिकारक ढंग का सत्याग्रह करने का आदेश दिया गया था। लोगों से कहा गया था कि वे नमक-कानून तोड़ें, विदेशी कपड़ों का बहिष्कार करें। विदेशी कपड़े की दूकानों पर और शराब की सरकारी दूकानों पर धरना दें। गांधी जी के मन में आन्दोलन की क्या धारणा थी, यह उन हिदायतों से साफ हो जाती है जो उन्होंने ६ अप्रैल को जारी की थी :

> "हमारा मार्ग पहले से ही हमारे लिए निर्धारित हो चुका है। हर गांव को चाहिए कि वह गैर-कानूनी नमक बनाये। बहिनों को शराब की दूकानों, अफीम के ठेकों और विलायती कपड़े की दूकानों के सामने धरना देना चाहिए। हर घर के नौजवानों और बूढ़ों को चाहिए कि वे रोज तकली चलायें और ढेर का ढेर सूत कातकर कपड़ा बुनवायें। विलायती कपड़ा जला देना चाहिए। हिन्दुओं को छूआछूत मिटा देना चाहिए। हिन्दू, मुसलमान, सिख, पारसी और ईसाई—सबको हृदय की एकता स्थापित करनी चाहिए। अल्पसंख्यकों को संतुष्ट करने के बाद जो कुछ बचे, बहुसंख्यकों को उसी से संतोष करना चाहिए। विद्यार्थियों को चाहिए

कि वे सरकारी स्कूलों और कालेजों को छोड़ दें। सरकारी नौकरों को इस्तीफा देकर जन-सेवा में लग जाना चाहिए। ऐसा करने पर हम देखेंगे कि पूर्ण स्वराज्य खुद हमारा दरवाजा खटखटा रहा है।"

किन्तु जन-आन्दोलन अप्रैल के महीने में ही इन सरल सीमाओं से बहुत आगे निकल गया। हड़तालों ने और जोर पकड़ लिया। विराट प्रदर्शन होने लगे। बंगाल में चटगांव के शस्त्रागार पर छापा मारा गया। पेशावर की घटना हुई, और दस दिन तक उस शहर पर जनता का कब्जा रहा। बहुत-सी जगहों में, खासकर उत्तर प्रदेश में, किसानों ने अपने आप लगानबन्दी शुरू कर दी। उत्तर प्रदेश में कांग्रेस ने कोशिश की कि ५० प्रतिशत लगान दिलवाकर समझौता करा दिया जाय, लेकिन उसकी कोशिश बेकार रही।

भविष्य के लिए सबसे महत्वपूर्ण गढ़वाली सिपाहियों की घटना थी, जिन्होंने पेशावर में जनता पर गोली चलाने से इंकार कर दिया था। पेशावर में स्थानीय नेताओं को गिरफ्तार कर लेने के बाद क्रुद्ध जनता के प्रदर्शनों को दबाने के लिए बख्तरबन्द गाड़ियों भेजी गयीं। जनता ने एक गाडी में आग लगा दी। उसके भीतर के लोग निकल भागे। फिर क्या था? जनता पर अंधाधुध गोलियां बरसने लगीं। सैकड़ों आदमी जान से मारे गये, बहुत से जख्मी हुए। उसी समय १८ वीं रॉयल गढ़वाल रायफिल्स की दूसरी पलटन की दो टुकड़ियों ने गोली चलाने से इन्कार कर दिया। सिपाही सब हिन्दू थे, और उन्हें एक मुसलमान भीड़ पर गोली चलाने का आर्डर मिला था। लेकिन उन्होंने अपनी कतारें तोड़ दीं; वे भीड़ के लोगों से भाईचारे का व्यवहार करने लगे; और बहुत से सिपाहियों ने तो अपने हथियार भी दे दिये। इस घटना के बाद फौरन पेशावर से सारी फौज और पुलिस हटा ली गयी। २५ अप्रैल से ४ मई तक पेशावर शहर पर जनता का कब्जा रहा। उसके बाद हवाई जहाजों के दस्तों के साथ एक जबर्दस्त अंग्रेजी फौज पेशावर पर "फिर से कब्जा करने के लिए" भेजी गयी। लेकिन उसका कोई विरोध नहीं हुआ। बाद को बारम्बार मांग की गयी कि इस घटना की जांच करायी जाय, मगर सरकार ने साफ इंकार कर दिया। गढ़वाली पलटनों के सत्रह आदमियों का कोर्ट-मार्शल हुआ, जिसमें उनको बर्बर सजाएं दी गयीं। एक को आजन्म कालेपानी की सजा हुई, एक को पंद्रह साल की सख्त कैद, और पन्द्रह को तीन वर्ष से लेकर दस वर्ष तक की सजाएं मिलीं।

गढ़वाली सिपाहियों ने अपने देशवासियों पर गोली चलाने से इंकार किया था। उनके बारे में कम से कम यह तो कहा ही जा सकता था कि उन्होंने जो कुछ किया था, वह अहिंसा की भावना की एक महान सफलता थी, जिससे गांधी जी को हार्दिक प्रसन्नता होनी चाहिए थी। किन्तु गांधी जी का

मत यह नहीं था। यह तो ऐसी अहिंसा थी जिससे अंग्रेजी राज की नींव पर चोट पड़ती थी। गांधी-इरविन समझौते में बन्दियों की रिहाई के सम्बंध में जो धारा थी, उससे गढ़वाली सिपाहियों को जानबूझकर अलग रखा गया। कांग्रेस का इतिहास लिखा गया। उसमें बहुत से छोटे-मोटे आतंकवादी कार्यों का विस्तार से वर्णन किया गया और यह भी बताया गया कि इन कार्यों से राष्ट्रीय भावना कैसे बढ़ी। लेकिन गढ़वाली सिपाहियों की वीरता का उल्लेख करने के लिए उसमें कहीं स्थान नहीं मिला। गढ़वाली वीरों को चुपचाप जेलों में सड़ने के लिए छोड़ दिया गया। १९३७ में जाकर वे लोग तब रिहा हुए जब कांग्रेसी मंत्रियों ने उनकी रिहाई पर जोर दिया। लेकिन उनकी याद आज भी जनता के हृदय में जीवित है और आजाद भारत में जब लोग बहुत से राजनीतिज्ञों के नाम भूल जायेंगे, तब भी वे इन बहादुरों को अभिमान और गर्व के साथ याद किया करेंगे। लन्दन में गोलमेज सम्मेलन के समय एक फ्रांसीसी पत्रकार ने गांधी से पूछा कि उन्होंने गढ़वाली सिपाहियों के कार्य को क्यों पसंद नहीं किया। गांधी जी ने उत्तर दिया :

> "जो सिपाही गोली चलाने से इंकार करता है, वह अपनी प्रतिज्ञा भंग करता है व मुजरिमाना हुक्म-उदूली का जुर्म करता है। मैं अफसरों और सिपाहियों से हुक्म-उदूली करने को नहीं कह सकता। क्योंकि जब मेरे हाथ में ताकत होगी, तब बहुत सम्भव है कि मुझे भी इन्हीं अफसरों और सिपाहियों से काम लेना पड़े। अगर मैं उन्हें आज हुक्म-उदूली करना सिखाऊंगा, तो मुझे डर लगा रहेगा कि शायद कल को वे मेरे राज्य में भी ऐसा ही करें।"

गांधी जी का प्रत्येक शान्तिवादी भक्त और प्रशंसक इस वाक्य का विचार करे। बारदोली के फैसले की तरह ही, इस वाक्य से भी "अहिंसा" का असली मतलब एकदम साफ हो जाता है।

जब यह बात साफ हो गयी कि जन-अन्दोलन का वेग उस पर लगायी गयी सीमाओं को तोड़े डाल रहा है, और गांधी जी की बात को लोग कम मानने लगे हैं, तो सरकार ने, जिसने अभी तक गांधी जी को छुट्टा छोड़ रखा था, ५ मई को उन्हें गिरफ्तार कर लिया। सरकारी विज्ञप्ति में गिरफ्तारी का कारण बताते हुए कहा गया :

> "म. गांधी इन हिंसात्मक उपद्रवों की बराबर निन्दा करते आये हैं, लेकिन अपने अनुशासन-विहीन अनुयायियों के खिलाफ उनकी आवाज दिन-ब-दिन कमजोर पड़ती जा रही है, और यह बात स्पष्ट है कि अब वह उनको काबू में रखने में असमर्थ हैं।...नजरबन्दी के दौरान में उनके स्वास्थ्य और आराम का पूरा-पूरा खयाल रखा जायगा।"

गांधी जी की गिरफ्तारी का देश पर क्या प्रभाव पड़ा था, यह हड़तालों की देशव्यापी लहर से प्रकट हो गया। बम्बई प्रांत के शोलापुर नामक औद्योगिक नगर की आबादी १४०,००० थी। उसमें से ५०,००० कपड़ा-मिलों के मजदूर थे। उन्होंने शहर पर कब्जा कर लिया। पुलिस की जगह मजदूरों ने ले ली और अपना शासन कायम कर लिया। सात दिन तक यही हालत रही। आखिर १२ मई को वहां मार्शल-ला जारी हो गया। १४ मई, १९३० को टाइम्स अखबार के संवाददाता ने लिखा : "भीड़ के ऊपर कांग्रेस के नेताओं तक का कोई नियंत्रण नहीं रह गया था। वह खुद अपनी हुकूमत कायम करना चाहती थी।" पूना के स्टार नामक पत्र ने लिखा : "लोगों ने हुकूमत अपने हाथों में ले ली थी और वे अपनी कायदे-कानून चलाने की कोशिश कर रहे थे।" उस समय के लोगों की गवाहियों से पता चलता है कि विद्रोही जनता ने शोलापुर में पूर्ण व्यवस्था कायम कर रखी थी।

साम्राज्यवादी दमन की कोई सीमा नहीं रह गयी थी। दनादन आर्डिनेंस पर आर्डिनेंस जारी किये जा रहे थे। देश में मार्शल-लॉ जैसी हालत हो गयी थी। जून में कांग्रेस और उसके तमाम संगठनों को गैर-कानूनी करार दे दिया गया। सरकारी आंकड़ों से पता चला कि १९३१ के बसन्त में, गांधी-इरविन समझौता होने तक के एक साल से भी कम समय में ६०,००० सत्याग्रहियों को सजाएं सुना दी गयी थीं। यह संख्या असलियत को बहुत कम करके बताती थी, क्योंकि जिन लोगों को दंगा-बलवा करने, आदि के नाम पर सजाएं दी गयीं थीं, वे इस संख्या में शामिल नहीं थे। इस संख्या में केवल वे ही लोग आते थे जिन्हें सरकार राजबन्दी मानती थी। राष्ट्रवादियों ने उस जमाने की गिरफ्तारियों का हिसाब बड़ी तफ़सील से रखा है। उसके अनुसार ९०,००० लोगों को आन्दोलन के सिलसिले में सजाएं दी गयी थीं। कांग्रेस का इतिहास में लिखा गया है कि "१९३०–३१ में दस महीने के भीतर ही ९०,००० मर्दों, औरतों और बच्चों को सजाएं सुना दी गयीं।" यह सब ब्रिटेन में "लेबर" (मजदूर-दली) सरकार के रहते हुए हुआ। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं यदि प्रतिक्रियावादी पत्र ऑब्जर्वर ने २७ अप्रैल, १९३० को यह लिखा : "यह बड़े सौभाग्य की बात है" कि इस वक्त ब्रिटेन में लेबर पार्टी की सरकार है, और "भारत की हालत को देखते हुए अब यह बात एक सार्वजनिक आवश्यकता बन गयी है कि लेबर मंत्रिमंडल को कायम रखा जाय।"

लोगों को जेलों में डाल देना दमन का सबसे नरम रूप था। जेलें ठसाठस भर गयी थीं, और यह बात साफ हो गयी थी कि जेलें भरने से आन्दोलन नहीं रुक सकता। इसलिए सरकार जिस मुख्य अस्त्र का उपयोग कर रही थी, वह शारीरिक यातना का अस्त्र था। इस काल में जितने अंधाधुंध लाठीचार्ज हुए,

जितने लोगों को बेरहमी से पीटा गया, जितनी बार निहत्थी जनता पर गोली चलायी गयी, जितने मर्दों और औरतों को जान से मार डाला गया और जख्मी किया गया, और जितने गांवों और शहरों पर चढ़ाई की गयी, उन सबका यदि पूरा हिसाब लगाया जाय, तो एक बहुत ही भयानक चित्र उपस्थित होगा।* इन तमाम कार्रवाइयों पर पर्दा डालने के लिए खबरों पर सख्त सेंसर लगा दिया गया था। लेकिन कांग्रेस ने सैकड़ों घटनाओं का ब्यौरा पूरी गवाहियों के साथ इकट्ठा किया है। उसने पता चलता है कि सरकार ने उस दौरान कितनी अमानुषिकता दिखायी थी।

लेकिन, इस सबके बावजूद, १९३० में आन्दोलन की शक्ति बराबर बढ़ती गयी। सरकारी अधिकारियों का सारा हिसाब उलट गया। दमन भी कुछ काम नहीं आ रहा था। साम्राज्यवादी पक्ष में बड़ी घबराहट फैलने लगी। १९३० की गर्मियों में ही यह बात खुलकर सामने आने लगी थी। खास तौर पर अंग्रेज व्यापारी वर्ग बहुत घबराया हुआ था, क्योंकि विलायती कपड़े के बहिष्कार से उसे सख्त धक्का लगा था। बम्बई में यह बात विशेष रूप से देखने में आ रही थी। बम्बई शहर कल-कारखानों में काम करने वाले मजदूर वर्ग का केन्द्र है। वहां दमन भी सबसे भयानक हुआ था और आन्दोलन भी और सब जगहों से ज्यादा ताकतवर था। बार-बार पुलिस हमले करती और बार-बार लोग सड़कों पर कब्जा कर लेते थे। बड़े-बड़े प्रदर्शन निकलते थे, जो कांग्रेसी नेताओं के बहुत अनुनय-विनय करने पर भी सड़कों पर से नहीं हटते थे। इन जलूसों में तिरंगे झंडों के साथ-साथ लाल झंडे भी रहते थे; बल्कि कभी-कभी तो उनकी बहुतायत होती थी। २९ जून को **ऑब्जर्वर** ने लिखा : "कलकत्ते या दूसरे बड़े शहरों से जो लोग यहां आते हैं, वे यह देखकर हैरत में रह जाते हैं कि बम्बई की क्या हालत हो गयी है।" ५ जुलाई के **स्पेक्टेटर** में "बम्बई का एक पत्र" छपा जिसमें कहा गया था कि "अगर फौज और हथियारबन्द पुलिस न हो तो बम्बई सरकार एक दिन में पलट दी जाय और कांग्रेस सबकी रजामन्दी से शासन की बागडोर अपने हाथों में ले ले।" भारतीय व्यापारियों के साथ-साथ बम्बई के अंग्रेज व्यापारी भी यह मांग करने लगे कि भारत को डोमीनियन स्टेटस के आधार पर फौरन स्वराज्य दे दिया जाय। बम्बई के मिल मालिक संघ के एक-तिहाई सदस्य योरपियन थे। इस संस्था के जरिये और चेम्बर आफ कौमर्स के जरिये अंग्रेज व्यापारियों ने यह आवाज बुलन्द की। यह चमत्कारपूर्ण दृश्य भी इसी समय देखने में आया कि बम्बई का

* १४ जुलाई १९३० को लेजिस्लेटिव असेम्बली में सरकारी तौर पर एक सवाल का जवाब देते हुए बताया गया था कि १ अप्रैल से लेकर १४ जुलाई तक २४ गोलीकांड हो चुके थे। इनमें १०३ आदमी मारे गये थे और ४२० जख्मी हुए थे।

टाइम्स ऑफ इंडिया जैसा पत्र केन्द्र में जिम्मेदार पार्लामेंटी हुकूमत कायम करने की मांग करने लगा। ६ जुलाई तक यह हालत हो गयी कि **ऑब्जर्वर** भारत में रहने वाले "योरपियनों का मनोबल टूट जाने" की खबरें अपने कॉलमों में छापने लगा। उसने लिखा :

> कलकत्ते से निकलने वाले **स्टेट्समैन** के स्तम्भों को छोड़कर और सब जगह पस्ती छायी हुई है, और काफी पक्की अफवाहें उड़ रही हैं कि कलकत्ते और बम्बई के अंग्रेज व्यापारियों तथा कांग्रेसियों के बीच समझौते की बातचीत हो रही है। इस बातचीत का आधार यह बताया जाता है कि बहिष्कार तथा इसी प्रकार की अन्य अस्थायी बुराइयों को थोड़ा कम कर देने के बदले स्थायी ढंग का राजनीतिक आत्म-समर्पण कर दिया जाय।...योरपियन लोग दहशत खा गये हैं...लेकिन हर जगह यही हालत नहीं है, और कलकत्ते में इस पस्ती के खिलाफ जोरदार जनमत दिखायी देता है।"

अगस्त तक **ऑब्जर्वर** का कलकत्ता संवाददाता "बम्बई में कमजोरी" शीर्षक से यह लिखने लगा था :

> "बम्बई से आयी हुई यह खबर सुनकर यहां के जनमत को बड़ा धक्का लगा है कि अंग्रेजों के प्रबंध से चलनेवाली कुछ मिलों को कांग्रेस की शर्तें मान लेनी पड़ी हैं, और इसलिए एक प्रमुख नागरिक बम्बई की लाइट हॉर्स (घुड़सवार पल्टन) से इस्तीफा दे रहा है। इस समाचार से भी यहां बड़ी चिन्ता है कि योरपियन एसोसियेशन की बम्बई शाखा ढेर हो गयी है। उसने एक अच्छे-खासे बहुमत से साइमन-रिपोर्ट पर इसलिए राय देने से इंकार कर दिया है कि वह भारतीय जनमत को मंजूर नहीं है। बम्बई शाखा ने गोलमेज सम्मेलन के लिए अपने उम्मीदवार का नाम भी वापिस ले लिया है।"

इस प्रकार, सारी गीदड़-भभकियों और दमन के बावजूद, साम्राज्यवादी पक्ष में "पस्ती" और "दहशत" की हालत पैदा होने लगी थी। साम्राज्यवादियों के पैर उखड़ते मालूम पड़ रहे थे। उनके लिए जरूरी हो गया कि वे किसी भी कीमत पर समझौता कर लें। भारत की जनता के बलिदानों और संघर्ष के फलस्वरूप कांग्रेस के नेताओं का पलड़ा भारी हो गया था। अब साम्राज्यवाद की एकमात्र आशा नरमदली राष्ट्रीय नेताओं पर केन्द्रित थी। सरकार जानती थी कि नरमदली नेता जन-संघर्ष के विस्तार को देखकर वाकई बहुत घबरा गये हैं और यह सोचने लगे हैं कि पता नहीं यह आन्दोलन बढ़ते-बढ़ते क्या रूप धारण कर ले। सितम्बर में बरमिंघम के सैली ओक कालेज में

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंधों के प्रोफेसर एच. जी. एलेक्जेंडर गांधी जी से मिले और उन्होंने गांधी जी का मत बताते हुए लिखा :

"बन्दीगृह की निर्जनता में भी उनको इस बात का सख्त अहसास है कि लोगों में इस तरह की कटुता फैल रही है और इस कारण ईमानदारी के साथ जितनी जल्दी शान्ति और सहयोग फिर से स्थापित हो जाय, वे उतना ही उसका स्वागत करेंगे...उनका असर अब भी बहुत है, लेकिन हर दिन खतरनाक और अनियंत्रित शक्तियों की ताकत बढ़ती जा रही है।"

इस प्रकार, दोनों तरफ घबराहट बढ़ रही थी और इस आपसी घबराहट के आधार पर समझौता हो जाने की गुंजाइश थी—मगर यह समझौता भारतीय जनता के खिलाफ ही हो सकता था।

१९३० के पतझड़ में समझौते की बातचीत शुरू हुई, लेकिन कोई नतीजा नहीं निकला। २० जनवरी, १९३१ को रैमजे मैकडोनल्ड ने प्रधान मंत्री की हैसियत से गोलमेज सम्मेलन में ऐलान किया :

"मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूं कि हमारी कोशिशों से भारत को वह वस्तु मिल जाय जिसके अभाव के कारण ही उसे अभी तक ब्रिटिश राष्ट्र-समूह के अन्दर डोमिनियन का दर्जा नहीं मिला है। मैं भगवान से विनती करता हूं कि हमारे प्रयत्नों से भारत को जिम्मेदार खुदमुख्तार हुकूमत का उत्तरदायित्व और भार, उसकी कठिनाइयां और उसके बोझे के साथ-साथ उसका गौरव और सम्मान भी प्राप्त हो जाय।"

बड़े गोलमटोल शब्दों में लपेटकर चारा डाला गया था, और जैसा कि बाद की घटनाओं से साबित होने वाला था, जहां तक ठोस अमल का सम्बंध था, इस ऐलान के जरिये ब्रिटिश सरकार ने कोई वायदा नहीं किया था।

२६ जनवरी को गांधी जी और कांग्रेस कार्यसमिति को बिना शर्त रिहा कर दिया गया और उन्हें अपनी बैठक करने की इजाजत भी दे दी गयी। गांधी जी ने ऐलान किया कि वह "बिलकुल खुला हुआ दिमाग" लेकर जेल से निकले हैं। समझौते की लम्बी बातचीत चली। ४ मार्च को गांधी-इरविन समझौते पर दस्तखत हो गये और आन्दोलन अस्थायी रूप से रोक दिया गया।

जिन उद्देश्यों के लिए कांग्रेस ने संघर्ष छेड़ा था, गांधी-इरविन समझौते से उनमें से एक भी पूरा नहीं हुआ (नमक-कर तक भी रद्द नहीं हुआ)। मगर सत्याग्रह बन्द कर देना पड़ा। जिस गोलमेज सम्मेलन का बहिष्कार करने की कांग्रेस ने कसम खायी थी, अब उसमें शरीक होने का फैसला हुआ। खुदमुख्तार हुकूमत कायम करने की दिशा में एक भी कदम नहीं उठाया गया।

तय हुआ कि गोलमेज सम्मेलन में एक संघ-विधान के आधार पर बातचीत चलेगी, जिसमें भारतीयों के हाथों में जिम्मेदारी रहेगी, मगर "भारत के ही हितों को ध्यान में रखते हुए कुछ विशेष अधिकार अंग्रेज अधिकारियों के हाथों में सुरक्षित रहेंगे।" यह भी तय पाया कि आर्डिनेंस वापिस ले लिये जायेंगे और राजबन्दियों को रिहा कर दिया जायगा—मगर जिन लोगों पर हिंसा का अभियोग है, अथवा जिन पर हिंसा का प्रचार करने का अभियोग है, और जिन सिपाहियों ने हुक्म-उदूली की है, उनको नहीं छोड़ा जायगा। विदेशी कपड़े का बहिष्कार करने की लोगों को आजादी दे दी गयी—लेकिन इस शर्त के साथ कि "केवल अंग्रेजी सामान का ही" बहिष्कार न किया जाय, "राजनीतिक उद्देश्य" सामने रखकर बहिष्कार न किया जाय और उसके सिलसिले में कोई इस तरह का धरना न दिया जाय "जिसमें लोगों के साथ जोर-जबर्दस्ती की जाती हो, जिसमें विरोधी प्रदर्शन होते हों या जिससे जनता के कामकाज में रुकावट होती हो।" समझौते की अन्य धाराएं भी सब इसी प्रकार की थीं—वे एक हाथ से देती थीं तो दूसरे हाथ से छीन लेती थीं। जनता का अधिक से अधिक केवल यह लाभ हुआ कि विलायती कपड़े की दूकानों पर शान्तिपूर्ण ढंग से धरना देने का हक उसे मिल गया। इस एक जीत से यह बात बिलकुल साफ हो गयी कि जहां तक भारत के लोगों के हित का सवाल है, समझौतों के पीछे किन लोगों का स्वार्थ काम कर रहा था।

परन्तु एक बात थी जिससे शुरू में जनता में खुशी और जीत की भावना फैली। जिस कांग्रेस को अंग्रेजी सरकार ने गैर-कानूनी करार दे दिया था और जिसे उसने चकनाचूर करने की कोशिश की थी, उसी कांग्रेस के नेता से सरकार को खुले आम संधि करनी पड़ी। यह, निस्सन्देह, राष्ट्रीय आन्दोलन की शक्ति का एक महान प्रदर्शन था। राजनीतिक दृष्टि से अधिक सचेत कुछ हिस्सों को छोड़ कर बाकी सभी लोगों में इस बात से खुशी की लहर दौड़ गयी। थोड़े ही लोग यह समझ पाये कि वास्तव में क्या हुआ और किस तरह उनके सारे संघर्ष एवं बलिदानों को समझौते की बातचीत में भुला दिया गया है। बहुत धीरे-धीरे समझौते की शर्तों का असली मतलब लोगों की समझ में आया; और तब उन्होंने समझा कि देश को कुछ भी नहीं मिला है। पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करने और साम्राज्यवाद से समझौता न करने के जो बड़े-बड़े नारे लाहौर में इतने जोर से बुलन्द किये गये थे, वे सब हवा में उड़ गये थे। यहां तक कि गांधी जी ने कांग्रेस की पीठ-पीछे समझौते की जो ग्यारह शर्तें रखी थीं, उन सबका भी अब कहीं पता न था। उनमें से एक भी शर्त नहीं मानी गयी थी। कांग्रेस की यह हालत हो गयी थी कि जिस गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने से उसने इंकार कर दिया था, अब वह उसी में भाग लेने जा रही थी; हालांकि यह चीज तो उसे

बिना आन्दोलन किये भी मिल सकती थी (उस समय अगर कुछ फर्क पड़ता तो केवल इतना ही कि शुरू में वह चाहती तो उसे कहीं ज्यादा प्रतिनिधि भेजने का अधिकार मिल सकता था)।

इस प्रकार, गांधी-इरविन समझौते से असल में बारदोली का अनुभव ही बहुत बड़े पैमाने पर दोहराया गया था। एक बार फिर बड़े रहस्यपूर्ण ढंग से यकायक ठीक उस समय आन्दोलन रोक दिया गया जब वह अपने शिखर पर पहुंच रहा था। (खुद गांधी जी ने फ्रांसीसी पत्र **मोंद** के २० फरवरी, १६३२ के अंक में गांधी-इरविन समझौते के समय की भारत की परिस्थिति के विषय में यह कहा था : "यह कहना सरासर झूठ है कि हमारा आन्दोलन ठप होने वाला था; आन्दोलन के धीमे पड़ने का कोई भी चिन्ह नहीं दिखायी देता था।") ५ मार्च को लन्दन के अखबार **टाइम्स** ने लिखा : "ऐसी जीत शायद ही किसी वायसराय को पहले कभी मिली हो!" गांधी जी ने ५ मार्च को आश्चर्यचकित पत्रकारों के बीच समझौते का औचित्य साबित करने की कोशिश की और कहा कि "कांग्रेस ने जीतने की कोशिश ही कब की थी?" अवश्य ही, गांधी जी ने यह बात बिलकुल सच कही थी और इन शब्दों में अपनी रणनीति की असलियत प्रकट कर दी थी। बाद को उन्होंने अपने सोचने का ढंग और भी साफ किया। जून १६३१ में उन्होंने अपने पत्र **यंग इंडिया** में यह लिखा : "इस समय हमें स्वराज्य का विधान प्राप्त करने की कोशिश छोड़ देनी चाहिए। हम जो कुछ चाहते हैं, वह बिना राजनीतिक शक्ति के भी मिल सकती है।" एक दूसरे ढंग से अपनी बात समझाते हुए उन्होंने ६ मार्च को पत्रकारों से एक भेंट के दौरान कहा था कि पूर्ण स्वराज्य का असली मतलब "आन्तरिक अनुशासन और आत्म-नियंत्रण" है और "इंग्लैंड के साथ सम्बंध रखना" उसके बाहर नहीं है ("सम्बंध रखने" की भी खूब ही रही—खास तौर पर जब उसका मतलब संगीन की तेज नोक से "सम्बंध रखना" हो!)। इस तरह, एक ओर से रैमजे मैक्डोनल्ड और दूसरी ओर से गांधी जी ने शब्दों की तीरों की वर्षा कर-करके ऐसा घटाटोप कर दिया था जिसमें स्वतंत्रता जैसे सीधे और सरल शब्द का अर्थ भी आंखों से ओझल हो गया। लाहौर अधिवेशन ने बहुत स्पष्ट शब्दों में कांग्रेस के ध्येय की घोषणा की थी (कांग्रेस का ध्येय था "ब्रिटिश प्रभुत्व व ब्रिटिश साम्राज्यवाद से पूर्ण स्वाधीनता" प्राप्त करना)। लेकिन इन दोनों महात्माओं ने इस सीधी सी बात को कानूनी परिभाषाओं और धार्मिक सूत्रों के अम्बार के नीचे छिपा दिया। हालत यहां तक पहुंच गयी कि यह कहना कठिन हो गया कि बाजी किसके हाथ रही—रैमजे मैक्डोनल्ड के या गांधी जी के। आत्म-समर्पण और दासता की कड़वी वास्तविकता पर आध्यात्मिक तर्कों और शब्दों के गोरखधंधे का पर्दा डाल देने की कला में दोनों ही सिद्धहस्त थे।

उसी महीने में, जल्दी-जल्दी कांग्रेस का अधिवेशन करांची में बुलाया गया। वहां सर्वसम्मति से समझौते को स्वीकार किया गया। अधिवेशन के सामने समझौते को पेश करने का काम पं. जवाहरलाल को दिया गया। खुद उन्हीं के शब्दों में, ऐसा नहीं था कि यह काम करते हुए उन्हें "सख्त मानसिक कशमकश और शारीरिक क्लेश का अनुभव न करना पड़ा हो।" उसके मन में सवाल उठ रहा था कि "क्या इसी के लिए हमारे देश के लोगों ने एक साल तक इतनी बहादुरी दिखायी थी? क्या हमारी तमाम बड़ी-बड़ी बातों और बड़े-बड़े कामों का इसी तरह खातमा होना था?" परन्तु, इसके साथ-साथ उन्हें लगा कि समझौते से अपनी असहमति प्रकट करना "व्यक्तिगत घमंड" का परिचय देना होगा। सुभाष बाबू समझौते के तीव्र आलोचक थे, परन्तु उन्हें लगा कि कांग्रेस अधिवेशन में उसका विरोध करना सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसा करना राष्ट्रीय एकता को भंग करना प्रतीत होगा। पं. जवाहरलाल नेहरू के अनुसार समझौता "लोकप्रिय नहीं था।" फिर भी कांग्रेस अधिवेशन में बहुत कम आवाजें उसके खिलाफ उठीं। एक प्रतिनिधि ने कहा कि यदि गांधी जी के सिवा किसी और ने इस तरह का समझौता हमारे सामने रखा होता, तो लोग उसे उठाकर समुद्र में फेंक देते। लेकिन, खुली बैठकों में इस तरह की बात का कहा जाना एक अपवाद मात्र था। कांग्रेस के ठस्स संगठन और जनता के व्यापक आन्दोलन के बीच जो घातक खाई पैदा हो गयी थी, वह करांची में प्रकट हो गयी। सुभाष बाबू ने बाद को लिखा कि समझौते के विरोधियों को "चुने हुए प्रतिनिधियों से बहुत कम समर्थन प्राप्त होता और कांग्रेस के अधिवेशन में केवल चुने हुए प्रतिनिधि ही वोट कर सकते थे। लेकिन, आम जनता में और खासकर नौजवानों में बहुत लोग उनके साथ थे।" इन "बहुत लोगों" की आवाज बुलन्द करने वाला कांग्रेस में कोई न था। करांची अधिवेशन में वामपंथी राष्ट्रवादिता एकदम भहराकर गिर पड़ी। इससे मालूम होता था कि गांधी जी की स्थिति कितनी मजबूत थी।

बदले में, उग्रवादियों का दिल रखने के लिए, वहां एक प्रगतिशील सामाजिक और आर्थिक कार्यक्रम पास कर दिया गया। यह कार्यक्रम "मौलिक अधिकारों" वाले प्रस्ताव के रूप में था। उसमें एक काफी उन्नत ढंग की बुनियादी जनवादी मांगों की तालिका थी, जिसमें मुख्य उद्योगों व यातायात का राष्ट्रीकरण, मजदूरों के अधिकार, और खेती की व्यवस्था में सुधार की मांगें भी शामिल थीं। इस कार्यक्रम को कांग्रेस आज भी मानती है। उसे स्वीकार करके कांग्रेस ने एक बड़ा कदम आगे की ओर उठाया था। लेकिन गांधी-इरविन समझौते के रूप में हुए आत्म-समर्पण से देश को जो नुकसान हुआ था वह इस कार्यक्रम से पूरा नहीं हो सकता था।

कांग्रेस के बाहर, युवक आन्दोलन और मजदूर आन्दोलन ने समझौते की तीव्र आलोचना की। युवक संगठनों तथा युवक सम्मेलनों ने उसके खिलाफ अनेक प्रस्ताव पास किये, और बम्बई के मजदूरों ने गोलमेज सम्मेलन के वास्ते विलायत के लिए रवाना होने के समय गांधी जी के खिलाफ प्रदर्शन किये। लन्दन के टाइम्स ने लिखा कि दस साल पहले इस तरह के प्रदर्शनों की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।

जल्द ही और लोगों के भ्रम भी टूटने लगे। १९३१ में लन्दन के गोलमेज सम्मेलन में (और अध्यात्मवाद के भक्तों की उन अनगिनत छोटी-छोटी सभाओं में, जो गोलमेज सम्मेलन की बैठकों के बीच में विश्व-गुरु गांधी का संदेश सुनने के लिए हुआ करती थीं) गांधी जी की क्या भूमिका रही, उस पर पर्दा डाले रहना ही अच्छा है। वह दृश्य एक बहुत शोचनीय प्रहसन के समान था। पुराने जमाने में जिस तरह रोमन सम्राट रोमवासियों को दिखाने के लिए विदेशों से कैदियों को पकड़कर मंगवाया करते थे, उसी तरह ब्रिटिश पार्लियामेंट के सदस्यों के मनोरंजन के लिए भारत से रंग-बिरंगी सरकारी कठपुतलियों को मंगवाकर लन्दन में इकट्ठा किया गया था और वे बड़ी स्वामिभक्ति के साथ अपनी बुद्धिहीनता और फूट का प्रदर्शन कर रही थीं। और कांग्रेस भी इन्हीं कठपुतलियों के बीच बैठी थी। गांधी जी, रास्ते में मुसोलिनी से मिलते हुए, भारत लौट आये। गोलमेज सम्मेलन से उन्हें कुछ न मिला।

रास्ते में गांधी जी ने यह आशा प्रकट की कि शायद फिर आन्दोलन शुरू करने की जरूरत न पड़ेगी। पोर्ट सैयद से उन्होंने इंडिया आफिस को तार भेजा कि वह अपनी ओर से जहां तक हो सकेगा शान्ति कायम रखने के लिए प्रयत्न करते रहेंगे। भारत पहुंचने के तुरत बाद ही उन्होंने इस आशय का एक प्रस्ताव भी तैयार कर डाला। लेकिन वह इस बात को भूल गये थे कि सरकार कुछ और ही सोच रही थी।

साम्राज्यवाद का पलड़ा चूंकि इस समय भारी हो गया था, इसलिए उसने बदली हुई परिस्थिति से पूरा-पूरा फायदा उठाने का फैसला किया। कांग्रेस और सरकार के बीच जो "अस्थायी सुलह" हुई थी, वह असल में तो शुरू से ही एकतरफा सुलह थी। सरकार की तरफ से दमन बराबर जारी था। गांधी जी १९३१ के आखीर के दिनों में स्वदेश लौटे तो अपने सहयोगियों से उन्होंने एक करुण कहानी सुनी। उन्होंने तुरन्त वायसराय को तार भेजकर मुलाकात के लिए समय मांगा। वायसराय ने उनसे मिलने से इंकार कर दिया। "अस्थायी सुलह" पर दस्तखत हुए नौ महीने हुए थे। इस बीच लन्दन में तो गोलमेज सम्मेलन का प्रहसन होता रहा, मगर भारत में साम्राज्यवाद ने एक-एक दिन का इस्तेमाल दमन की तैयारी करने के लिए किया। उसने इस बार

फैसलाकुन लड़ाई लड़ने की तैयारी की थी। इसके लिए सर जौन एंडर्सन को खास तौर पर बंगाल का गवर्नर बनाकर भेजा गया था, क्योंकि यह महाशय आयरलैंड में विद्रोही देशभक्तों का क्रूर दमन करने में बड़ा नाम कमा चुके थे। इस बार सरकार पहले से चौकन्नी थी। उसने कांग्रेस की अक्ल ठीक करने का फैसला किया था। उसने तय किया था कि इस बार निपटारे की लड़ाई होगी और जब तक कांग्रेस बिना शर्त सरकार के सामने आत्म-समर्पण न कर देगी; तब तक लड़ाई बन्द नहीं की जायगी।

४ जनवरी १९३२ को उसने अचानक और जबर्दस्त हमला किया। समझौते की बातचीत यकायक तोड़ दी गयी। वायसराय ने अपना एक ऐलान प्रकाशित कराया और उसी रोज गांधी जी को गिरफ्तार कर लिया गया। बहुत से आर्डिनेंस भी उसी रोज एक साथ जारी हो गये (१९३० की तरह इस बार एक-एक करके आर्डिनेंस नहीं जारी किये गये, बल्कि पहले ही रोज मानो किसी बक्से से निकाल कर सब के सब एक साथ लागू कर दिये गये)। देश भर में कांग्रेस के तमाम संगठनकर्ता और प्रमुख नेता पकड़ लिये गये। कांग्रेस को और उसके तमाम सहकारी संगठनों को गैर-कानूनी करार दे दिया गया। उनके अखबार बन्द कर दिये गये। दफ्तरों पर ताला डाल दिया गया। उनका रुपया-पैसा, जमीन-जायदाद सब जब्त कर ली गयी। सरकार ने दिखा दिया कि संगठन इसको कहते हैं!

सरकार ने यह बात साफ कर दी कि इस बार वह कांग्रेस को पछाड़ कर ही दम लेगी। सर सैम्युअल होर ने कामंस सभा में बताया कि आर्डिनेंस "बहुत व्यापक और कठोर हैं," और इस बार लड़ाई बीच में नहीं रुकेगी। भारत सरकार के गृह-मंत्री सर हैरी हेग ने कहा कि "हम इस बार नकली कायदे मानकर खेलने नहीं उतरे हैं," और जहां तक सरकार का सम्बन्ध है, उसने अपने लिए वक्त की कोई मियाद नहीं बांधी है। बम्बई सरकार के प्रतिनिधियों ने प्रान्तीय धारासभा में खुलेआम यह ऐलान कर दिया कि "लड़ाई दस्ताने पहन कर नहीं लड़ी जाती।"

कांग्रेसी नेता इस हमले के लिए तैयार नहीं थे। वे हक्के-बक्के रह गये कहां गोलमेज सम्मेलन का वातावरण और कहां यह भयानक हमला! अचानक पूरी दुनिया बदल गयी थी। उन्होंने कोई तैयारी नहीं की थी। १९३० में कांग्रेस ने हमला शुरू किया था। इस बार उसे बचाव की लड़ाई लड़नी पड़ी। नेताओं ने यह नहीं समझा था कि गांधी-इरविन समझौते की उन्हें क्या कीमत चुकानी पड़ेगी। कांग्रेस कार्यसमिति के सदस्य डा. सैयद महमूद ने इंडिया लीग के प्रतिनिधिमंडल को बताया :

"महात्मा गांधी ने जो प्रस्ताव तैयार करके कार्यसमिति के सामने

रखा था, उसके बारे में दुनिया कुछ नहीं जानती। महात्मा जी सहयोग करने पर तुले हुए थे...सरकार सहयोग नहीं चाहती थी। मुझे जो भीतरी जानकारी है, उसके आधार पर मैं कह सकता हूं कि कांग्रेस लड़ाई के लिए तैयार न थी। हम आशा कर रहे थे कि लन्दन से लौटने पर महात्मा जी किसी न किसी तरह शान्ति कायम करने में सफल होंगे।"

डा. महमूद ने आगे यह भी कहा कि "उन्हें और उनके सहयोगियों को इस बात का पक्का पता है कि सरकार ने दमन की तैयारी नवम्बर में ही कर ली थी, जब कि गांधी जी लन्दन में ही थे। सरकार के इस अचानक हमले को कांग्रेस एकाएक संभाल न सकी।"

१६३२-३३ में जो दमन हुआ, वह १६३०-३१ के दमन से कहीं ज्यादा भयानक था। २ मई, १६३२ को पं. मदनमोहन मालवीय ने दमन की एक सही रिपोर्ट जनता के सामने पेश की। उसमें उन्होंने बताया कि पहले चार महीनों में ८०,००० आदमी गिरफ्तार हो चुके हैं। अप्रैल १६३३ में कलकत्ते में कांग्रेस का गैर-कानूनी अधिवेशन हुआ। उससे बताया गया कि मार्च १६३३ के अन्त तक, पन्द्रह महीने में १२०,००० गिरफ्तारियां हो चुकी हैं। उसके साथ-साथ, सरकार की तरफ से किस बड़े पैमाने पर हिंसा की गयी लोगों को कैसी-कैसी यातनाएं दी गयीं, किस तरह उन पर गोलियां चलायी गयीं, गांवों और शहरों पर किस तरह फौज और पुलिस ने धावे बोले, सामूहिक जुर्माने किये और गांव वालों की जमीन-जायदाद जब्त की, इसका कुछ अंदाज इंडिया लीग के प्रतिनिधिमंडल की १६३३ में प्रकाशित रिपोर्ट भारत की हालत से लग सकता है।

सरकार ने हिसाब लगाया था कि छः हफ्ते में मामला खतम हो जायगा। लेकिन राष्ट्रीय आन्दोलन इतना शक्तिशाली निकला कि प्रतिकूल परिस्थितियों में भी २६ महीनों तक लड़ाई चलती रही और तब जाकर कांग्रेस ने घुटने टेके। लेकिन यह साधारण सिपाहियों की लड़ाई थी, जो सेनापतियों के पथ-प्रदर्शन के बिना ही लड़ रहे थे। उन दिनों सारा काम गैर-कानूनी ढंग से करना पड़ता था और भयानक दमन हो रहा था। ऐसी परिस्थिति में आंदोलन का नेतृत्व करना हर हालत में बहुत कठिन होता। मगर गांधी जी तथा कांग्रेस कार्यसमिति ने यह काम और भी कठिन बना दिया। उसके सारे काम ऐसे थे, उनकी पूरी भूमिका ऐसी थी, जिसका मतलब यही होता था कि गांधी जी और कार्यसमिति के सदस्य न सिर्फ खुद आंदोलन का नेतृत्व नहीं करना चाहते थे, बल्कि वे यह भी नहीं चाहते थे कि दूसरे लोग उसका नेतृत्व करें। उनकी तरफ से आदेश जारी कर दिये गये कि गुप्त संगठन नहीं होना चाहिए, क्योंकि उससे कांग्रेस के सिद्धांतों की हत्या होती है। ध्यान रहे कि ये आदेश

उस वक्त दिए गये थे जब कि कांग्रेस गैर-कानूनी करार दी जा चुकी थी और हर काम गैर-कानूनी ढंग से करना पड़ता था। जमीदारों को आश्वासन देने के लिए एक प्रस्ताव पास करके ऐलान कर दिया गया कि उनके हितों के खिलाफ कोई आंदोलन करने की इजाजत नहीं दी जायगी। १९३२ की गरमियों के आते-आते गांधी जी ने राष्ट्रीय संघर्ष में दिलचस्पी लेना पूरी तरह पर बन्द कर दिया और वह हरिजन-उद्धार में लग गये। सितम्बर में उन्होंने बड़े नाटकीय ढंग से जो "आमरण अनशन" किया, उसका उद्देश्य सरकारी दमन को रोकना नहीं था। न ही यह अनशन जिन्दगी और मौत की उस लड़ाई को आगे बढ़ाने के लिए किया गया था जिसमें कि उस वक्त देश जूझ रहा था। उसका उद्देश्य केवल इतना ही था कि धारासभाओं में "दलित जातियों" के प्रतिनिधियों को अलग से चुनवाने की योजना अमल में न आने पाये। अनशन न तो आमरण हुआ और न ही उसका कथित उद्देश्य पूरा हुआ। पूना का समझौता हो जाने पर अनशन समाप्त कर दिया गया। इस समझौते के द्वारा "दलित जातियों" के लिए सुरक्षित सीटों की संख्या दुगनी कर दी गयी। हां, इस घटना का यह परिणाम जरूर हुआ कि लोगों का ध्यान राष्ट्रीय आन्दोलन से हट गया, जिसके नेता अब भी गांधी जी ही समझे जाते थे।

मई १९३३ में गांधी जी ने एक नया अनशन शुरू किया। यह भी सरकार के खिलाफ नहीं था, बल्कि इसका उद्देश्य खुद देशवासियों का हृदय परिवर्तन करना था। गांधी जी ने बताया कि यह व्रत "मेरी अपनी और मेरे सहयोगियों की आत्म-शुद्धि के लिए है, ताकि हम लोग हरिजन उद्धार के लिए अधिक सचेत और सतर्क हो सकें।" सरकार ने प्रसन्न होकर उन्हें बिना शर्त रिहा कर दिया। गांधी जी के छूटते ही कांग्रेस के कार्यवाहक अध्यक्ष ने उनके परामर्श से छः हफ्ते के लिए सत्याग्रह आन्दोलन स्थगित कर दिया। आन्दोलन इसलिए नहीं बन्द किया गया था कि सरकार ने कांग्रेस की कोई शर्त मान ली थी या इसकी कोई आशा पैदा हो गयी थी; बल्कि गांधी जी के शब्दों में, वह केवल इसलिए बन्द किया गया था कि जब तक उनका अनशन चलेगा, तब तक देश "बड़ी बेचैनी की हालत" में रहेगा, और इसलिए इस दौरान में आन्दोलन को रोक देना ही बेहतर होगा (सरकार ने अपना दमन इस बीच नहीं रोका, यह दूसरी बात है)।

अनशन के बाद गांधी जी ने फिर वायसराय से मिलने की कोशिश की, मगर उन्होंने जवाब दिया कि जब तक सत्याग्रह आन्दोलन आखिरी तौर पर बन्द नहीं कर दिया जाता, तब तक वह गांधी जी से मिलने को तैयार नहीं हैं। चुनांचे जुलाई १९३३ में कांग्रेस के नेताओं ने जन-सत्याग्रह बन्द कर

दिया और केवल व्यक्तिगत सत्याग्रह की इजाजत दी। इसके साथ-साथ कांग्रेस के कार्यवाहक अध्यक्ष ने कांग्रेस के सभी संगठनों को भंग कर दिया। मगर सरकार तब भी न पसीजी। उल्टे उसने व्यक्तिगत सत्याग्रह करने वालों पर दमन और तेज कर दिया। अगस्त में गांधी जी फिर गिरफ्तार कर लिये गये, पर उन्होंने फिर अनशन आरम्भ कर दिया, और एक महीने के अन्दर ही वह रिहा कर दिये गये। पतझड़ में उन्होंने यह घोषणा की कि राजनीतिक कामों से वह अपना हाथ खींच लेंगे, क्योंकि अब उनकी आत्मा ऐसे कामों के लिए गवाही नहीं देती। यह ऐलान करने के बाद वह हरिजन-उद्धार के लिए देश का दौरा करने निकल पड़े। इधर आन्दोलन घिसटता रहा। उसको न तो खतम किया गया और न उसकी रहनुमाई की गयी।

१९३० में जो आन्दोलन इतनी आनबान के साथ शुरू किया गया था, वह आखिरी तौर पर कहीं मई १९३४ में जाकर समाप्त हुआ। अप्रैल में गांधी जी ने एक बयान दिया जिसमें उन्होंने बताया कि उनकी राय में आन्दोलन की असफलता के क्या कारण थे। उनके विचार से दोष जनता का था। उन्होंने कहा : मैं समझता हूं कि सत्याग्रह का संकेत जनता तक पहुंचते-पहुंचते अशुद्ध हो जाता है और इसलिए अभी तक जनता उसे ग्रहण नहीं कर पायी है। मेरे सामने यह बात स्पष्ट हो गयी है कि जब आध्यात्मिक अस्त्रों का उपयोग करना, अनाध्यात्मिक साधनों द्वारा, सिखाने की कोशिश की जाती है तब वे अस्त्र कुंठित हो जाते है...बहुत से लोगों के अपूर्ण सत्याग्रह से... (इसलिए)...शासकों का हृदय द्रवित नहीं हुआ है।" अब जन-सत्याग्रह को छोड़कर व्यक्तिगत सत्याग्रह का तरीका अपना लिया गया था। मगर उससे भी यह समस्या हल नहीं हुई थी कि तत्कालीन परिस्थितियों में किसी भी जन-आन्दोलन को नियंत्रण में कैसे रखा जाय। इसलिए गांधी जी ने अकाट्य तर्क प्रणाली से यह निष्कर्ष निकाला कि "एक समय में केवल एक ही व्यक्ति को सत्याग्रह करना चाहिए और उसे ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जो सत्याग्रह करने के योग्य हो।" "वर्तमान परिस्थितियों में फिलहाल केवल मैं ही सत्याग्रह करने की जिम्मेदारी उठा सकता हूं।" गांधीवादी सिद्धांत ने भारत की जनता को आजादी दिलाने के लिए जो "अहिंसात्मक असहयोग" का रास्ता निकाला था, उसका अन्त में जाकर यह रूप हो गया था।

मई १९३४ में अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी का अधिवेशन पटना में होने दिया गया, ताकि वह सत्याग्रह आन्दोलन को (गांधी जी के बताये हुए एक मात्र अपवाद को छोड़कर) बिना शर्त समाप्त कर दे। सरकार ने अपनी तरफ से न कोई शर्त मानी थी और न कोई रिआयत की थी। इसके साथ-साथ कमिटी ने कुछ ऐसे फैसले किये, जिनके लिए पहले से जमीन तैयार कर

की गयी थी। इन फैसलों का उद्देश्य यह था कि आने वाले चुनाव सीधे कांग्रेस के नाम पर लड़े जायें।

जून १९३४ में सरकार ने कांग्रेस पर लगी हुई रोक हटा ली, हालांकि कांग्रेस के बहुत से सहकारी संगठन, युवक संगठन, किसान सभाएं, और सरहदी सूबे के खुदाई खिदमतगारों की संस्था अब भी गैर-कानूनी बने रहे। जुलाई १९३४ में सरकार ने भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को गैर-कानूनी करार दे दिया। अब एक नयी मंजिल शुरू हो रही थी।

१९३४ के पतझड़ में गांधी जी ने कांग्रेस की मेम्बरी से इस्तीफा दे दिया। फिलहाल उनका काम पूरा हो चुका था। कांग्रेस से विदा लेते हुए उन्होंने एक बयान दिया। उसमें अपने इस्तीफे की वजह बताते हुए उन्होंने कहा: "मुझ में और बहुत से कांग्रेस-जनों में जबर्दस्त मतभेद है और वह बढ़ता जा रहा है।" स्पष्ट है कि "अधिकतर कांग्रेस-जनों के लिए" अहिंसा "एक नीति" मात्र है और एक "मौलिक सिद्धांत" के रूप में उनकी अहिंसा में आस्था नहीं है। इसके अलावा कांग्रेस में समाजवादी तत्वों का प्रभाव और संख्या बढ़ रही है। "यदि वे कांग्रेस पर छा गये, जो असंभव नहीं है, तो मैं नहीं रहूंगा।" लोगों को इस बात का अहसास होने लगा था कि नयी मंजिल आ गयी है; और पुराने विचार के लोगों को यह बात पसन्द नहीं थी।

गांधी जी ने कांग्रेस को छोड़ दिया। लेकिन उससे अलग होने के पहले वह कांग्रेस के विधान व संगठन में कुछ प्रतिक्रियावादी संशोधन करते गये। इन संशोधनों से कांग्रेस के प्रगतिशील दिशा में आगे बढ़ने में बहुत बाधा पड़ी। अलग होने के बाद भी, गांधी जी पर्दे के पीछे से कांग्रेस के सबसे शक्तिशाली पथ-प्रदर्शक बने रहे। इसके अलावा यह बात भी तय थी कि जरूरत पड़ने पर वह फिर खुले आम कांग्रेस का नेतृत्व करने के लिए तैयार हो जायेंगे। १९३९-४० के संकट में और फिर १९४२ में उन्होंने सीधे-सीधे कांग्रेस का नेतृत्व किया।

१९३०-३४ में संघर्ष की जो महान लहर उठी थी, उसका अन्त बड़ा दुखद हुआ। लेकिन इस बात से हमें उसकी महान सफलताओं को नहीं भूल जाना चाहिए। इससे हमें यह न भुला देना चाहिए कि १९३०-३४ के आन्दोलन से जनता ने बहुत गूढ़ और स्थायी महत्व के सबक हासिल किये और उससे देश का बहुत भारी स्थायी लाभ हुआ। एक ऐसा आन्दोलन, जिसके लिये जनता के समर्थन, श्रद्धा, भक्ति और त्याग की कोई सीमा नहीं थी, और जो इसमें सन्देह नहीं कि सफलता के बिल्कुल निकट पहुंच गया था, क्यों अस्थाई रूप से असफल हो गया और नेताओं के किन तरीकों और किस कार्यनीति के कारण वह असफल हुआ—इस पर भविष्य के लिए बार-बार

विचार करना आवश्यक है। इन प्रश्नों का उत्तर हम घटनाओं का वर्णन करते हुए ऊपर दे चुके हैं। फिर भी उन दिनों जो कुछ हुआ, उस पर राष्ट्रीय आन्दोलन गर्व कर सकता है। साम्राज्यवादी उन दिनों सोचते थे कि दमन के नये-नये तरीके ईजाद करके वे भारत की जनता को कुचलकर रख देंगे और स्वतंत्रता के आन्दोलन को जड़ से नष्ट कर देंगे। वे यह नहीं कर पाये। इस तमाम दमन के बावजूद दो साल के अन्दर ही राष्ट्रीय आन्दोलन पहले से अधिक वेग के साथ आगे बढ़ चला। १६३०-३४ का संघर्ष व्यर्थ नहीं गया था। उसकी भट्ठी में तपकर जनता में एक नयी और पहले से अधिक दृढ़ राष्ट्रीय एकता, एक नया आत्म-विश्वास, एक नया गौरव और नयी दृढ़ता उत्पन्न हुई।

बारहवां अध्याय

मजदूर वर्ग का उभार

लेनिन ने १६०८ में ही इस बात का स्वागत किया था कि "भारतीय मजदूर वर्ग अब इतना परिपक्व हो गया है कि वह वर्ग चेतना के साथ राजनीतिक जन-संघर्ष चला सकता है।" उन्होंने यह बात इस आधार पर कही थी कि उस वर्ष लोकमान्य तिलक को छः वर्ष की सजा सुनाये जाने के विरोध में बम्बई के मिल मजदूरों ने राजनीतिक हड़ताल की थी। इस हड़ताल से लेनिन इस नतीजे पर पहुंचे थे कि अब भारत में अंग्रेजी राज के दिन खत्म होने वाले हैं।

आज घटनाओं का वेग लेनिन की दूरदर्शिता को सही साबित कर रहा है। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास से यह बात स्पष्ट है कि संघर्ष की हर नयी मंजिल के साथ राष्ट्रीय आन्दोलन में मजदूर वर्ग की भूमिका का महत्व और वजन बढ़ता गया है; और समाजवाद या कम्युनिज्म के सवाल भारत में चलने वाली राजनीतिक बहसों के मुख्य सवाल बन गये हैं।

१६१४ के पहले वाले काल में मजदूर वर्ग की यह भूमिका पृष्ठभूमि में पड़ी हुई थी। मजदूर वर्ग राष्ट्रीय आन्दोलन के आगे चलने के बजाय, उसके पीछे-पीछे चलता था। उस जमाने में उसने केवल एक ही बड़ा राजनीतिक काम किया। वह था तिलक महाराज को छः साल की सजा सुनाये जाने के विरोध में बम्बई की आम हड़ताल।

पहले महायुद्ध के खत्म होने पर भारत में नयी जागृति आयी और एक नया दौर शुरू हुआ। इस दौर की शुरूआत १६१८-२१ की जबर्दस्त हड़तालों ने की, और उन्होंने ही अन्त में कांग्रेस को भी मैदान में ला उतारा और उसने १६२०-२२ का असहयोग आन्दोलन छेड़ा।

इसके दस साल बाद मजदूर वर्ग एक स्वतंत्र और संगठित शक्ति बन गया। उसकी अपनी विचारधारा राजनीतिक क्षेत्र को प्रभावित करने लगी, हालांकि अभी उसने राजनीतिक आंदोलन में नेतृत्व का स्थान प्राप्त नहीं किया था। १६२८ में हड़तालों की एक जबर्दस्त लहर आयी जिसका नेतृत्व मजदूर वर्ग के लड़ाकू एवं श्रेणी-सजग हिस्सों ने किया। हड़तालों की इस लहर के साथ-साथ नौजवानों और निम्न-पूंजीवादी लोगों में नयी जागृति आयी, और इस प्रकार

मजदूरों की ये हड़तालें राष्ट्रीय आन्दोलन की एक नयी लहर की अग्रदूत बन गयीं। राष्ट्रीय संघर्ष की यह नयी लहर १९३० से १९३४ तक रही। इस समय पूंजीवादी नेताओं ने खुले आम यह कहा कि वे दो मोर्चों पर लड़ रहे हैं, और जितने वे साम्राज्यवाद के खिलाफ हैं, उतने ही वे नीचे से उठने वाले जन-विद्रोह के खिलाफ भी हैं।

दूसरे महायुद्ध के बाद से यह बात और भी स्पष्ट हो गयी है कि भारत की राजनीति में मजदूर वर्ग ही निर्णायक शक्ति का काम करेगा।

१. औद्योगिक मजदूरों की बढ़ती

भारतीय मजदूर वर्ग की संख्या का अनुमान लगाने के लिए एक भेद को समझ लेना आवश्यक है। सम्पत्ति-विहीन, सर्वहारा श्रम-जीवियों की संख्या भारत में बहुत बड़ी है; और आधुनिक ढंग के उद्योगों में काम करने वाले औद्योगिक मजदूरों की संख्या छोटी है। लेकिन, भारतीय मजदूर वर्ग का सबसे संगठित, सचेतन और निर्णायक हिस्सा, जो दूसरों का नेतृत्व करता है, यही है।

यदि "मजदूर" शब्द का बहुत मोटा अर्थ लगाया जाय, तो १९३८ का एक अनुमान है कि भारत में मजदूरी करके जीने वालों की संख्या ६ करोड़ थी। अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संगठन (आई. एल. ओ.) ने १९३८ में नीचे लिखे आंकड़े प्रकाशित किये थे :

> "१९२१ में बताया गया था कि खेतिहर मजदूरों की संख्या २ करोड़ १५ लाख थी। १९३१ की जन-गणना से पता चला कि यह संख्या ३ करोड़ १५ लाख हो गयी है। भारतीय मताधिकार कमेटी के अनुसार इसमें २ करोड़ ३० लाख 'भूमि-विहीन' खेत-मजदूर थे, और उसी समिति के अनुसार गैर-खेतिहर मजदूरों की कुल संख्या २ करोड़ ५० लाख थी। इस तरह मजदूरी करके जीने वालों की कुल संख्या करीब ५ करोड़ ६५ लाख हो जाती है, जबकि समूचे भारत में सभी तरह के धंधों में लगे हुए कुल आदमियों की तादाद १५ करोड़ ४० लाख है। इसका मतलब यह हुआ कि सभी तरह के धधों में लगी हुई कुल आबादी का ३६ प्रतिशत से ज्यादा हिस्सा मजदूरी करके अपनी जीविका का साधन हासिल करता है।"

यदि मजदूर शब्द का संकुचित अर्थ लगाया जाय और केवल आधुनिक उद्योग-धंधों में काम करने वाले औद्योगिक मजदूरों को ही लिया जाय और

छोटे-छोटे कारखानों में काम करने वाले मजदूरों को छोड़ दिया जाय, तो हम देखेंगे कि १९२१ की जन-गणना के अनुसार दस या उससे ज्यादा मजदूरों से काम लेने वाले कारखानों के मजदूरों की कुल तादाद २६ लाख थी। उसके बाद औद्योगिक जन-गणना कभी नहीं हुई। लेकिन १९३१ की जन-गणना से पता चला कि ऐसे मजदूरों की तादाद ३५ लाख तक हो गयी है। इस विषय में सही आंकड़े केवल फैक्टरी एक्ट से सम्बन्धित विभाग में मिलते हैं। १९३४ के फैक्टरी एक्ट के मातहत वे कारखाने आते थे जिनमें भाप या बिजली, आदि की ताकत से मशीनें चलती थीं और बीस या उससे ज्यादा मजदूर काम करते थे। कुछ सूबों में दस या दस से ज्यादा मजदूरों से काम लेने वाले कारखाने भी फैक्टरी एक्ट के मातहत आ जाते थे। १९३८ में कुल १,७३७,७५५ मजदूर इन तमाम कारखानों में काम करते थे। इनके साथ उन २९९,००३ मजदूरों को जोड़ना पड़ेगा जो देशी रियासतों के "बड़े कारखानों" में काम करते थे। इस तरह पता चलता है कि १९३८ में भारत में बड़े पैमाने के आधुनिक उद्योगों में काम करने वाले मजदूरों की कुल तादाद २,०३६,७५८ थी।

इस संख्या को अपना आधार मानकर हम यह नक्शा बना सकते हैं:

मंझोले और बड़े कारखानों के मजदूरों की संख्या

(उपरोक्त आधार पर)	२,०३६,७५८
खान के मजदूर	४१३,४५८
रेलवे मजदूर	७०१,३०७
जल-यातायात के मजदूर	
(डाक-मजदूर, जहाजी)*	३६१,०००
इन सबका जोड़	३,५१२,५२३

इन ३५ लाख मजदूरों को उस औद्योगिक मजदूर वर्ग का सार-तत्व समझना चाहिए जो १९३८ में बड़े पैमाने के आधुनिक उद्योगों में काम करता था। इस संख्या में वे मजदूर शामिल नहीं थे जो छोटे (यानी दस से कम मजदूरों से काम लेने वाले) उद्योगों में काम करते थे, या ऐसे बड़े कारखानों में काम करते थे जिनमें भाप या बिजली, आदि, की ताकत का इस्तेमाल नहीं होता था (मसलन, सिगरेट बनाने के कुछ कारखानों में पचास से भी ज्यादा आदमी काम करते हैं, मगर वहां पावर का इस्तेमाल नहीं होता)। संगठित

* यह १९३५ की संख्या है।

मजदूर आन्दोलन की कुल शक्ति कितनी हो सकती है, इसका अनुमान लगाने के लिए हमें इनके साथ उन दस लाख से ज्यादा मजदूरों को और जोड़ना पड़ेगा, जो बागानों में काम करते हैं। इन मजदूरों को एक जगह जमा करके उनसे बहुत ही वैज्ञानिक ढंग से कमरतोड़ मेहनत ली जाती है। अभी तक वे हर तरह के संगठन से अलग, आन्दोलन से दूर और बहुत ही दबाकर रखे गये हैं। फिर भी जब कभी देश में बेचैनी फैलती है, तो बागानों के मजदूर भी बहुत ऊंचे दर्जे की लड़ाकू प्रवृत्ति का परिचय दिये बिना नहीं रहते। इसके अलावा, छोटे-छोटे उद्योगों के और फैक्टरी ऐक्ट के मातहत न आने वाले बड़े उद्योगों के मजदूरों के एक हिस्से को भी अपने हिसाब में जोड़ना पड़ेगा। इस तरह भारत में संगठित किये जाने योग्य मजदूरों की कुल तादाद, दूसरा महायुद्ध शुरू होने तक, ५० लाख से ज्यादा हो गयी थी।

१९५२ में अनुमान लगाया गया कि "कल-कारखानों, बागानों, खानों, यातायात और संचार-व्यवस्था, आदि, में काम करने वाले औद्योगिक मजदूरों की कुल संख्या" ६५ या ७० लाख है। इनमें म्युनिसिपल बोर्डों, स्थानीय यातायात, भवन-निर्माण और घरेलू उद्योगों में काम करने वालों को और जोड़ दिया जाय, तो कुल तादाद १ करोड़ २० लाख हो जाती है।

२. मजदूर वर्ग की हालत

भारत में औद्योगिक मजदूर वर्ग की क्या हालत है, इसका एक मोटा-सा खाका हम दूसरे अध्याय में दे चुके हैं। १९२८ में ब्रिटेन की ट्रेड यूनियन कांग्रेस के प्रतिनिधि-मंडल ने भारत का दौरा करके यहां के मजदूरों की हालत की बाबत जो कुछ कहा था, उसकी याद दिला देना भी उपयोगी होगा। उन्होंने कहा था :

> "सारी जांच-पड़ताल से यही पता चलता है कि भारत के अधिकतर मजदूरों को १ शिलिंग रोज से ज्यादा नहीं मिलता।"

इसी प्रतिनिधि-मंडल ने मजदूरों के घरों के बारे में यह लिखा था :

> "हम लोग जहां भी ठहरे, वहां मजदूर बस्तियों को देखने जरूर गये और अगर हम उनको न देखते तो हमें कभी यह यकीन न होता कि दुनिया के पर्दे पर इतनी गंदी जगहें भी हैं।"

१९३८ में भारतीय मजदूरों के प्रतिनिधि एस. वी. परुलेकर ने जेनेवा में अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर सम्मेलन के सामने यह रिपोर्ट दी थी :

"भारत में ज्यादातर मजदूरों को जितनी मजदूरी मिलती है, उससे वे जिन्दगी की मामूली से मामूली जरूरतों को भी पूरा नहीं कर सकते। १९२१ में मि. फिंडले शिर्रास ने बम्बई के मजदूरों के माहवारी खर्च की जांच की थी। उनका कहना है कि कारखानों में काम करने वाला मजदूर उतना ही अन्न खाता है, जितना अकाल के कानून के मातहत सरकार की तरफ से अकाल-पीड़ितों को दिया जाता है। लेकिन बम्बई के जेल कानून के मातहत हर एक कैदी को जितना अन्न दिया जाता है, मजदूर को उससे कम मयस्सर होता है। मि. शिर्रास की रिपोर्ट के प्रकाशित होने के बाद से हालत और खराब हो गयी है, क्योंकि अब मजदूरों की कमाई १९२१ से कम हो गयी है...।

"असंगठित उद्योगों में, जिनकी संख्या भारत में बहुत बड़ी है, मजदूरी की दर बयान से बाहर है; उसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है...।

"बीमारी, बेकारी, बुढ़ापा और मौत के समय मजदूरों की मदद करने का भारत में कोई प्रबंध नहीं है...।

"१९३१ की जनगणना की रिपोर्ट में बताया गया है कि भारत के सबसे बड़े औद्योगिक केन्द्र बम्बई में लोग जिस तरह से घरों में रहते हैं, वे किसी भी सभ्य समाज के लिए कलंक की बात हैं...।

"नीचे दिये आंकड़ों से पता चलता है कि बम्बई में जितने बच्चे पैदा होते हैं, उनमें से कितने बचपन में ही मर जाते हैं। बाकी आबादी के मुकाबले मजदूरों के बच्चे कितने ज्यादा मरते हैं, यह देखकर किसी का भी दिल सहम उठेगा :

१. कोठरी या कम में रहने वाले परिवारों में	...	हजार में ५२४ बच्चे मर गये
२. कोठरियों में रहने वाले परिवारों में	...	,, ,, ३९४ ,, ,,
३. कोठरियों में रहने वाले परिवारों में	...	,, ,, २५५ ,, ,,
४. कोठरियों या ज्यादा में रहने वाले परिवारों में	...	,, ,, २४६.५ ,, ,,

"तब से आज तक हालत में कोई सुधार नहीं हुआ है।"

भारत में कहां कितनी मजदूरी मिलती है; इसके कोई आंकड़े नहीं मिलते। ऐसा भी नहीं है कि एक औद्योगिक केन्द्र में एक ढंग के काम के लिए

एक सी मजदूरी मिलती हो। ह्विटले कमीशन ने मजदूरों के मुआवजा-कानून के मातहत चलने वाले मुकदमों के आंकड़ों का अध्ययन किया था। उसने १६२५ से लेकर १६२६ तक पांच साल के मुकदमों को लिया। उनसे इस बात का कुछ अन्दाजा मिल गया कि अर्ध-कुशल औद्योगिक मजदूरों को औसतन किन दरों पर मजदूरी मिलती है। अकुशल मजदूरों या कम तनखा पाने वाले मजदूरों के बारे में इन मुकदमों से कुछ नहीं मालूम हो सकता था, क्योंकि ऐसे मजदूर बहुत लाचार होते हैं और उनमें से तो बहुतों को तो मुआवजा-कानून की कोई जानकारी तक नहीं होती और वे कभी मुआवजा मांगने कचहरी नहीं जाते। इसके अलावा इन मुकदमों के कागजों से प्राप्त होने वाले आंकड़ों पर सरकारी अधिकारियों ने भी काफी रंग-रोगन चढ़ाया था और उसके बाद उन्हें इस रूप में पेश किया था कि "उनसे संगठित उद्योगों के अर्ध-कुशल मजदूरों की मजूरी की दरों का बहुत मोटा सा अनुमान लग सकता है।" यानी खुद सरकारी अधिकारियों के कथन के अनुसार इन आंकड़ों से बच्चों, अकुशल मजदूरों और असंगठित उद्योगों के बहुत ही कम मजूरी पाने वाले मजदूरों की हालत के बारे में कुछ पता नहीं लगता। फिर भी, इन आंकड़ों से प्रकट होता है कि उत्तर प्रदेश में एक-चौथाई से ज्यादा अर्ध-कुशल बालिग मजदूरों को प्रति सप्ताह ४ शिलिंग ६ पेंस से कम, और आधे से ज्यादा को ६ शिलिंग से कम मजूरी मिलती थी; मध्य प्रान्त में आधे से ज्यादा अर्ध-कुशल मजदूरों को और मद्रास तथा बिहार और उड़ीसा में लगभग आधे मजदूरों को ६ शिलिंग से कम मजूरी मिलती थी; बंगाल में आधे मजदूर ७ शिलिंग ६ पेंस से कम पाते थे। और यहां तक कि बम्बई में भी, जहां रहन-सहन का खर्चा बहुत ज्यादा था, आधे से ज्यादा मजदूर प्रति सप्ताह ६ शिलिंग ६ पेंस से कम ही कमाते थे।

ध्यान रहे कि ये आंकड़े अपेक्षाकृत अधिक खाते-पीते मजदूरों के हैं और उन पर कुछ सरकारी रोगन भी चढ़ा है। ये सब मजदूरों के आम आंकड़े नहीं हैं। इस सदी के चौथे दशक में प्रान्तीय सरकारों के मजदूर-विभागों की देखरेख में मजदूर-परिवारों के माहवारी खर्च की जांच-पड़ताल कई बार हुई थी। उनसे पता चला कि एक औसत परिवार की आय (एक मजदूर की आय नहीं) बम्बई में ५० रुपये माहवार थी, अहमदाबाद में ४६ रुपये माहवार, शोलापुर में ४० रुपये माहवार, और मद्रास के संगठित उद्योगों में ३७ रुपये और असंगठित उद्योगों तथा धंधों में २० से लेकर २७ रुपये माहवार तक थी। बम्बई, शोलापुर और अहमदाबाद की जांच से यह भी मालूम हुआ था कि एक औसत परिवार में चार सदस्य थे, जिनमें से डेढ़ या दो आदमी काम

करते थे। दूसरे महायुद्ध के बाद से चीजों के दाम बहुत ज्यादा बढ़ गये हैं, और इस वजह से मजदूरों की असली मजदूरी बहुत गिर गयी है।

यह याद रखना भी जरूरी है कि कागज पर लिखी हुई मजूरी में से तरह-तरह की अनेक कटौतियां हो जाती हैं; कमीशन, जुर्माना, फोरमैन का "हक", मजदूरों पर लदे हुए कर्ज का कमरतोड़ सूद—इतनी सारी मदों में कटौती होते-होते कागज पर लिखी तनखा कुछ की कुछ हो जाती है। (कर्जा लेना हर मजदूर के लिए जरूरी है क्योंकि ज्यादातर मजदूरों को माहवार तनखा मिलती है अक्सर महीना खतम हो जाने के भी दस-पन्द्रह दिन बाद उनको पैसे दिये जाते हैं। इस तरह हर मजदूर को छः हफ्ते उधार लेकर खर्च चलाना पड़ता है। थोड़े से भाग्यशाली मजदूर ही ऐसे हैं जिन्हें हर पखवारे तनखा मिल जाती है।) ह्विटले कमीशन ने अनुमान लगाया था कि "अधिकतर औद्योगिक केन्द्रों में कम से कम दो-तिहाई मजदूर या उनके परिवार ऐसे हैं जो कर्ज से लदे हुए हैं," और "उनमें ज्यादातर मजदूरों का कर्ज उनकी तीन महीने की तनखा से ज्यादा है और अक्सर तो वह उससे बहुत आगे निकल जाता है।" बाद में जो जांच-पड़तालें हुईं, उनसे पता चला कि ह्विटले कमीशन ने दो-तिहाई मजदूरों के कर्जदार होने का जो अनुमान लगाया था, असलियत उससे कहीं ज्यादा भयानक है। बम्बई की जिस जांच का हमने ऊपर जिक्र किया था, उससे मालूम हुआ था कि ७५ प्रतिशत परिवार कर्ज से लदे हैं। मद्रास की जांच से पता चला था कि संगठित उद्योगों के ९० प्रतिशत मजदूर कर्जदार थे और औसतन हरेक का कर्जा छः महीने की तनखा से भी ज्यादा बैठता था।

बागानों के मजदूरों की हालत सबसे ज्यादा खराब है। श्री शिव राव का कहना है कि "आसाम घाटी के चाय-बागानों में (भारत की ज्यादातर चाय आसाम और बंगाल में पैदा होती है) बसे मजदूरों में मर्दों की औसत माहवारी आमदनी ७ रुपये १३ आने, औरतों की ५ रुपये १४ आने, और बच्चों की ४ रुपये ४ आने होती है।" इसके अलावा मजदूरों को जो मुफ्त "घर", दवा-दारू, और दूसरी रियायतें मिली हुई हैं, उनसे वह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि ये लोग गुलामों जैसी हालत में रहते हैं।

इस तरह के क्रूर शोषण से पूंजीपति कैसा बेशुमार मुनाफा कमाते हैं, यह सारी दुनिया में मशहूर है। पहले महायुद्ध के बाद जब व्यवसाय में तेजी आयी थी, तब खास तौर पर इन लोगों का मुनाफा आसमान को छूने लगा था। १९२५ में डंडी की जूट मिलों के मजदूरों के एक प्रतिनिधि-मंडल ने भारत के जूट-उद्योग की जांच करके यह रिपोर्ट दी थी :

"रिजर्व फंड और मुनाफे को जोड़ने पर पता चलेगा कि १९१५ से १९२४ तक के दस सालों में ३० करोड़ पौंड मुनाफा हिस्सेदारों को मिला है, यानी जूट उद्योग में लगी हुई पूंजी पर ९० प्रतिशत सालाना का लाभ होता हैं। इस उद्योग में ३ लाख से लेकर ३ लाख २७ हजार तक मजदूर काम करते हैं और उन्हें १२ पौंड १० शिलिंग सालाना की औसत मजूरी मिलती है। ३ लाख मजदूरों से दस साल में ३० करोड़ पौंड का मुनाफा चूसने का मतलब यह होता है कि हर मजदूर से साल भर में १०० पौंड चूसे गये। मजदूरों की सालाना मजूरी चूंकि १२ पौंड १० शिलिंग फी आदमी है, इसलिए इससे साबित होता है कि मालिकों का सालाना मुनाफा मजदूरों की सालाना मजदूरी का आठ गुना होता है।"

सूती उद्योग में चुंगी बोर्ड ने १९२७ में जांच करके इस आशय की एक रिपोर्ट प्रकाशित करायी थी :

"बम्बई की मिलों के आमदनी और खर्च के चिट्ठों को देखने पर पता चलता है कि १९२० में ३५ कम्पनियों ने, जो ४२ मिलों की मालिक थीं, अपने हिस्सेदारों को ४० प्रतिशत या उससे भी अधिक मुनाफा बांटा था। इनमें से दस कम्पनियों ने, जो १४ मिलों की मालिक थीं, १०० प्रतिशत या उससे भी अधिक मुनाफा बांटा था, और दो मिलों ने २०० प्रतिशत से ज्यादा मुनाफा अपने हिस्सेदारों को दिया था। १९२१ में ऐसी कम्पनियों की संख्या ४१ हो गयी थी, जो ४७ मिलों की मालिक थीं। इनमें से ९ कम्पनियों ने, जिनके पास ११ मिलें थीं, १०० प्रतिशत या उससे भी ज्यादा मुनाफा बांटा था।"

३६५ प्रतिशत का मुनाफा बांटने वाली कम्पनियां भी देखने में आयी हैं। १९२७ में नागपुर की एम्प्रेस मिल ने अपनी स्वर्ण जयंती के अवसर पर एक पुस्तिका निकाली थी। उसमें बड़े गर्व के साथ यह लिखा गया था :

"यह काफी दिलचस्प बात है कि ३० जून १९२६ तक एम्प्रेस मिल ने कुल ९२,२१४,५२७ रुपये का मुनाफा कमाया है, जो मामूली हिस्सेदारों की कुल पूंजी का करीब ६१.४७ गुना होता है। इस तारीख तक कम्पनी मामूली हिस्सेदारों को ५९,४३१,२६७ रुपये का मुनाफा बांट चुकी है। इस तरह मूल पूंजी पर हिस्सेदारों को बांटे गये मुनाफे की दर ८०.८६ प्रतिशत सालाना बैठती है...।"

भारत में मजदूरों के सम्बंध में जो कानून बने हैं, वे भी बहुत पिछड़े हुए है। और कागज पर ये कानून जो कुछ कहते हैं, असल में वे उससेबहुत भी

कम फायदा मजदूरों को पहुंचाते हैं। फैक्टरियों के बारे में पहले-पहल १८८१ में कानून बना था। उस वक्त लंकाशायर के मिल-मालिक भारतीय मिलों की बढ़ती को देखकर बहुत घबरा गये थे। उनके दबाव से यह फैक्टरी ऐक्ट बना। पर दसियों बरस तक वह सरकारी फाइलों में ही बन्द पड़ा रहा। हालांकि यह कानून मजदूरों की बहुत ही थोड़ी बातों में दखल देता था, मगर उन बातों में भी उस पर अमल नहीं हुआ, क्योंकि कानून में उसकी धाराओं पर अमल करने की कोई पाबन्दी न थी। श्री शिव राव ने १९३९ में लिखा था :

> "कारखानों, खानों, बागानों, गोदियों, रेलों, बन्दरगाहों आदि में काम करने वाले मजदूरों के लिए जितने कानून बने हैं, उन सबको यदि लिया जाय तब भी इसमें सन्देह है कि उनका असर ७० या ८० लाख मजदूरों से ज्यादा पर पड़ता है। बाकी मजदूर, जिनकी संख्या इन ७० या ८० लाख से बहुत ज्यादा है, छोटे अथवा तथाकथित अनियमित उद्योगों में काम करते हैं।"

१९४४ में कारखानों से सम्बधित मुख्य कानून केवल २,५२२,७५३ मजदूरों पर लागू होते थे। यह भारत के मजदूर वर्ग का एक बहुत ही छोटा हिस्सा था। और ये मजदूर भी इन कानूनों से खास फायदा नहीं उठा पाते थे, क्योंकि उनको लागू करने वाली व्यवस्था बड़ी ढीली और कमजोर थी। १९४४ में १४,०७१ कारखाने फैक्टरी ऐक्ट के मातहत सरकारी रजिस्टरों में दर्ज थे। उनमें से केवल ११,७१३ यानी ८३.२ प्रतिशत कारखानों की फैक्टरी इंस्पेक्टरों ने जांच की। २,३५८ यानी १६.८ प्रतिशत कारखानों की साल में एक बार भी जांच नहीं हुई। जिनकी हुई, उनमें से ज्यादातर में साल भर में केवल एक बार इंस्पेक्टर गया। इससे समझा जा सकता है कि कारखानों के मालिक फैक्टरी ऐक्ट पर कितना अमल करते होंगे। ऐक्ट के मातहत १,७७५ मामलों में मालिकों को दंड दिया गया। मगर यह दंड केवल जुर्माना था और वह भी इतना हल्का कि उससे ऐसा मालूम होता था कि मालिकों को कानून तोड़ने के लिए बढ़ावा दिया जा रहा है। १९४८ में उत्तर प्रदेश की एक रिपोर्ट में यह मत प्रकट किया गया था कि "इस तरह के जुर्मानों से कानून तोड़ने वालों का कोई सुधार नहीं होगा, क्योंकि कानून तोड़ने से जितना नफा होता है, जुर्माने में उससे बहुत कम देना पड़ता है।"

भारत में उद्योग-धंधों का अधिकांश भाग ऐसा है जिस पर सरकार के कानून लागू नहीं होते। ऐसे उद्योगों में छोटे से छोटे बच्चों से मेहनत करायी जाती है। काम के घंटों पर कोई पाबन्दी नहीं है। मजदूरों की स्वास्थ्य-रक्षा के लिए बहुत मामूली इन्तजाम तक नदारद है। १९३८ की मद्रास की रिपोर्ट

का कहना है कि उस प्रान्त के असंगठित उद्योगों में बच्चों से पहले से ज्यादा मजदूरी करायी जाने लगी है। चमड़ा, दरी और सिगरेट के कारखानों में बच्चे आम तौर पर पांच या छः वर्ष की उम्र से काम करना शुरू कर देते हैं। उन्हें हफ्ते में एक दिन की भी छुट्टी नहीं मिलती और रोज दस-दस, बारह-बारह घंटे काम करना पड़ता है। और इतना काम करने पर उन्हें मजूरी मिलती है केवल दो आने।

वर्तमान युग में जिन्हें सामाजिक कानून कहते हैं, उनका लगभग बिलकुल अभाव है। मजदूरों के स्वास्थ्य का बीमा नहीं होता, उन्हें बीमारी का भत्ता नहीं मिलता, बुढ़ापे की पेंशन नहीं मिलती, बेकार होने पर उनकी कोई मदद नहीं करता, और उनकी शिक्षा की भी कोई आम व्यवस्था नहीं है। उन मजदूरों के लिए जो बारहों महीने कारखानों में काम करते हैं, १९४८ में एक राजकीय बीमा कानून बनाया गया। जाहिर है कि ऐसे मजदूरों की संख्या बहुत थोड़ी है। लेकिन १९५२ तक यह कानून भी केवल दो ही स्थानों पर लागू किया गया था—कानपुर में और दिल्ली में।

३. मजदूर आन्दोलन का जन्म

भारत में मजदूर आन्दोलन की शुरूआत करीब पचास साल पहले हुई थी। लेकिन एक संगठित आन्दोलन के रूप में उसका इतिहास-क्रम पहले महायुद्ध के बाद ही आरम्भ होता है।

जब उन्नीसवीं सदी के आठवें दशक तक देश में कल-कारखाने खड़े हो गये, तब हड़तालों का होना भी लाजिमी हो गया, हालांकि शुरू-शुरू में उनका रूप आदिम ढंग का और असंगठित था। इतिहास में १८७७ की एक हड़ताल का उल्लेख है जो नागपुर की एम्प्रेस मिल में मजूरी की दर के सवाल पर हुई थी। १८८२ से लेकर १८९० तक के काल में बम्बई और मद्रास प्रान्त की २५ हड़तालों का उल्लेख मिलता है।

साधारण परम्परा के अनुसार यह माना जाता है कि भारत में मजदूर आन्दोलन का इतिहास १८८४ में बम्बई के मजदूरों की एक सभा से शुरू होता है, जिसे एन. एम. लोखंडे नामक एक स्थानीय सम्पादक ने बुलाया था। इन सज्जन ने मजदूरों की मांगों का एक आवेदन-पत्र तैयार किया था, जो बम्बई के मजदूरों की तरफ से फैक्टरी कमीशन को दिया जाने वाला था। इस आवेदन-पत्र में मांग की गयी थी कि काम के घंटों पर पाबंदी लगायी जाय, हफ्ते में एक दिन की छुट्टी मिले, दोपहर में खाने-पीने की छुट्टी दी जाय, और चोट-

फोट लगने पर मजदूरों को मुआवजा मिले। यह लोखंडे साहब अपने को "बम्बई मिल-मजदूर एसोसियेशन का सभापति" कहते थे।

लोखंडे का भारत के मजदूर इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है; लेकिन यह समझना गलत है कि भारत में मजदूर आन्दोलन लोखंडे के काम से शुरू हुआ है। "बम्बई मिल-मजदूर एसोसियेसन" किसी भी अर्थ में मजदूर संगठन नहीं था। उसके न तो सदस्य थे, न कायदे-कानून थे और न ही कोई कोष था। लोखंडे मजदूरों की भलाई चाहने वाले एक परोपकारी वृत्ति के व्यक्ति थे जो मजदूरों के हित में कानून बनवाने का प्रयत्न किया करते थे। वह मजदूरों के संगठन या मजदूरों के संघर्ष का श्रीगणेश करने वाले व्यक्ति नहीं थे।

भारतीय मजदूर आन्दोलन का प्रारम्भिक इतिहास जानने के लिए उन्नीसवीं सदी के नवें दशक और उसके बाद के कागजों को देखना होगा कि उनमें किन हड़तालों का जिक्र मिलता है। हालांकि उस वक्त तक मजदूरों का कोई संगठन नहीं बन पाया था, मगर उस जमाने के मजदूर जिस तरह संघर्ष में एक-दूसरे का साथ देते थे, और उनमें प्राथमिक ढंग की जो वर्ग चेतना उत्पन्न हो गयी थी, उसे कम करके नहीं आंकना चाहिए। बजबज जूट मिल के डायरेक्टरों ने १८९५ में अपनी बजट रिपोर्ट में लिखा था: "उन्हें इस बात का अफसोस है कि इस छमाही में मजदूरों ने एक हड़ताल की और उसकी वजह से मिल छः हफ्ते तक बन्द पड़ी रही।" १८९५ की बम्बई फैक्टरी रिपोर्ट में अहमदाबाद के ८,००० बुनकरों की एक हड़ताल का जिक्र मिलता है, जो अहमदाबाद के मिल मालिक संघ के खिलाफ की गयी थी।

डी. एच. बुकानन ने अपनी पुस्तक **भारत में पूंजीवादी व्यवसाय का विकास** में लिखा है:

> "१८८० और १९०८ के बीच विभिन्न सरकारी कमीशनों के सामने जितनी भी गवाहियां आयीं, लगभग सभी में यह बात कही गयी कि मजदूरों की अभी कोई वास्तविक यूनियन नहीं बनी है। फिर भी, बहुत से लोगों ने बताया कि अलग-अलग मिलों के मजदूर अक्सर आपस में एक साथ मिल जाते हैं और एक समूह के रूप में बड़ी आजादी का परिचय देते हैं। १८९२ में बायलरों के इंस्पेक्टर ने बताया था कि 'मजदूरों में एक अजीब एका दिखायी देता है जिसकी न तो कोई लिखा-पढ़ी हुई है और न ही जिसे कोई खास नाम दिया गया है;' और बम्बई के कलक्टर ने लिखा था कि हालांकि यह एका 'केवल हवा में ही दिखायी देता है, मगर तब भी वह है एक जोरदार चीज।' उसने सरकार को लिखा था: 'मुझे विश्वास है कि इसी एके के कारण मजदूरों ने बहुत दिनों से अपनी मजूरी

में कोई हेर-फेर नहीं होने दिया है ।'...बम्बई प्रान्त में उद्योगों के संचालक मि. भरूचा ने कहा था कि 'मालिकों के मुकाबले में मजदूर सर्वशक्तिमान मालूम पड़ते हैं, और हालांकि उनकी कोई यूनियन नहीं है, मगर मालिकों के खिलाफ एक हो जाने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं होती।' बयानों में यदि थोड़ी अतिशयोक्ति है, तो वर्धा के उस अंग्रेज डिप्टी कमिश्नर ने तो हद ही कर दी, जिसने कहा कि 'मजदूरों की तूती बोल रही है; अब सवाल उनकी हिफाजत करने का नहीं है, बल्कि हमें मालिकों की हिफाजत करनी है'।" (पृष्ठ ४२५)

इन शब्दों की ध्वनि बताती है कि भारतीय मजदूरों की नवजात वर्ग चेतना को देखकर उस जमाने में भी मालिकों को डर लगने लगा था।

१९०५-०९ में लड़ाकू राष्ट्रीय आन्दोलन की लहर के उठने के साथ-साथ मजदूर आन्दोलन ने भी उल्लेखनीय उन्नति की। बम्बई की मिलों में काम के घंटे बढ़ाने के विरोध में एक हड़ताल हुई। रेलों पर, खास तौर पर ईस्टर्न बंगाल स्टेट रेलवे पर जबर्दस्त हड़तालें हुईं। रेलवे-वर्कशापों में हड़तालें हुईं। कलकत्ते की सरकारी प्रेस में हड़ताल हुई। इन हड़तालों से उस समय के वातावरण का पता चलता है। हड़तालों की यह लहर अपने शिखर पर उस समय पहुंची जब १९०८ में तिलक महाराज को छः साल की सजा दी गयी और उसके विरोध में बम्बई के मजदूरों ने छः दिन की राजनीतिक आम हड़ताल की।

अभी मजदूरों का टिकाऊ संगठन बनाना सम्भव नहीं था। लेकिन इसकी वजह यह नहीं थी कि भारत के मजदूर पिछड़े हुए थे, या उनमें लड़ाकू मनोभावना की कमी थी। इसकी वजह केवल यह थी कि मजदूर हद से ज्यादा गरीब थे, पढ़े-लिखे नहीं थे और उनके पास साधनों का अभाव था।

पहला महायुद्ध खत्म होने के बाद भारत में जिस प्रकार की परिस्थितियां पैदा हो यी थीं, और इस देश पर रूसी क्रांति तथा उसके बाद सारी दुनिया में उठने वाली क्रांतिकारी लहर का जो प्रभाव पड़ा था, उनके कारण भारत का मजदूर वर्ग मानो एक छलांग मारकर कर्म-भूमि में उतर आया। यहीं से भारत में आधुनिक ढंग के मजदूर आन्दोलन का श्रीगणेश हुआ। उस वक्त देश की आर्थिक हालत और राजनीतिक परिस्थिति दोनों ने ही मजदूरों में नयी जागृति पैदा करने में मदद दी। लड़ाई के दिनों में चीजों के दाम दुगने हो गये थे। लेकिन मजदूरों की तनखाहों में इस हिसाब से बढ़ती नहीं हुई थी। मिल मालिक अंधाधुंध मुनाफा कमा रहे थे। राजनीतिक क्षेत्र में नयी मांगें बुलन्द हो रही थीं। देश को तुरन्त स्वराज्य मिले—इस कार्यक्रम के आधार पर

कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच एकता स्थापित हो गयी थी। संसारव्यापी क्रान्तिकारी लहर का प्रभाव भारत पर पड़ने लगा था।

इस तरह १९१८ में हड़तालों की जो लहर शुरू हुई, वह १९१९ और १९२० में सारे देश में फैल गयी। इस लहर का वेग जबर्दस्त था। १९१८ के आखीर में एक बड़े औद्योगिक केन्द्र में पहली बार एक पूरा उद्योग हड़ताल के कारण ठप हो गया। यह उस वक्त हुआ जब बम्बई की सूती मिलों में हड़ताल शुरू हुई। जनवरी १९१९ तक लगभग सभी मिलों के १२५,००० मजदूर बाहर निकल आये। १९१९ के बसन्त में रौलट ऐक्ट के खिलाफ हड़ताल हुई। उसमें मजदूरों ने जिस तरह भाग लिया, उससे साफ हो गया कि मजदूर वर्ग राष्ट्रीय संघर्ष में भी सबसे आगे बढ़कर लड़ता है। १९१९ में हड़तालों की लहर सारे देश में फैल गयी। १९१९ के खत्म होने-होते और १९२० के पूर्वार्ध में हड़तालों की व्यापकता और तेजी अपनी चरम सीमा पर पहुंच गयी। श्री आर. के. दास ने अपनी पुस्तक **भारत का मजदूर आन्दोलन** में लिखा है :

> "इस काल में हड़तालों की तेजी और फैलाव का कुछ अन्दाजा नीचे दिये आंकड़ों से लग सकता है : ४ नवम्बर से २ दिसम्बर, १९१९ तक कानपुर की ऊनी मिलों के १७,००० मजदूरों ने हड़ताल की, ७ दिसम्बर १९१९ से ९ जनवरी, १९२० तक जमालपुर के १६,००० रेलवे मजदूरों ने हड़ताल की; १९२० में ९ से १८ जनवरी तक कलकत्ते की जूट मिलों के ३५,००० मजदूरों ने काम करना बन्द रखा; २ जनवरी से ३ फरवरी तक बम्बई में आम हड़ताल रही, जिसमें २ लाख मजदूरों ने भाग लिया; २० से लेकर ३१ जनवरी तक रंगून के २०,००० मिल मजदूरों ने काम बन्द रखा; ३१ जनवरी को बम्बई में ब्रिटिश इंडिया नैवीगेशन कम्पनी के १०,००० मजदूरों ने हड़ताल की; २६ जनवरी से १६ फरवरी तक शोलापुर के १६,००० मिल मजदूरों ने काम बन्द रखा; २ से १६ फरवरी तक इंडियन मैरीन डाक (गोदी) के २०,००० मजदूरों ने हड़ताल रखी; २४ फरवरी से २९ मार्च तक टाटा के लोहे और इस्पात कारखाने के ४०,००० मजदूरों ने हडताल रखी; ९ मार्च को बम्बई के ६०,००० मिल मजदूरों ने काम बन्द रखा; २० से २६ मार्च तक मद्रास के १७,००० मिल मजदूरों ने हड़ताल की; मई १९२० में अहमदाबाद के २५,००० मजदूरों ने काम बन्द रखा।"

१९२० के पहले छः महीनों में २०० हड़तालें हुई और उनमें १५ लाख मजदूरों ने हिस्सा लिया।

इन परिस्थितियों में भारत का ट्रेड यूनियन आन्दोलन पैदा हुआ। खास-

खास उद्योगों तथा केन्द्रों की अधिकतर ट्रेड यूनियनें इसी काल में बनीं, हालांकि परिस्थितियों के कारण ये संगठन कभी लगातार कायम न रह सके। भारत के आधुनिक मजदूर आन्दोलन ने इसी जबर्दस्त लड़ाकू जमाने में जन्म लिया था।

इस काल में बीसियों ट्रेड यूनियनें बनीं। बहुतेरी तो बुनियादी तौर पर हड़ताल कमिटियां मात्र थीं, जो फौरी लड़ाई चलाने के लिए बनायी जाती थीं, मगर जिनमें टिकने की शक्ति नहीं होती थी। मजदूर लड़ने के लिए तैयार रहते थे, मगर यूनियन का दफ्तरी काम दूसरे लोग ही कर सकते थे। इसलिए, शुरू-शुरू के मजदूर आन्दोलन में एक असंगति पैदा हो गयी। अभी देश में समाजवाद के आधार पर, मजदूर वर्ग के विचारों तथा वर्ग-संघर्ष के आधार पर, चलने वाला कोई राजनीतिक आन्दोलन नहीं था। इसका नतीजा यह हुआ कि विभिन्न कारणों से प्रेरित होकर जो "बाहरी" लोग दूसरे वर्गों के मजदूरों के संगठनों की मदद करने को आये, उनमें मजदूर आन्दोलन के उद्देश्यों तथा जरूरतों की कोई समझ नहीं थी। उस प्रारम्भिक काल में इन "बाहरी" लोगों की मदद मजदूरों के लिए नितान्त आवश्यक थी, मगर ये लोग अपने साथ मध्यवर्गीय राजनीतिक के विचार लेकर मजदूर आन्दोलन में आये थे। उनमें से कुछ परोपकार की भावना से आये थे, कुछ सिर्फ नेता बनना चाहते थे, और कुछ राष्ट्र के राजनीतिक संघर्ष को आगे बढ़ाने के उद्देश्य से मजदूर आन्दोलन में आये थे। मगर उनका उद्देश्य कुछ भी रहा हो, वे सब एक गैर-वर्गीय दृष्टिकोण लेकर आये थे और इसलिए वे वर्ग संघर्ष के आधार पर नवजात मजदूर आन्दोलन की रहनुमाई नहीं कर सकते थे, जबकि मजदूर, असल में, वर्ग संघर्ष की ही लड़ाई लड़ रहे थे। भारत के मजदूर आन्दोलन के गले में बहुत दिनों तक यह पत्थर बंधा रहा, और उसने मजदूरों की शानदार लड़ाकू भावना और वीरता के बढ़ने में बहुत बाधा डाली; और उसका असर अब भी बाकी है।

आम तौर पर समझा जाता है कि भारत में ट्रेड यूनियनों की शुरूआत मद्रास लेबर यूनियन से हुई थी, जिसकी स्थापना थियोसोफिस्ट नेत्री श्रीमती एनी बेसेंट के सहयोगी श्री बी. पी. वाडिया ने १६१८ में की थी। भारतीय मजदूर वर्ग के जीवित इतिहास को देखते हुए यह धारणा कुछ भ्रम में डालने वाली मालूम होती है। इस काल में ट्रेड यूनियन बनाने की प्रारम्भिक कोशिशें सारे भारत में हो रही थीं। लगता है कि अहमदाबाद की सूती मिलों में "वार्पिंग" का काम करने वाले मजदूरों ने १६१७ में ही अपनी एक यूनियन बना ली थी। लेकिन संगठन का आधार उस वक्त तक बहुत कमजोर था और मजदूर वर्ग के लड़ाकूपन तथा क्रियाशीलता के स्तर को देखते हुए उनका संग-

ठन बहुत पीछे था। इसमें शक नहीं कि मद्रास लेबर यूनियन के रूप में पहली बार एक बड़े औद्योगिक केन्द्र में मजदूरों की यूनियन बनाने की एक बाकायदा कोशिश हुई थी। वहां यूनियन के मेम्बर बनाये गये थे; उनसे बाकायदा चन्दा वसूल किया गया था। इस सब के लिए मद्रास लेबर यूनियन के संस्थापकों को श्रेय दिया ही जाना चाहिए। लेकिन जिस औद्योगिक केन्द्र में यह पहलकदमी शुरू हुई थी, वह खुद अपेक्षाकृत कमजोर था। १६२१ से १६२३ तक वहां कुल मिलाकर केवल २८ लाख दिन हड़ताल हुई जब कि इसी काल में बंगाल में २ करोड़ दिन और बम्बई प्रान्त में ६ करोड़ दिन काम बन्द रहा। इससे मालूम होता है कि मद्रास में यह संगठन संयोगवश और किन्हीं व्यक्तिगत कारणों से बन गया था; और भारत के मजदूर आन्दोलन के विकास में उसके महत्व को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर दिखाना सही न होगा। मद्रास लेबर यूनियन के संस्थापक श्री बी. पी. वाडिया का दृष्टिकोण कितना संकुचित और सीमित था, यह जल्द ही मालूम हो गया। अप्रैल १६१८ में उनकी अध्यक्षता में यूनियन कायम करने के बाद मद्रास के मजदूरों ने मालिकों के सामने अपनी मांगें पेश कीं और जब उससे कुछ काम न बना तो उन्होंने मांग की कि अब हड़ताल होनी चाहिए। वाडिया साहब ने हड़ताल का विरोध किया। उन्होंने कहा कि हम लोग ब्रिटिश साम्राज्य की राजभक्त प्रजा हैं, हम हड़ताल कैसे कर सकते हैं? यानी श्रीमती एनी बेसेंट राष्ट्रीय आन्दोलन में जो रुख लेती थीं, वही उनके सहयोगी श्री वाडिया ने मजदूर आन्दोलन में अपनाया। ३ जुलाई १६१८ को श्री वाडिया ने एक भाषण के दौरान कहा:

> "अगर हड़ताल करके तुम लोग सिर्फ बिनी एंड कम्पनी का नुकसान करते तो मुझे कोई चिन्ता न होती, क्योंकि वह काफी पैसा कमा रही है। लेकिन हड़ताल करके तुम मित्र-राष्ट्रों को हानि पहुंचाओगे। हमारे सिपाहियों को परेशानी होगी। हमें उनके लिए कपड़ा तैयार करना है। और सिर्फ इसलिए कि मिलों से सम्बंधित कुछ योरपियन लोगों का और इस सरकार का बरताव ठीक नहीं है, हमें यह अधिकार नहीं मिल जाता कि हम उन लोगों को परेशान करें जो हमारे राजा की लड़ाई लड़ रहे हैं। इसलिए, हमें हड़ताल नहीं करनी चाहिए।"

श्री वाडिया ने हड़ताल तो नहीं होने दी, लेकिन बिनी एंड कम्पनी ने वाडिया साहब के "राजभक्ति" के उपदेश को अनसुना करके कारखाने में ताला डाल दिया। मजदूर इस हमले के लिए तैयार नहीं थे; और वाडिया साहब की बातों में आकर वे अपना हड़ताल का हथियार पहले से ही त्याग चुके थे। मजबूर होकर कुछ समय के लिए उन्हें अपनी मांगों को छोड़ देना पड़ा।

मद्रास में असली परीक्षा १९२१ में तब हुई जब मिलों में ताला खुलने के बाद हड़ताल शुरू हुई। कम्पनी ने हाईकोर्ट की शरण ली। हाईकोर्ट ने हड़ताल करने की मनाही कर दी। और उसका हुक्म तोड़ने के अपराध में यूनियन को ७,००० पौंड (यानी १ लाख ५ हजार रुपये) जुर्माने की सजा दी गयी। कम्पनी ने कहा कि अगर वाडिया साहब मजदूर आन्दोलन से अलग हो जायें तो हम जुर्माना वसूल कराने की कार्रवाई नहीं करेंगे। वाडिया साहब ने यह शर्त कबूल कर ली और मजदूर आन्दोलन से अपना सम्बंध तोड़ लिया। शुरू में मजदूर आन्दोलन को कुचलने के लिए भारत में कैसे-कैसे तरीके इस्तेमाल किये गये थे, यह इसकी एक बहुत अच्छी मिसाल है।

दूसरे केन्द्रों में मजदूरों के तरह-तरह के मददगार मजदूर संगठनों की बागडोर अपने हाथ में संभालने के लिए आ पहुंचे। उनमें से कुछ का मालिकों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। अहमदाबाद में गांधी जी ने मालिकों के सहयोग से एक फूटपरस्त संगठन बनाया, जिसका आधार वर्ग-शान्ति कायम रखना था। उनका बनाया हुआ यह अहमदाबाद लेबर एसोसिएशन, अथवा "मजूर-महाजन संघ" भारत के मजदूर आन्दोलन से हमेशा अलग रहा।

इसी जमाने में, १९२० में, अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना हुई। उसका प्रथम अधिवेशन अक्तूबर १९२० में बम्बई में हुआ। राष्ट्रीय नेता लाला लाजपत राय इसके सभापति थे और श्री जोजेफ बैप्टिस्टा उप-सभापति। शुरू-शुरू में यह संस्था केवल ऊपरी नेताओं का संगठन थी; और उसके बहुत से नेताओं का मजदूर आंदोलन से बहुत कम सम्पर्क था। उसकी स्थापना के पीछे खास तौर पर यह इच्छा काम कर रही थी कि इस बहाने नेताओं को, जेनेवा के अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर सम्मेलन में कुछ प्रतिनिधियों को नामजद करके भेजने का अधिकार मिल जायगा। श्री एन. एम. जोशी अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के सबसे पुराने नेताओं में से थे। उन्होंने अपनी पुस्तिका भारत में ट्रेड यूनियन आन्दोलन में यह मत प्रकट किया था कि भारत में ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना वाशिंगटन के मजदूर सम्मेलन के प्रभाव से हुई थी। उन्होंने लिखा है : "इससे यह बात स्पष्ट हो गयी कि न सिर्फ मजदूरों के संगठन बनाना आवश्यक है, बल्कि उनके बीच किसी न किसी प्रकार का सहयोग स्थापित करना भी जरूरी है ताकि वे सब एक आवाज से अपनी बात कह सकें।" ट्रेड यूनियन कांग्रेस का चौथा अधिवेशन १९२४ में हुआ। उसके सभापति स्वराज्य पार्टी के नेता देशबंधु चितरंजन दास थे। अधिवेशनों में जो भाषण होते थे, उनमें प्रायः वर्ग-शान्ति का उपदेश और मजदूरों के सामाजिक एवं नैतिक सुधार की बातें रहती थीं और सरकार से मजदूरों के सम्बन्ध में कानून बनाने और उनका रहन-सहन सुधारने की मांग

की जाती थी। प्रारम्भिक वर्षों में ट्रेड यूनियन कांग्रेस के मध्यवर्गी नेताओं का दृष्टिकोण किस प्रकार का था, इसका एक उदाहरण १९२९ में छठे अधिवेशन के सभापति श्री वी. वी. गिरि का भाषण है। उन्होंने कहा था :

> "बम्बई के केन्द्रीय मजदूर बोर्ड के चरित्र सुधार मंडल ने जो सुन्दर काम किया है, मैं बड़े उत्साह से आपका ध्यान उसकी ओर आकर्षित करता हूं।...मंडल का काम इस उद्देश्य से शुरू किया गया था कि वह मजदूरों को बुरी आदतें छोड़ने में मदद दे और उन्हें ईमानदारी, शान्ति और सन्तोष का जीवन बिताने के लिए प्रोत्साहित करे... सामाजिक कार्यकर्ता मजदूर बस्तियों में जा-जाकर शराब, जुआ और दूसरी बुरी आदतों के दोष मजदूरों को बताते हैं। मजदूरों को इसी प्रकार की शिक्षा की आवश्यता है और यही वह चीज है जो उन्हें सामाजिक और आर्थिक दोनों दृष्टियों से बेहतर इंसान बना सकेगी।"

इन नेताओं का हड़तालों की तरफ क्या रुख था, यह ट्रेड यूनियन कांग्रेस के जनरल सेक्रेटरी श्री एन. एम. जोशी की उस रिपोर्ट से स्पष्ट हो जाता है जो उन्होंने १९२७ में कानपुर में हुए आठवें अधिवेशन के सामने पेश की थी :

> "जिस जमाने की यह रिपोर्ट है, उसमें कार्यकारिणी ने कोई भी हड़ताल करने की इजाजत नहीं दी। लेकिन भारत के विभिन्न भागों और विभिन्न धंधों में मजदूरों की हालत चूंकि बहुत खराब थी, इसलिए कुछ हड़तालों और तालाबंदियों की नौबत आ ही गयी, जिनमें ट्रेड यूनियन कांग्रेस के पदाधिकारियों को भी दिलचस्पी लेनी पड़ी।"

१९२७ तक ट्रेड यूनियन कांग्रेस का मजदूरों के वर्ग-संघर्ष से अमली तौर पर बहुत ही थोड़ा सम्बन्ध था। फिर भी इसमें शक नहीं कि इस संस्था के रूप में वह मंच तैयार हो गया था जहां नवजात ट्रेड यूनियनों के नेता जमा होते थे, और इसलिए उसको मजदूर संघर्षों की हवा लगने में सिर्फ थोड़े समय की ही देर थी। १९२७ तक ट्रेड यूनियन कांग्रेस में ५७ यूनियनें शामिल हो गयी थीं जिनके बाकायदा दर्ज मेम्बरों की संख्या १५०,५५५ थी।

४. राजनीतिक जागरण

शुरू-शुरू में भारत के मजदूर आंदोलन के नामधारी नेता जिस प्रकार के लोग थे, उनके बावजूद सरकार को यह समझने में बहुत देर न लगी कि

मजदूर आन्दोलन के जन्म का क्या महत्व है। उसे कितनी चिन्ता थी, यह इस बात से प्रकट हुआ कि १६२१ में बंगाल में औद्योगिक अशान्ति की जांच करने के लिए एक कमेटी नियुक्त की गयी, १६२२ में बम्बई प्रान्त में औद्योगिक झगड़ों की जांच करने के लिए कमेटी बनायी गयी, १६१६-२० में मद्रास प्रान्त में सरकार ने एक मजदूर-विभाग खोला और उसके बाद बम्बई प्रान्त में भी यह विभाग खुल गया। १६२१ में एक ट्रेड यूनियन बिल तैयार किया गया, हालांकि वह पास हुआ कहीं १६२६ में जाकर। १६२१ से औद्योगिक झगड़ों के बाकायदा आंकड़े रखे जाने लगे। ये आंकड़े महत्वपूर्ण हैं क्योंकि इनसे आंदोलन की प्रगति का चित्र मिल जाता है।

औद्योगिक झगड़े

वर्ष	हड़तालों और ताला-बंदियों की संख्या	उनमें कितने मजदूर शामिल थे	काम के कितने दिनों का नुकसान हुआ
१६२१	३९६	६००,३५१	६,६८४,४२६
१६२२	२७८	४३३,४३४	३,६७२,७२७
१६२३	२१३	३०१,०४४	५,०५१,७०४
१६२४	१३३	३१२,४६२	८,७३०,६१८
१६२५	१३४	२७०,४२३	१२,५७८,१२९
१६२६	१२८	१८६,८११	१,०९७,४७८
१६२७	१२९	१३१,६५५	२,०१९,९७०
१६२८	२०३	५०६,८५१	३१,६४७,४०४
१६२९	१४१	५३२,०१६	१२,१६५,६९१
१६३०	१४८	१९६,३०१	२,२६१,७३१
१६३१	१६६	२०३,००८	२,४०८,१२३
१६३२	११८	१२८,०९९	१,९२२,४३७
१६३३	१४६	१६४,९३८	२,१६८,९६१
१६३४	१५९	२२०,८०८	४,७७५,५५९
१६३५	१४५	११४,२१७	९७३,४५७
१६३६	१५७	१६९,०२९	२,३५८,०६२
१६३७	३७९	६४७,८०१	८,९८२,०००
१६३८	३९९	४०१,०७५	९,१९८,७०८
१६३९	४०६	४०९,१८९	४,९९२,७९५

१९४०	३२२	४५२,५३९	७,५७७,२८१
१९४१	३५९	२९१,०५४	३,३३०,५०३
१९४२	६९४	७७२,६५३	५,७७९,९६५
१९४३	७१६	५२५,०८८	२,३४२,२८७
१९४४	६५८	५५०,०१५	३,४४७,३०६
१९४५	८२०	७४७,५३०	४,०५४,४९९
१९४६	१,५९३	१,९५१,७५६	१२,६७८,१२१
१९४७	१,८११	१,८४०,७८४	१६,५६२,६६६
१९४८	१,६३९	१,३३२,९५६	७,२१८,४५६

१९३७ तक औद्योगिक झगड़ों में काम के कुल जितने दिनों का नुकसान हुआ, यदि उसका हिसाब लगाया जाय तो मालूम होता है कि आधे से काफी ज्यादा दिन अकेले कपड़ा मिलों में जाम हुए थे। इसी तरह यदि बम्बई में होने वाले औद्योगिक झगड़ों को लिया जाय, तो मालूम होगा कि १९३७ तक आधे से ज्यादा दिन अकेले बम्बई के झगड़ों के थे।

सरकार बहुत अच्छी तरह जानती थी कि यदि इस बढ़ते हुए मजदूर आन्दोलन ने, जिसकी संघर्ष करने की शक्ति पिछले वर्षों में प्रमाणित हो चुकी है, एक बार राजनीतिक चेतना प्राप्त कर ली और यदि उसे मजबूत संगठन और वर्ग-चेतन नेता मिल गये, तो साम्राज्यवाद का पूरा आधार खतरे में पड़ जायगा। यही कारण है कि इस दौरान में सरकार मजदूरों की हालत की जांच कराने के लिए बहुत सी कमेटियां और कमीशन नियुक्त कर चुकी थी। सरकार के सामने सवाल यह था कि मजदूरों के आन्दोलन को किसी ऐसे रास्ते पर लगाने का क्या तरीका है जिससे साम्राज्यवाद के लिए कोई खतरा न रहे। या जैसा कि एक सरकारी रिपोर्ट में कहा गया था, सरकार की समस्या यह थी कि "सही ढंग के ट्रेड यूनियन आन्दोलन" को कैसे बढ़ावा दिया जाय। साम्राज्यवादी देश के मुकाबले औपनिवेशिक देश में यह काम ज्यादा कठिन होता है। १९२६ के ट्रेड यूनियन ऐक्ट का यही उद्देश्य था, जिसके द्वारा मजदूर यूनियनों की राजनीतिक कार्रवाइयों पर विशेष रूप से रोक लगा दी गयी थी। यही सोचकर सरकार इस बात से बड़ी चौकन्नी रहती थी कि मजदूर वर्ग में राजनीतिक जागरण के तो कोई चिन्ह नहीं दिखायी दे रहे हैं।

फिर भी, इन सारी बाधाओं और शुरू के जमाने की उलझनों के बावजूद लड़ाई के बाद के वर्षों में भारत में धीरे-धीरे मजदूरों के राजनीतिक जागरण के प्रारम्भिक चिन्ह दिखायी देने लगे थे और समाजवादी तथा कम्युनिस्ट विचारों

का प्रसार होने लगा था। अभी भारत की कम्युनिस्ट पार्टी बहुत कमजोर थी; मगर उसका साहित्य १९२० से ही भारत में लोगों तक पहुंचने लगा था। बम्बई में १९२४ से सोशलिस्ट ("समाजवादी") नाम की एक पत्रिका निकलने लगी थी, जिसके सम्पादक श्रीपाद अमृत डांगे थे, जो बाद में चलकर ट्रेड यूनियन कांग्रेस के सहायक सचिव और अध्यक्ष चुने गये। १९२४ में डांगे, शौकत उस्मानी, मुजफ्फर अहमद और दासगुप्ता—इन चार कम्युनिस्ट नेताओं पर कानपुर षड्यंत्र केस चलाया गया। उस समय इंगलैंड में लेबर पार्टी की सरकार थी। चारों नेताओं को चार-चार बरस की सजा सुना दी गयी। भारत के राजनीतिक मजदूर आंदोलन की अग्नि-परीक्षा इस प्रकार आरम्भ हो गयी।

दमन से जागरण को रोका नहीं जा सका। १९२६-२७ तक देश में समाजवादी विचारों का व्यापक रूप से प्रचार हो गया था। मजदूर और किसान पार्टियों के रूप में मजदूर वर्ग के राजनीतिक और समाजवादी संगठन का एक नया प्रारम्भिक रूप देश में जगह-जगह दिखायी देने लगा था। इन संगठनों में ट्रेड यूनियन आंदोलन के लड़ाकू कार्यकर्ता और कांग्रेस के उग्रवादी तत्व एक जगह इकट्ठा हो गये थे। पहली मजदूर-किसान पार्टी फरवरी १९२६ में बंगाल में बनी; फिर बम्बई, उत्तर प्रदेश और पंजाब में भी इस तरह की पार्टियां कायम हो गयीं। १९२८ में इन सबको मिलाकर अखिल भारतीय मजदूर-किसान पार्टी कायम की गयी, जिसका पहला अधिवेशन दिसम्बर १९२८ में हुआ। मजदूरों में जिस नयी जागृति के पहले चिन्ह १९२७ में प्रकट हुए थे, उसका राजनीतिक रूप इस संगठन के रूप में सामने आया, हालांकि शुरू-शुरू में वह बहुत सी उलझनों का शिकार बना रहा। इस संगठन से यह जाहिर होता था कि देश में कौन सी नयी शक्तियां आगे बढ़ रही हैं।

१९२७ के बसन्त में ट्रेड यूनियन कांग्रेस का दिल्ली में अधिवेशन हुआ (जिसमें ब्रिटिश पार्लमेंट के कम्युनिस्ट सदस्य श्री शापुरजी सकलातवाला भी शामिल हुए)। इस अधिवेशन में, और इसी साल आगे चलकर कानपुर अधिवेशन में तो और भी स्पष्ट रूप से यह बात प्रकट हो गयी कि ट्रेड यूनियन आन्दोलन में लड़ाकू नेताओं की चुनौती-भरी आवाजें सुनायी देने लगी हैं। बहुत जल्द यह बात साफ हो गयी कि भारत की अधिकतर ट्रेड यूनियनें मजदूर वर्ग के इन नये नेताओं के साथ हैं, हालांकि ट्रेड यूनियनों की रजिस्ट्री कराने में लगने वाली देरी के कारण बाकायदा तौर पर यह बात १९२९ तक नहीं मानी गयी। १९२७ में पहली बार बम्बई में मई दिवस मजदूरों के त्योहार के रूप में मनाया गया। यह इस बात का चिन्ह था कि भारत के मजदूर आन्दोलन

के इतिहास में एक ऐसे नये युग का आरम्भ हो रहा है, जब वह अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर आन्दोलन के एक सचेत अंग के रूप में काम करेगा।

१९२८ में मजदूर आंदोलन ने जैसी प्रगति की और जैसी कार्यशीलता का परिचय दिया, वैसी लड़ाई के बाद के काल में कभी देखने में न आयी थी। इस प्रगति का केन्द्र बम्बई था। पहली बार मजदूर वर्ग के ऐसे नेता सामने आये जिनका कारखानों में काम करने वाले मजदूरों से घनिष्ठ सम्पर्क था, जो वर्ग-संघर्ष के सिद्धांतों को मानकर चलते थे, और जो आर्थिक तथा राजनीतिक दोनों क्षेत्रों में एक अविभाज्य शक्ति की तरह काम करते थे। मजदूरों ने हृदय से इस नये नेतृत्व का स्वागत किया। फरवरी में साइमन कमीशन के आने पर जो राजनीतिक हड़तालें और प्रदर्शन हुए, उनसे कुछ समय के लिए मजदूर वर्ग को राष्ट्रीय आन्दोलन में अग्रदल का स्थान मिल गया। कारण कि कांग्रेस के नेता और ट्रेड यूनियन आंदोलन के सुधारवादी नेता दोनों ही इस प्रस्ताव पर नाक-भौं चढ़ा रहे थे कि साइमन कमीशन के खिलाफ होने वाली हड़तालों और प्रदर्शनों में मजदूरों को भाग लेना चाहिए; और इस चीज में जो शानदार कामयाबी मिली, उसे देखकर वे एकदम चौंक पड़े। हड़ताल में भाग लेने के लिए बम्बई के बहुत से म्युनिसिपल मजदूरों को नौकरी से जवाब दे दिया गया। दोबारा हड़ताल करने पर ही उनकी नौकरी उन्हें वापस मिली।

ट्रेड यूनियनों के संगठन का काम बड़ी तेजी से बढ़ चला। सरकारी आंकड़ों के अनुसार बम्बई में ट्रेड यूनियनों के मेम्बरों की संख्या, जो १९२३ में ४८,६६९ थी और तीन साल में (यानी १९२६ तक) केवल ५६,५४४ तक ही बढ़ पायी थी, वह १९२७ में ७५,६०२ तक पहुंच गयी, मार्च १९२८ में यकायक ९५,३२१ हो गयी और मार्च १९२९ तक तो २००,३२५ पर पहुंच गयी। सब यूनियनों से आगे बम्बई के मिल मजदूरों की गिरनी कामगार यूनियन (लाल बावटा) थी, जिसके मेम्बरों की संख्या १९२८ के शुरू में केवल ३२४ थी, मगर सरकार के लेबर गजट में प्रकाशित आंकड़ों के अनुसार, दिसम्बर १९२८ में ५४,००० और मार्च १९२९ तक ६५,००० हो गयी थी। इसी बीच बम्बई की पुरानी सूती मजदूर यूनियन, जो १९२६ में कायम हुई थी और जो ट्रेड यूनियन कांग्रेस के मंत्री श्री एन. एम. जोशी के सुधारवादी नेतृत्व में काम कर रही थी, और जिस पर सरकार तथा मिल मालिक दोनों का वरदहस्त था, जहां की तहां पड़ी रही। अक्तूबर १९२८ में उसके ८,४३६ मेम्बर थे, दिसम्बर १९२८ में केवल ६,७४९ रह गये। मजदूरों को कौन सी यूनियन पसन्द थी, यह बात बिलकुल साफ हो गयी। गिरनी कामगार यूनियन

की शक्ति इस बात में थी कि अलग-अलग मिलों में उसकी मिल-कमेटियां थीं और उनका मजदूरों के साथ बहुत नजदीक का सम्पर्क रहता था।

१६२८ में जो हड़तालें हुई उनमें ३ करोड़ १५ लाख काम के दिनों का नुकसान हुआ। पिछले पांच साल में कुल मिलाकर भी इतने दिन काम नहीं हुए थे। हालांकि इस आंदोलन का केन्द्र बम्बई के कपड़ा मिलों के मजदूर थे, मगर वैसे यह आन्दोलन समूचे देश में फैला हुआ था। १६२८ में जो २०३ औद्योगिक झगड़े हुए, उनमें से १११ बम्बई में हुए, ६० बंगाल में, ८ बिहार तथा उड़ीसा में, ७ मद्रास में और २ पंजाब में। उनमें से ११० झगड़े सूती और ऊनी कपड़े की मिलों में हुए थे, १६ जूट मिलों में, ११ इंजीनियरिंग कारखानों में, ६ रेलवे व रेलवे वर्कशापों में और १ कोयले की खानों में। सबसे शानदार बम्बई में कपड़ा-मिलों की हड़ताल रही जिसमें बम्बई के सारे के सारे कपड़ा मजदूरों ने, जिनकी संख्या १५०,००० होती थी, छः महीने तक संयुक्त होकर सरकार के हर तरह के दबाव और हिंसा का मुकाबला किया। हड़ताल शुरू हुई रैशनेलाइजेशन और साढ़े ७ प्रतिशत तनख्वाह कटौती के सवालों को लेकर, लेकिन बाद में और बहुत सी मांगें भी जुड़ गयीं। सुधारवादी नेताओं ने शुरू में हड़ताल का विरोध किया। श्री एन. एम. जोशी ने कहा कि हम लोगों की हैसियत "दर्शकों" की है। लेकिन बाद में ये नेता भी आन्दोलन में खिंच आये। जब हड़ताल तोड़ने की हरेक कोशिश नाकामयाब हो गयी, तो अन्त में सरकार ने फौसेट कमेटी तैनात करने का ऐलान किया। इस कमेटी ने यह कटौती वापस ले ली और मजदूरों की कुछ अन्य मांगों को भी पूरा कर दिया।

इस प्रकार, १६२६ के आरम्भ होते-होते एक नाजुक हालत पैदा हो गयी थी। मजदूर आन्दोलन आर्थिक और राजनीतिक दोनों क्षेत्रों में सबसे आगे-आगे चल रहा था। पुराने सुधारवादी नेता रास्ते से हटाये जा रहे थे। १६२७-२८ में ब्रिटिश ट्रेड यूनियन कांग्रेस का एक प्रतिनिधि-मंडल भारत आया। साम्राज्यवाद को उससे बड़ी आशाएं थीं। (लन्दन के टाइम्स ने १४ जून १६२८ को लिखा था कि "ब्रिटिश ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने भारत के मजदूरों की हालत में जो दिलचस्पी लेनी शुरू की है, वह बहुत फायदेमन्द साबित हो सकती है, यदि उससे भारत की मजदूर यूनियनों का संगठन सुधर जाय और कम्युनिस्ट उनसे निकाल दिये जायें।")। लेकिन सरकार की आशा पूरी नहीं हुई। प्रतिनिधि-मंडल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस का योरप की सुधारवादी ट्रेड यूनियन इंटरनेशनल से सम्बन्ध स्थापित कराने में असफल रहा। सरकार की घबराहट छिपी न रही। जनवरी १६२६ में लेजिस्लेटिव असेम्बली के सामने भाषण करते हुए वायसराय लार्ड इरविन ने कहा

कि "कम्युनिस्ट विचारधारा के प्रचार से बड़ी चिन्ता उत्पन्न हो रही है," और ऐलान किया कि सरकार इसे रोकने के उपाय करेगी। "१९२८-२९ में भारत" शीर्षक सालाना सरकारी रिपोर्ट में बताया गया है कि "कम्युनिस्टों के प्रचार और प्रभाव से, खास तौर पर कुछ बड़े-बड़े शहरों के औद्योगिक मजदूरों के बीच उनके प्रचार और प्रभाव से, अधिकारियों को बहुत चिन्ता हुई।" इंगलैंड के उदारपंथियों ने भी यही राग अलापा। अगस्त १९२९ में मैंचेस्टर गार्जियन ने लिखा: "पिछले दो वर्षों के अनुभव ने दिखा दिया है कि अच्छे-बुरे का कोई ख्याल न करने वाले कम्युनिस्टों के फन्दे में बड़े-बड़े केन्द्रों के औद्योगिक मजदूर बहुत जल्दी फंस जाते हैं।" भारत के राष्ट्रवादी अखबारों ने भी सुर में सुर मिलाया। मई १९२९ में बाम्बे क्रानिकल ने लिखा: "देश में आजकल समाजवाद का वातावरण है। कुछ महीनों से भारत में विभिन्न सभा-सम्मेलनों, और खास तौर पर किसानों और मजदूरों के सम्मेलनों द्वारा समाजवादी सिद्धान्तों का प्रचार हो रहा है।" सुधारवादी नेता अपने पैरों तले की जमीन खिसकते महसूस कर रहे थे। उन्होंने मांग की कि अब कम्युनिस्टों के खिलाफ कोई सख्त कारंवाई की जानी चाहिए। ट्रेड यूनियन कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति के अध्यक्ष श्री शिव राव ने मई १९२८ में ही कह दिया था कि "अब वक्त आ गया है जब भारत के ट्रेड यूनियन आंदोलन को अपने संगठन में से शरारती लोगों को निकाल देना चाहिए। यह चेतावनी देना इसलिए और भी आवश्यक हो जाता है क्योंकि कुछ लोग हड़ताल की गीता मजदूरों को पढ़ाते फिरते रहे हैं।"

१९२९ में सरकार ने अपनी कारंवाई शुरू की और बढ़ते हुए मजदूर आन्दोलन को रोकने में अपनी पूरी ताकत लगा दी। सितम्बर १९२८ में सरकार ने एक पब्लिक सेफ्टी (सार्वजनिक सुरक्षा) बिल असेम्बली में पेश किया था। उसका उद्देश्य सरकारी तौर पर "भारत में कम्युनिस्टों की कारंवाइयों को रोकना" बताया गया था। लेकिन लेजिस्लेटिव असेम्बली ने उसे पास नहीं किया। तब १९२९ के बसन्त में वायसराय ने एक विशेष आर्डिनेंस के रूप में उसे लागू कर दिया। फिर मजदूरों की हालत की जांच करने के लिए ह्विटले कमीशन नियुक्त किया गया। मजदूरों और मालिकों के झगड़ों को समझौते के द्वारा सुलझाने की व्यवस्था करने के लिए, दूसरों की हमदर्दी में हड़ताल करने पर बन्दिश लगाने के लिए, और सार्वजनिक आवश्यकता के धंधों में हड़ताल के अधिकार को सीमित करने के लिए एक ट्रेड डिस्प्यूट्स ऐक्ट (औद्योगिक झगड़ों का कानून) बनाया गया। बम्बई में दंगा जांच-समिति बैठायी गयी, जिसने सिफारिश की कि "बम्बई में कम्युनिस्टों की कारंवाइयों को रोकने के लिए सरकार को कोई सख्त कदम उठाना चाहिए।" इस समिति

ने यह सवाल भी उठाया कि ट्रेड यूनियन ऐक्ट में इस तरह का कोई संशोधन क्यों न किया जाय जिससे "रजिस्ट्री-शुदा ट्रेड यूनियनों में कम्युनिस्टों को कोई पद न मिलने पाये।"

५. मेरठ का मुकदमा

मार्च १६२६ में सरकार ने अपना मुख्य अस्त्र चलाया। सारे भारत में मजदूर आन्दोलन के खास-खास सक्रिय नेता पकड़ लिये गये और उन्हें मुकदमे के लिए औद्योगिक केन्द्रों से दूर मेरठ नामक एक छोटे से शहर में लाया गया। यह इतिहास के सबसे लम्बे और सबसे विशद सरकारी मुकदमों में गिना जाता है।

शुरू में इकतीस नेता पकड़े गये थे। बाद में एक आदमी और जुड़ गया। इन सबके नामों का यहां उल्लेख करना जरूरी है, क्योंकि आगे चलकर चाहे इन लोगों की भूमिका और कारंवाइयां कैसी भी क्यों न रही हों, इतिहास की दृष्टि से वे भारत के मजदूर आन्दोलन के जन्मदाता हैं और उनमें से बहुत से आज भी भारतीय मजदूर वर्ग के सबसे अच्छे नेताओं में गिने जाते हैं। इन लोगों के नाम इस प्रकार थे :

एस. ए. डांगे	जी. एम. अधिकारी
किशोरीलाल घोष	एम. ए. मजीद
डी. आर. ठेंगरी	आर. एस. निम्बकर
एस. वी. घाटे	विश्वनाथ मुकर्जी
के. एन. जोगलेकर	केदारनाथ सहगल
एस. एच. झाबवाला	राधारमन मैत्र
शौकत उस्मानी	धरनी गोस्वामी
मुजफ्फर अहमद	गौरीशंकर
फिलिप स्प्रैट	शिवनाथ बनर्जी
बी. एफ. ब्रैडले	शम्मुल हुदा
एस. एस. मिरजकर	गोपेन्द्र चक्रवर्ती
पी. सी. जोशी	सोहनसिंह जोश
ए. ए. आलवे	एम. जी. देसाई
जी. आर. कासले	अयोध्या प्रसाद
गोपाल बसक	लक्ष्मणराव कदम
धर्मवीर सिंह	

बत्तीसवें अभियुक्त, जो बाद में गिरफ्तार किये गये, लेस्टर हृचिसन नामक एक अंग्रेज थे, जिन्होंने गिरफ्तारियों के बाद न्यू स्पार्क पत्र के सम्पादन का भार संभाला था। इनको भी मुकदमे में शामिल कर लिया गया।

अभियुक्तों में तीन अंग्रेज थे। इंगलैंड के मजदूर आंदोलन के ये तीन प्रतिनिधि जब भारतीय मजदूरों के साथ अदालत के कटघरे में खड़े हुए और बाद में उनके साथ कैद काटने गये, तो दुनिया ने मजदूर वर्ग की अन्तर्राष्ट्रीय एकता का एक ऐसा ऐतिहासिक प्रदर्शन देखा, जिसने पुरानी दीवारों को तोड़ दिया और जो ब्रिटेन तथा भारत की जनता के भविष्य के भाईचारे के लिए एक बहुत ही महत्वपूर्ण मार्ग-चिह्न बन गया।

भारत के मजदूर आन्दोलन के बन्दी नेताओं ने जेल और अदालत में अपने व्यवहार से यह बात प्रमाणित कर दी कि भारत का मजदूर आंदोलन हालांकि अभी संगठन की प्रारम्भिक अवस्था में ही है, मगर फिर भी उसने इस बात की पूर्ण चेतना प्राप्त कर ली है कि उसे कैसी गौरवपूर्ण भूमिका अदा करनी है। अभियुक्तों ने अदालत में जो भाषण दिये वे भारतीय मजदूर आन्दोलन की सबसे अधिक मूल्यवान दस्तावेजों में गिने जाते हैं। उनमें एक नये भारत के दर्शन होते हैं।

इस मुकदमे में भारत के मजदूर आंदोलन की जो भूमिका रही, वह अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर आंदोलन की सर्वोत्तम परम्पराओं के अनुकूल थी। उससे उन लोगों को सदा प्रेरणा मिलती रहेगी जिनके कंधों पर अब भारत में सर्वहारा और समाजवाद के झंडे को लेकर आगे बढ़ने की जिम्मेदारी आ पड़ी है।

सरकार ने साढ़े तीन साल तक मुकदमे को खींचा। ये चार साल भारत के इतिहास में बहुत ही महत्वपूर्ण और नाजुक साल थे। इस अरसे में मजदूर वर्ग के सर्वोत्तम नेता जेलों में बंद रहे। सरकार भी यह बात मानती थी कि अभियुक्तों पर लगाये गये आरोपों को साबित करने के लिए वह उनके किसी काम का हवाला नहीं दे सकती थी। हाईकोर्ट के जज ने फैसले में कहा था :

> "यह बात स्वीकार की गयी है कि तथाकथित षड्यंत्र की उद्देश्य-सिद्धि के लिए कोई गैर-कानूनी काम करने का आरोप अभियुक्तों पर नहीं लगाया गया है।"

सरकारी वकील ने कहा था :

> "अभियुक्तों पर यह इलजाम नहीं लगाया गया है कि वे कम्युनिस्ट विचार रखते हैं। बल्कि, उन पर तो यह इलजाम लगाया गया है कि उन्होंने भारत में बादशाह के सर्वोच्च अधिकार को खतम करने के लिए

षड्यंत्र रचा है। मुकदमे के लिए यह साबित करना जरूरी नहीं है कि अभियुक्तों ने सचमुच कोई चीज की है। उसके लिए तो महज षड्यंत्र साबित कर देना ही काफी है।"

"षड्यंत्र" कहीं कुछ न था। अभियुक्त अपने समाजवादी सिद्धांतों की खुलेआम घोषणा और प्रचार करते थे। मजदूरों के संगठन का काम भी बिल्कुल खुला हुआ काम था। "मुजरिमाना बल प्रयोग" की कहीं कोई बात न थी। वे जो कुछ करते थे, वह था मजदूर आंदोलन का संगठन और उसका नेतृत्व।

असली आरोप अभियोग-पत्र से ही साफ हो गया। उसमें कहा गया था कि अभियुक्त "पूंजी और श्रम का विरोध बढ़ाते हैं," "मजदूर-किसान पार्टियां, यूथ लीग, और यूनियनें आदि बनाते हैं," और "हड़तालों को बढ़ावा देते हैं।" सबूत में जो गवाहियां पेश की गयीं, उनका भी पूरा जोर इन्हीं कामों पर, और खास तौर पर ट्रेड यूनियन के कामों पर था। एक अभियुक्त बंगाल के जूट मजदूरों की यूनियन का सचिव था। उसका जिक्र करते हुए सरकारी वकील ने कहा कि वह "षड्यंत्र में उस वक्त से शामिल हुआ जबकि उसने कलकत्ते के भंगियों की हड़ताल में भाग लिया।" इस मुकदमे के पीछे सरकार का सबसे बड़ा उद्देश्य क्या था, यह जज के शब्दों से प्रकट हो गया :

> "शायद इससे ज्यादा गंभीर बात यह है कि बम्बई के कपड़ा मजदूर इन लोगों के असर में आ गये हैं। इसका प्रमाण १६२८ की हड़ताल और गिरनी कामगार यूनियन की क्रांतिकारी नीति है।"

भारत के बढ़ते हुए मजदूर आन्दोलन को रोकने के लिए इस मुकदमे का वही महत्व था जो ब्रिटिश मजदूर आन्दोलन के इतिहास में सौ वर्ष पुराने डोरचेस्टर के मजदूरों के मुकदमे का था। और यह मुकदमा लेबर पार्टी की सरकार के रहते हुए चलाया गया था और लेबर सरकार ने उसकी "पूरी जिम्मेदारी" अपने ऊपर ली थी। (१६२६ में ब्राइटन में लेबर पार्टी का सम्मेलन हुआ था; उसमें डा. ड्रमंड शील्स ने कहा था : "हम पूरी जिम्मेदारी अपने ऊपर लेते हैं; भारत मंत्री पूरी शक्ति से भारत सरकार का समर्थन कर रहे हैं।") २५ जून १६२६ को डेली हेराल्ड ने कहा था : "कानून की मशीन को तो चलना ही चाहिए।" भारत की ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने मेरठ के मुकदमे के सिलसिले में ब्रिटेन की ट्रेड यूनियन कांग्रेस से अपील की थी। उसके जवाब में सर वाल्टर सिट्रीन ने १ अक्तूबर १६२६ को लिखा था : "मुकदमे की कार्रवाई जितनी जल्द हो सके, पूरी हो जानी चाहिए। अभियुक्तों पर जो जुर्म लगाया गया है, वह एक राजनीतिक जुर्म है। जनरल काउंसिल की राय में इस जुर्म से भारतीय ट्रेड यूनियन आन्दोलन का कोई प्रत्यक्ष सम्बंध नहीं है।"

बाद में, जब मुकदमा खत्म हो गया और लेबर पार्टी की सरकार नहीं रही, तब १६३३ में ट्रेड यूनियन कांग्रेस और लेबर पार्टी की संयुक्त राष्ट्रीय समिति ने एक पुस्तिका प्रकाशित की और उसमें कहा कि "शुरू से आखीर तक मुकदमे की पूरी कार्रवाई इस तरह चलायी गयी जिसका एक क्षण के लिए भी समर्थन नहीं किया जा सकता और जो कानून का गला घोंटने के समान थी।"

जनवरी १६३३ में बर्बर सजाएं सुना दी गयीं : मुजफ्फर अहमद को आजन्म कालापानी; डांगे, घाटे, जोगलेकर, निम्बकर और स्प्रैट को बारह साल का कालापानी; ब्रैडले, मिरजकर और उस्मानी को दस साल का कालापानी; और इसी तरह की और सजाएं दी गयी थीं। सबसे कम सजा ३ साल की थी। पर जब सारी दुनिया में इन सजाओं के खिलाफ आन्दोलन हुआ तो अपील में सजाएं काफी घटा दी गयीं।

६. मेरठ के बाद मजदूर आन्दोलन का पुनर्गठन

मेरठ की गिरफ्तारियों के बाद कुछ साल तक भारत के मजदूर आन्दोलन को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। हालांकि, जैसा कि हर ऐसी घटना का नतीजा होता है, मेरठ के मुकदमे ने भी आन्दोलन की भावी शक्ति और विजय के बीज बोये। मगर उस समय तो इन गिरफ्तारियों से आन्दोलन को सख्त धक्का ही लगा।

उस वक्त भारत का मजदूर वर्ग अपने विकास की प्रारम्भिक अवस्था में था। वह इस हालत में नहीं था कि जो नेता गिरफ्तार कर लिये गये थे, उनके अभाव को आसानी से पूरा कर लेता। ये अर्थ-संकट के वर्ष थे। इस काल में जो हड़तालें हुईं, उनमें बार-बार मजदूरों की करारी हार हुई। फिर राष्ट्रीय आन्दोलन का नाजुक जमाना आया। उसमें मजदूर वर्ग की राजनीतिक भूमिका कमजोर पड़ गयी—साम्राज्यवाद आखिर यही तो चाहता था।

ट्रेड यूनियन आन्दोलन को भी अनेक मुश्किलों का सामना करना पड़ा। पिछले दो वर्षों में संगठन के व्यावहारिक काम और अपनी बढ़ी हुई शक्ति के बल पर गरम दल ने ट्रेड यूनियन कांग्रेस के अन्दर जो संघर्ष आरम्भ किया था, वह आखिर १६२६ के अन्त में नागपुर अधिवेशन में सफल हुआ और ट्रेड यूनियन कांग्रेस में उसका बहुमत हो गया। पुराने सुधारवादी नेता अल्पमत में रह गये। उन्होंने बहुमत के जनवादी फैसले को मानने से इंकार कर दिया और ट्रेड यूनियन कांग्रेस में फूट डाल दी। सुधारवादी नेता अपने पीछे चलने वाली यूनियनों को लेकर ट्रेड यूनियन कांग्रेस से अलग हो गये और उन्होंने

अपना एक अलग ट्रेड यूनियन फेडरेशन बना लिया। सर्वश्री एन. एम. जोशी, शिव राव, गिरि, दीवान चमनलाल, आदि, के नाम से एक बयान प्रकाशित हुआ। उसमें कहा गया था : "अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस की कार्यकारिणी की कार्यवाही से यह बात बिलकुल साफ हो जाती है कि उसके अधिकतर सदस्य कांग्रेस को ऐसी नीति पर चलाना चाहते हैं जिससे हमारा कतई मतभेद है। हमें इस बात में सन्देह नहीं है कि कांग्रेस का बहुमत उसके साथ है। ऐसी परिस्थिति में हम कह देना चाहते हैं कि कार्यकारिणी के प्रस्तावों से हमारा कोई सम्बंध नहीं है और हम यह भी महसूस करते हैं कि कांग्रेस की कार्यवाही में अब आगे हिस्सा लेने से कोई फायदा न होगा।"

परन्तु अब जिन गरमदली नेताओं के हाथों में ट्रेड यूनियन कांग्रेस की बागडोर आ गयी थी, उनमें एकता या सहयोग नहीं था। उनमें तरह-तरह के लोग थे, और कुछ समय बाद मजदूर वर्ग की स्वतंत्र राजनीतिक भूमिका के प्रश्न पर ट्रेड यूनियन कांग्रेस में फिर फूट पड़ गयी। कम्युनिस्ट दल का मत था कि मजदूर वर्ग की राजनीतिक भूमिका स्वतंत्र होनी चाहिए। उसने अपनी अलग लाल ट्रेड यूनियन कांग्रेस बना ली।

इस दोहरी फूट से ट्रेड यूनियन आन्दोलन बहुत कमजोर हो गया। लेकिन मजदूर अलग-अलग हड़तालें करते रहे। वे न केवल आर्थिक मांगों के लिए, बल्कि ट्रेड यूनियन कार्यकर्ताओं को निकालने के खिलाफ भी लड़ते रहे। इस प्रकार उन्होंने संगठन के जनवादी अधिकार के लिए संघर्ष किया। १९२९ में १४१ हड़तालें हुई थीं। १९३० में १४८ हड़तालें हुईं और १९३१ में १६६। हर साल १ लाख से ज्यादा मजदूरों ने हड़ताल में भाग लिया। इन संघर्षों का नेतृत्व लाल ट्रेड यूनियन कांग्रेस के कम्युनिस्ट कार्यकर्त्ताओं ने किया। १९३३ तक सरकार को खिसियाकर यह मानना पड़ा कि मेरठ के बन्दी नेता हालांकि अब भी जेल में हैं फिर भी कम्युनिस्ट "खतरा बना हुआ है और पहले से बढ़ गया है।" (भारत, १९३२-३३)

इन अलग-अलग हड़तालों से १९३४ की बड़ी लहर के लिए आधार तैयार हो गया। यह बड़ी लड़ाई मिल मालिकों की "रैशनेलाइजेशन" योजना के खिलाफ लड़ी गयी, जो वास्तव में काम की तीव्रता को बढ़ाने और मजदूरों का और कसकर शोषण करने की योजना थी। हड़तालों की इस लहर की तेजी व फैलाव का पता इससे लगता है कि १९३३ में जहां १४६ हड़तालें हुई थीं, और उनमें सिर्फ १६४,९३८ मजदूरों ने भाग लिया था और कुल २,१६८,९६१ काम के दिन जाम हुए थे, वहां १९३४ में १५९ हड़तालें हुई और उनमें २२०,८०८ मजदूरों ने भाग लिया और ४,७७५,५५९ काम के दिन जाम हुए। यानी, १९३४ में १९३३ के मुकाबले दुगने काम के दिन जाम हुए। भयानक

दमन के बावजूद कपड़ा मजदूरों की आम हड़ताल बम्बई में अप्रैल से जून तक चली और शोलापुर में फरवरी से मई तक। यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि मजदूर वर्ग ने अपनी बिखरी हुई शक्ति को फिर से बटोर लिया था, अपनी एकता कायम कर ली थी, और लड़ाकू नेताओं की एक नयी पीढ़ी को जन्म दिया था।

सरकार ने फिर वार किया। एक संकट-कालीन अधिकार-आर्डिनेंस जारी कर दिया गया और कम्युनिस्ट नेता तथा ट्रेड यूनियन नेताओं को बिना मुकदमा पकड़कर नजरबन्द कर दिया गया। कम्युनिस्ट पार्टी गैर-कानूनी करार दे दी गयी। एक दर्जन से ज्यादा रजिस्ट्री-शुदा ट्रेड यूनियनों को भी गैर-कानूनी करार दे दिया गया। यंग वर्कर्स लीग (नौजवान मजदूर सभा) पर रोक लगा दी गयी। मजदूर वर्ग के लड़ाकू तथा क्रांतिकारी संगठन को कुचलने के लिए बन्दूकों का इस्तेमाल किया गया।

इस जबर्दस्त संघर्ष का नतीजा यह हुआ कि मजदूर संगठनों में फिर से एकता कायम करने का विचार पैदा हुआ। १९३५ में दोनों ही ट्रेड यूनियनें फिर से एक हो गयीं, और अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष एस. एच. झाबवाला ने मई १९३६ में बम्बई में हुए पंद्रहवें अधिवेशन के सामने अपने भाषण में कहा :

> "मैं बिना किसी अतिशयोक्ति के डर के अपने व्यक्तिगत अनुभव से कह सकता हूं कि कम्युनिस्टों के साथ काम करके मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है और उनमें मुझे मजदूरों के रोजमर्रा के हितों तथा एकता के लिए सबसे डटकर लड़ने वाले कुछ लोग मिले हैं।"

इस अधिवेशन के मंच से राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन फेडरेशन के सुधारवादी नेताओं से अपील की गयी कि उन्हें मजदूरों के केन्द्रीय नेतृत्व में एकता स्थापित करने के लिए रजामन्द हो जाना चाहिए, क्योंकि मालिकों और सरकार ने मजदूरों पर जो हमला शुरू किया है, उसे "मजदूर वर्ग का एक देशव्यापी जवाबी हमला ही रोक सकता है।" ट्रेड यूनियन फेडरेशन नेताओं को विश्वास दिलाया गया कि एकता के लिए उनकी तमाम शर्तें मान ली जायेंगी, बशर्ते कि वे दो बुनियादी सिद्धांत स्वीकार कर लें। एक यह सिद्धांत कि ट्रेड यूनियन आन्दोलन का आधार वर्ग-संघर्ष है, और दूसरा यह कि ट्रेड यूनियनों के अन्दर जनवाद होना चाहिए। फेडरेशन के नेताओं ने तुरन्त संगठनात्मक एकता हो जाने का विरोध किया। इसलिए १९३६ में एक संयुक्त बोर्ड बनाया गया और १९३८ में ही नागपुर अधिवेशन के समय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन फेडरेशन, अखिल

भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस में शामिल हुआ। कांग्रेस की प्रबंध समिति में दोनों हिस्सों को बराबर-बराबर प्रतिनिधित्व दिया गया। एक बार फिर ट्रेड यूनियन कांग्रेस भारत के पूरे ट्रेड यूनियन आन्दोलन को एकजुट करने वाला संगठन बन गयी। केवल अहमदाबाद का लेबर एसोसियेशन (मजूर-महाजन) उसके बाहर रहा, जो गांधीवादी प्रेरणा से चल रहा था।

राजनीतिक क्षेत्र में भी नयी घटनाएं हुईं। मेरठ के बाद मजदूर-किसान पार्टियां तस्वीर से गायब हो गयीं। इन पार्टियों का दो-वर्गी रूप था; वे विकास की एक परिवर्तन कालीन अवस्था में तो कुछ काम दे सकती थीं, मगर वे मजदूर वर्ग के राजनीतिक संगठन का कोई पक्का आधार नहीं बन सकती थीं। हालांकि, कम्युनिस्ट पार्टी १६३४ में गैर-कानूनी करार दे दी गयी थी, मगर फिर भी इस तरह की कार्रवाइयों से समाजवादी और कम्युनिस्ट प्रभाव का बढ़ना और मार्क्सवादी विचारों का प्रचार नहीं रुका था। १६३०-३४ का सविनय अवज्ञा आन्दोलन बन्द हो जाने के बाद इन विचारों को नया बल मिला, क्योंकि बहुत से युवा राष्ट्रवादी उस संघर्ष से सबक सीखने लगे।

१६३४ में वामपंथी राष्ट्रवादी युवकों के एक दल ने कांग्रेस समाजवादी पार्टी बनायी। यह दल इस काल में आंशिक रूप से मार्क्सवादी विचारों के प्रभाव में आ गया था। कांग्रेस समाजवादी पार्टी की विशेषता यह थी कि उसके सदस्य केवल वे ही लोग हो सकते थे, जो कांग्रेस के मेम्बर थे। इस प्रकार यह पार्टी कांग्रेस का एक अंग थी और साधारण लोगों को बड़ी संख्या में उसका मेम्बर बनने के लिए प्रोत्साहित नहीं किया जाता था। पार्टी के संस्थापकों में कुछ प्रगतिशील लोग भी थे। मगर उनके इरादे चाहे जो कुछ रहे हों, पार्टी का कार्यक्रम और विधान ऐसा था जिसमें मजदूर आन्दोलन लाजमी तौर पर कांग्रेस के तत्कालीन नेताओं के नियंत्रण और अनुशासन के आधीन हो जाता था और उसकी स्वतंत्रता खत्म हो जाती थी; और व्यवहार में इसका मतलब यह था कि मजदूर आन्दोलन पूंजीपति वर्ग के आधीन हो जाता था। कांग्रेस समाजवादी पार्टी की यह असंगति उसके जन्म से ही उसमें पैदा हो गयी थी और उसका सम्पूर्ण इतिहास इसका प्रमाण है। मजदूरों के संघर्ष के हर नाजुक अवसर पर कांग्रेस समाजवादी पार्टी की भूमिका से यह असंगति प्रकट हुई। यह विरोध इस बात में भी प्रकट हुआ कि पार्टी के वामपक्ष और दक्षिण पक्ष के बीच बराबर संघर्ष चलता रहा। वामपक्ष कम्युनिस्ट पार्टी और मजदूर वर्ग के तत्वों से सहयोग करना चाहता था; और प्रतिक्रियावादी दक्षिणपक्ष, जिसका कांग्रेस समाजवादी पार्टी में जोर था, कम्युनिस्ट पार्टी का तथा मजदूर वर्ग की हर प्रकार की स्वतंत्र कार्रवाई का विरोधी था।

७. दूसरे महायुद्ध के पहले का उभार

चुनाव में कांग्रेस की जीत तथा प्रान्तों में कांग्रेसी मंत्रीमंडलों के कायम होने के साथ-साथ ट्रेड यूनियनों के काम में एक नया उभार आया, जिसके परिणाम स्वरूप १९३७-३८ में हड़तालों की एक बड़ी लहर देश में उठी। युद्ध-सामग्री तैयार करने के लिए पूंजीवादी देशों में जो होड़ लगी थी, उसकी वजह से पूंजीवाद में अस्थायी रूप से फिर थोड़ी जान पड़ गयी थी और इसके परिणाम-स्वरूप सारी दुनिया में हड़तालों की एक बड़ी लहर आयी थी। भारत की ये हड़तालें उस संसारव्यापी लहर की ही एक अंग थी।

ट्रेड यूनियन आन्दोलन बड़ी तेजी से फैला। अनेक नयी यूनियनें बनीं। यहां तक कि मौसमी कारखानों और असंगठित उद्योगों के मजदूर भी आन्दोलन में खिंच आये। १९२८ में रजिस्टरी-शुदा यूनियनों की संख्या केवल २९ थी; १९२९ में वह ७५ हो गयी, और १९३४ में १९१। लेकिन १९३८ तक वह संख्या २९६ पर पहुंच गयी, और यूनियनों के सदस्यों की संख्या २६१,००० हो गयी। वास्तव में, ये ट्रेड यूनियन संगठन मजदूरो की इससे बहुत बड़ी संख्या को मैदान में उतार सकते थे।

१९३७ में हड़तालों की संख्या ३७९ पर पहुंच गयी। १९२१ के बाद से अभी तक किसी वर्ष इतनी हड़तालें नहीं हुई थीं, और १९२१ में भी इससे केवल १७ हड़तालें ज्यादा हुई थी। इन हड़तालों में ६४७,८०१ मजदूरों ने हिस्सा लिया। इससे अधिक संख्या में मजदूरों ने हड़तालों में कभी हिस्सा नहीं लिया था। और उस वक्त ट्रेड यूनियनों के जितने सदस्य थे, उनसे तो यह संख्या तिगुनी थी। इन हड़तालों में कुल मिलाकर ८,९८२,००० काम के दिन जाम हुए। १९२९ के बाद से कभी इतने दिन हड़तालों में नहीं जाम हुए थे।

पैंतालीस प्रतिशत हड़तालों में मजदूर अनेक सुविधाएं हासिल करने में कामयाब हुए।

सबसे जबर्दस्त बंगाल की जूट हड़ताल रही। भयानक दमन के बावजूद वह बहुत जल्द पूरे जूट उद्योग की आम हड़ताल बन गयी और उसमें २२५,००० मजदूर खिंच आये। जूट मिलों में काम करने वाले मजदूरों में १९२९ की उस मन्दी के जमाने से ही असंतोष बढ़ रहा था, जब १३०,००० मजदूर काम से निकाल दिये गये थे, मजदूरी में कटौती की गयी थी और "रैशनेलाइजेशन" के नाम पर काम की तीव्रता को हद से ज्यादा बढ़ा दिया गया था तथा मजदूरों का कसकर शोषण किया जाने लगा था। १९३१ और १९३६ के बीच जूट मिलों में करघों की संख्या केवल १३ प्रतिशत बढ़ी, मगर जूट की पैदावार में ६५ प्रतिशत की बढ़ती हो गयी। बंगाल की जूट मिलों के मालिकों में से

एक सर एलेक्जेंडर मरे हैं। उन्होंने कहा था : "जब दुनिया भर में मंदी आयी, तब भी हम काफी मुनाफा कमाने में कामयाब हुए।" १९३६ से जूट उद्योग के फिर से चेतने का काल शुरू हुआ था। फरवरी में मजदूरों ने अपनी तनख्वाओं की कटौती रद्द कराने और पर्याप्त मजदूरी पाने के लिए हड़ताल शुरू कर दी। वह मई तक चली। फजलुल हक के प्रतिगामी मंत्रिमंडल ने उसे कुचलने के लिए हर तरह की कार्रवाई की। उसकी दलील यह थी कि इस हड़ताल का कोई आर्थिक आधार नहीं है, और "कम्युनिस्ट नेता भारत में क्रांति का रास्ता साफ करने के लिए उसका इस्तेमाल कर रहे हैं।" लेकिन मजदूरों ने अपनी एकता कायम रखी और वे अपनी मांगों पर डटे रहे। वे बंगाल प्रांतीय कांग्रेस कमेटी का समर्थन प्राप्त करने में सफल हुए। उसने जनता से मजदूरों के हड़ताल फंड में पैसा देने की अपील की। अन्त में, मजदूरों की यूनियन को मान्यता मिल गयी और मालिकों को कटौती रद्द करने का सिद्धांत मान लेना पड़ा।

हड़तालों की इस लहर की एक खास विशेषता यह थी कि वर्ग शान्ति के गांधीवादी सिद्धांत के आधार पर चलायी जाने वाली यूनियनों का मुख्य केन्द्र अहमदाबाद भी इस लहर की लपेट में आ गया था। यहां हड़ताल होने पर बम्बई प्रान्त की कांग्रेसी सरकार ने ताजीरात हिन्द की घृणित दफा १४४ लागू कर दी और पांच या उससे अधिक आदमियों के एक जगह जमा होने पर रोक लगा दी। ध्यान रहे कि कांग्रेस सदा इस दफा का विरोध करती आयी थी।

हड़तालों की यह लहर अपने शिखर पर उस वक्त पहुंची, जब १९३७ के आरम्भ में कानपुर की कपड़ा मिलों में हड़ताल शुरू हुई। यह हड़ताल भी जल्द ही आम हड़ताल में बदल गयी और उसमें ४०,००० कपड़ा मजदूर शामिल हो गये। माचिस फैक्टरी, आयरन फाउंड्री और बर्मा-शेल डिपो जैसे कुछ दूसरे उद्योगों के मजदूरों ने भी उनका साथ दिया। कांग्रेस सरकार ने मजदूरों की हालत की जांच करने के लिए एक जांच समिति नियुक्त कर दी। उसकी सिफारिशों को मजदूरों ने मान लिया, लेकिन मालिकों ने नहीं माना, और १९३८ में जांच समिति की सिफारिशों को मालिकों से मनवाने के लिए एक आम हड़ताल शुरू की गयी। इस हड़ताल में कांग्रेस और मजदूरों की आदर्श एकता स्थापित हुई। उत्तर प्रदेश की प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी ने एक प्रस्ताव में घोषणा की : "कानपुर के मजदूर केवल अपने लिए ही नहीं, बल्कि भारत के पूरे मजदूर वर्ग के लिए लड़ रहे हैं...(और) मानव अधिकारों के लिए संघर्ष कर रहे हैं।" इस प्रस्ताव में जनता से अपील की गयी थी कि "मजदूरों ने जो महान संघर्ष आरम्भ किया है, उसमें जनता को हर प्रकार की सहायता देनी चाहिए।" मालिकों के दलालों ने साम्प्रदायिक दंगे कराने की

कोशिश की, मगर हिन्दू और मुसलमान मजदूरों ने मिलकर उनकी साजिशों को नाकाम बनाया; और अन्त में पचपन दिन के संघर्ष के बाद मजदूरों की शानदार जीत हुई जिसमें उनकी अन्य मांगें पूरी होने के अलावा, उनकी मजदूर सभा को भी मान्यता मिल गयी।

नवम्बर १९३८ में बम्बई के ९०,००० से ज्यादा मजदूरों ने खतरनाक ट्रेड डिस्प्यूट बिल के विरोध में हड़ताल की (इस बिल में मजदूरों के ऊपर एक समझौते की मशीन लाद दी गयी थी, जिससे हर मामले में चार महीने के लिए हड़ताल का अधिकार छिन जाता था; और मजदूर यूनियनों की रजिस्टरी के लिए ऐसे कायदे-कानून बनाये गये थे जिनसे मालिकों की दलाल यूनियनों को फायदा पहुंचता था)। इस हड़ताल का संयुक्त ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने पूरा समर्थन किया और उसके द्वारा मजदूर वर्ग ने अपनी बढ़ी हुई चेतना का प्रदर्शन किया तथा बम्बई की कांग्रेस सरकार को यह चेतावनी दी कि यदि उसने ट्रेड यूनियन अधिकारों के विषय में चुनाव के वायदों को पूरा नहीं किया, तो उसके लिए अच्छा न होगा।

रेलवे मजदूरों के संगठन पर सुधारवादी नेताशाही लदी हुई थी; इसके बावजूद वहां भी आन्दोलन में नयी जान पड़ती दिखायी दी। बंगाल-नागपुर रेलवे के ४०,००० मजदूरों की हड़ताल एक महीने तक चली और उसे कांग्रेस के फैजपुर अधिवेशन का समर्थन प्राप्त हुआ। इस बीच रेलवे पर काम करने वाले १७ प्रतिशत मजदूरों की छंटनी कर दी गयी थी; तनख्वाहों में कटौती हो गयी थी; और रेलवे कम्पनियों के मुनाफे बढ़ाने के लिए मजदूरों से इतना कसकर काम लिया जाने लगा था कि दुर्घटनाओं की संख्या में ५० प्रतिशत की बढ़ती हो गयी थी। लेकिन अखिल भारतीय रेलवेमेन्स फेडरेशन सुधारवादी नेताओं के हाथों में था और इन तमाम बातों को बैठा-बैठा देख रहा था। फिर भी ट्रेड यूनियन आन्दोलन में इस काल में जो नयी जान पड़ी, उसने जी.आई.पी. रेलवे की सुधारवादी तथा लाल झंडा यूनियनों को मिलाकर एक कर दिया तथा मिली-जुली यूनियन की सदस्य-संख्या २०,००० से भी आगे निकल गयी। बी. बी. एंड सी.आई., एम. एंड एस.एम. और साउथ इंडियन रेलवे पर भी यही बात देखने में आयी। लड़ाकू ट्रेड यूनियन आन्दोलन के बढ़ते हुए खतरे का मुकाबला करने के लिए रेलवे अधिकारियों ने क्या-क्या दांवपेंच चले, इसकी एक मिसाल यह है कि उन्होंने बी.बी.एंड सी.आई. रेलवे की सुधारवादी यूनियन से कहा कि "जब तक श्री जमनादास मेहता का उस यूनियन से सम्बंध रहेगा और जब तक कम्युनिस्टों को उससे बाहर रखा जायगा," तब तक उसे रेलवे से मान्यता मिली रहेगी। लेकिन अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस और नेशनल फेडरेशन आफ ट्रेड यूनियन चूंकि मिलकर एक हो गये, और चूंकि रेलवे मजदूरों

मे एक ही लाइन पर काम करने वाली अलग-अलग यूनियनों को मिलाकर एक करने की जबर्दस्त इच्छा काम कर रही थी, इसलिए फूट डालने की इस तरह की चालें चल नहीं पायीं।

३० अक्तूबर १९३८ को ट्रेड यूनियन कांग्रेस की वर्षगांठ थी। उस रोज उसकी सदस्य संख्या ३२५,००० थी। मजदूर वर्ग साम्राज्यवादी कुकर्मों के विरोध में और राष्ट्रीय मांगों के समर्थन में जबर्दस्त राजनीतिक प्रदर्शन और हड़तालें करने लगा था। साम्राज्यवादी दमन का वह दिन-रात डटकर मुकाबला कर रहा था। इसलिए सभी लोग यह समझने लगे थे कि वह साम्राज्यवाद विरोधी शक्तियों का एक मजबूत और संगठित अंग है।

इन सब घटनाओं के साथ और उनके कारण राष्ट्रीय आन्दोलन के अन्दर मजदूर आन्दोलन की राजनीतिक भूमिका और प्रभाव महसूस होने लगा था। कम्युनिस्ट पार्टी पर लगी रोक को हटवाने के लिए उग्रवादी कांग्रेसजनों के नेतृत्व में एक व्यापक आन्दोलन चला जिसका अनेक ट्रेड यूनियनों ने समर्थन किया। कांग्रेसी मंत्रिमंडलों के बन जाने पर देश को पहले से अधिक नागरिक स्वतंत्रता मिली थी। उससे यह सम्भव हुआ कि कम्युनिस्ट पार्टी पर कानूनी रोक लगी रहने के बावजूद वह **नेशनल फ्रंट** नामक अपना अंग्रेजी और **क्रांति** नामक मराठी साप्ताहिक पत्र बम्बई से निकालने लगी। बम्बई के अधिकतर मजदूरों की भाषा मराठी है। इन पत्रों से साम्राज्यवाद के खिलाफ तथा फासिज्म के बढ़ते हुए खतरे के खिलाफ संयुक्त राष्ट्रीय मोर्चा बनाने के विचार का प्रचार करने में बहुत मदद मिली। ये अखबार मजदूरों, किसानों तथा रियासती प्रजा के संघर्षों का जनता के हर हिस्से में प्रचार करते थे और उनके लिए जनता का समर्थन प्राप्त करने की कोशिश करते थे। कम्युनिस्ट विभिन्न कांग्रेस कमेटियों के महत्वपूर्ण पदों पर चुन लिये गये। कांग्रेस की सबसे ऊंची चुनी हुई समिति, अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में २० कम्युनिस्ट थे। कांग्रेस के दक्षिणपंथी नेताओं की समझौतावादी नीति से लड़ने के लिए कम्युनिस्टों तथा कांग्रेस समाजवादियों के बीच वामपक्षी एकता स्थापित करने की बार-बार कोशिश की गयी; मगर कांग्रेस समाजवादी पार्टी के नेतृत्व के प्रतिक्रियावादी हिस्से ने इन कोशिशों का जबर्दस्त विरोध किया, जिससे इस काम में केवल सीमित सफलता ही मिल पायी।

८. दूसरे महायुद्ध के काल में मजदूर वर्ग

सितम्बर १९३९ में दूसरा महायुद्ध छिड़ जाने पर भारत के राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन तथा भारतीय मजदूर वर्ग के इतिहास मे एक निर्णायक अध्याय का श्रीगणेश हुआ।

राष्ट्रीय आन्दोलन के नेतागण जबकि अभी टालमटोल करने में ही लगे हुए थे, सबसे पहले मजदूर वर्ग ने साम्राज्यवादी युद्ध के खिलाफ लड़ाई का बिगुल बजाया। २ अक्तूबर १६३६ को साम्राज्यवादी युद्ध के विरोध में बम्बई के ६०,००० मजदूरों ने हड़ताल की। यह दुनिया की पहली युद्ध-विरोधी मजदूर हड़ताल थी। मजदूर वर्ग, जो अभी तक भारत की साम्राज्यवाद-विरोधी शक्तियों का एक मजबूत और संगठित अंग था, अब इन शक्तियों के अग्रदल के रूप में सामने आ रहा था।

लड़ाई के कारण रहन-सहन का खर्चा बहुत बढ़ गया लेकिन मजूरी में उतनी बढ़ती नहीं हुई। भारत सरकार के सलाहकार डा. टी. ई. ग्रेगरी ने भी यह बात मानी जब उन्होंने कहा कि यदि सितम्बर १६३६ के दामों को १०० मान लिया जाय, तो दिसम्बर तक "प्राथमिक चीजों के दामों का सूचक अंक १३७ तक पहुंच गया था।"

युद्ध के इस भयानक आर्थिक बोझे के खिलाफ मजदूर वर्ग ने ५ मार्च १६४० को तब संघर्ष का श्रीगणेश किया, जब कि बम्बई के १७५,००० कपड़ा मजदूरों ने मंहगाई भत्ता पाने के लिए हड़ताल शुरू की। हड़ताल मुकम्मिल थी और नेताओं की आम गिरफ्तारी तथा पुलिस के भयानक दमन के बावजूद, जो मजदूरों के घरों में घुस-घुसकर उनको पीटती फिरती थी, हड़ताल ४० दिनों तक चली। ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने हड़ताली कपड़ा मजदूरों के समर्थन में १० मार्च को आम हड़ताल करने की अपील की। इस हड़ताल में सभी उद्योगों के साढ़े तीन लाख मजदूरों ने भाग लेकर अपने भाईचारे का प्रदर्शन किया।

बम्बई की इस हड़ताल ने सारे देश में हड़तालों का तांता शुरू कर दिया। कानपुर में २०,००० कपड़ा मजदूरों ने हड़ताल की; कलकत्ते में २०,००० म्युनिसिपल मजदूरों ने, बंगाल और बिहार में जूट मजदूरों ने, असम में डिग-बोई की तेल की खानों में काम करने वाले मजदूरों ने, धनबाद और झरिया में कोयला खानों में काम करने वाले मजदूरों ने जमशेदपुर में लोहे और इस्पात के कारखानों के मजदूरों ने हड़ताल की। और भी बहुत से उद्योगों में मजदूरों ने मंहगाई भत्ता पाने के लिए हड़तालें कीं। यह बात साफ थी कि पूरा मजदूर आन्दोलन इस मांग के लिए लड़ रहा था।

सरकार ने एक बार फिर हमला किया। नेशनल फ्रंट तथा क्रान्ति पर रोक लगा दी गयी। भारत रक्षा आर्डिनेंस के दमनकारी कानून जारी कर दिये गये। देश भर में कम्युनिस्ट तथा अन्य वामपंथी कार्यकर्ताओं को चुन-चुनकर पकड़ लिया गया। और जनवरी १६४१ में सरकार के गृह-सदस्य रेजिनेल्ड मैक्सवेल ने ऐलान किया कि इस समय ७०० आदमी जेलों में बिना मुकदमा नजरबन्द हैं और "उनमें से लगभग ४८० व्यक्ति बिना किसी अपवाद के या

तो जाने-माने कम्युनिस्ट हैं या हिंसक जन-क्रांति के कम्युनिस्ट कार्यक्रम के सक्रिय समर्थक हैं।" इनके अलावा ६,४३६ व्यक्तियों को विभिन्न दफाओं में सजा हो चुकी थी और १,६६४ के आने-जाने पर बन्दिशें लगा दी गयी थीं; या उन्हें कुछ खास इलाकों से निर्वासित कर दिया गया था, या कुछ खास स्थानों में नजरबन्द कर दिया गया था।

एक तरफ सरकार कम्युनिस्ट पार्टी पर हमला कर रही थी। दूसरी तरफ कांग्रेस समाजवादी पार्टी के नेताओं ने भी कम्युनिस्टों के खिलाफ जिहाद छेड़ रखा था और अपनी पार्टी के तमाम ऐसे सदस्यों को निकाल बाहर किया था जिन पर कम्युनिस्ट होने का या कम्युनिज्म से सहानुभूति रखने का शक था। निकालने के लिए दलील यह दी गयी कि ये लोग अहिंसा का गांधीवादी सिद्धान्त नहीं मानते। "कुछ गैर-जिम्मेदार लोग हैं...जो बिना सोचे समझे हिंसा की भावना को बढ़ावा देते हैं...लेकिन गांधी जी जानते थे कि हम सदा शान्तिपूर्ण एवं सुव्यवस्थित जन-संघर्ष पर जोर देते थे।" (कांग्रेस समाजवादी पार्टी के सदस्यों के नाम पार्टी के प्रधान मंत्री जयप्रकाश नारायण का गश्ती पत्र)। इस काल में कांग्रेस समाजवादी पार्टी के अधिकतर जुझारू सदस्य उसे छोड़कर गैर-कानूनी कम्युनिस्ट पार्टी में शामिल हो गये, क्योंकि उनमें समाजवादी पार्टी के इन नेताओं के खिलाफ घोर असंतोष था, जिन्होंने इस प्रकार वर्ग-संघर्ष का आधार त्याग दिया था और अहिंसा के गांधीवादी सिद्धान्त के सामने आत्मसमर्पण कर दिया था। कांग्रेस समाजवादी पार्टी मुख्यतया केवल नेताओं की पार्टी रह गयी जिनके पास न तो कोई जन- संगठन था और न ही जिनका मजदूर वर्ग में कोई वास्तविक आधार था।

सरकार का हमला कम्युनिस्ट पार्टी का संगठन तोड़ने या उसकी सक्रिय भूमिका को खत्म कर देने में कामयाब नहीं हुआ। पार्टी के लगभग सभी नेता पकड़ लिये गये, फिर भी वह काम करती रही; चन्द नेता पुलिस की आखों में धूल झोंककर काम करते रहे और कानूनी जन आन्दोलन के साथ-साथ गैर-कानूनी क्रान्तिकारी प्रचार भी होता रहा। संख्या में पार्टी छोटी थी और उसे तरह-तरह की भयंकर कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था, इसलिए वह घटनाओं की दिशा को तो न बदल सकी; लेकिन इसमें किसी को शक न रहा कि कम्युनिस्ट पार्टी मजदूर वर्ग की सबसे प्रभावशाली पार्टी है और भारतीय राजनीति में वह एक प्रमुख शक्ति बन गयी है।

इसके साथ-साथ, मजदूर वर्ग के देश भर में मिलकर लड़ने का परिणाम यह हुआ कि केन्द्रीय ट्रेड यूनियन संगठनों में पूर्ण एकता कायम हो गयी। नेशनल फेडरेशन आफ ट्रेड यूनियन्स पूरी तरह अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस से मिल गयी; मगर मिलने से पहले उसने विधान में यह परिवर्तन करा

लिया कि "सभी राजनीतिक सवाल, हड़तालों के प्रश्न और किसी विदेशी संगठन से सम्बंध कायम करने का सवाल तीन-चौथाई बहुमत से तय किये जायेंगे।" उग्रवादी ट्रेड यूनियन कार्यकर्ताओं ने एकता के हित में यह धारा मान ली, हालांकि आने वाले जमाने में वे इस धारा की वजह से मजदूरों को स्पष्ट राजनीतिक नेतृत्व नहीं दे सके।

इस बन्दिश से जो खराबियां पैदा हुई, वे लड़ाई के बढ़ने पर तब सामने आयीं जब सोवियत संघ पर नाजियों ने आक्रमण कर दिया, जापान ने युद्ध में प्रवेश किया और पूरे दक्षिण पूर्वी एशिया को रौंद डाला, संयुक्त राष्ट्रों का मोर्चा कायम हो गया और भारत के सामने जापानी हमले का खतरा बढ़ने लगा; और इन सब बातों के कारण कुछ नयी समस्याएं सामने आयीं।

अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस का कानपुर अधिवेशन फरवरी १९४२ में हुआ। इस बीच मजदूरों की हालत बहुत खराब हो गयी थी। जापानी फौजें मलाया और बर्मा को रौंदने के बाद भारत की तरफ बढ़ रही थीं।

लेकिन ट्रेड यूनियन आन्दोलन का केन्द्रीय नेतृत्व मजदूरों को कोई स्पष्ट एवं संयुक्त नेतृत्व न दे सका। बहुमत ने कम्युनिस्टों के प्रस्ताव का समर्थन किया जिसमें देश की रक्षा हेतु युद्ध का बिना शर्त समर्थन करने के लिए कहा गया था और मजदूरों से अपील की गयी थी कि देश की रक्षा के काम को कारगर बनाने के वास्ते उन्हें राष्ट्रीय मांगों के लिए लड़ना चाहिए। इस प्रस्ताव का बहुमत ने समर्थन किया, मगर उसे विधान की धारा के अनुसार तीन-चौथाई वोट नहीं मिले। चुनांचे ट्रेड यूनियन आन्दोलन में काम करने वाले हर राजनीतिक दल को छूट मिल गयी कि वह अपनी मनचाही नीति का प्रचार करे।

१९४२-४५ का काल मजदूर वर्ग तथा पूरे देश के लिए कठिन परीक्षा का काल था। सरकार युद्ध का खर्च निकालने के लिए अंधाधुंध नोट छाप रही थी। जीवन के लिए आवश्यक वस्तुएं चोरबाजार करने वाले नफाखोरों के चोर-गोदामों में पहुंच गयी थीं। रहन-सहन का खर्चा २०० प्रतिशत बढ़ गया था। ऊपर से सरकार ने राष्ट्रीय नेताओं को गिरफ्तार कर लिया और सारे देश में बहुत ही बेरहमी से दमन-चक्र चलाया। सरकार की नीति से सारा देश क्रोध से पागल हो उठा। ये तमाम बातें ऐसी थीं जिनमें से कोई एक अकेले भी होती तो पूरे मजदूर वर्ग से हड़ताल करा देने के लिए काफी थी। लेकिन मजदूर वर्ग तथा उसका नेतृत्व करने वाली कम्युनिस्ट पार्टी की स्वस्थ वर्ग भावना और प्रगतिशील अन्तर्राष्ट्रीय चेतना का प्रमाण यह है कि उन्होंने बदली हुई परिस्थिति को समझा। उन्होंने यह पहचाना कि जर्मनी, इटली तथा जापान के फासिस्ट त्रिगुट के आक्रमण का मुकाबला करने के लिए, फासिस्ट तख्ते को

उलटकर जनता को आजाद करने के लिए जो युद्ध चल रहा है और जिसमें सोवियत तथा चीन की जनता भाग ले रही है, उसने एक नयी परिस्थिति पैदा कर दी है। और यह सब समझकर मजदूरों ने हड़तालें करना शुरू कर दिया, हालांकि उनको उकसाकर या घूस देकर हड़ताल कराने की अनेक कोशिशें की गयीं। यह बात भी महत्व से खाली नहीं है कि इस काल में बड़ी हड़तालें केवल दो हुई—एक अहमदाबाद में जो गांधीवादी ट्रेड यूनियन आन्दोलन का गढ़ था, और दूसरी जमशेदपुर के लोहे और इस्पात कारखानों में। और इन हड़तालों का जितना श्रेय मजदूरों को था कम से कम उतना ही मालिकों को था।

इस काल में, कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में मजदूर वर्ग ने दृढ़तापूर्वक साम्राज्यवादी दमन का मुकाबला किया। ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने २५ सितम्बर १९४२ को दमन-विरोधी दिवस मनाने की अपील की। उसने देश-रक्षा के विचार का प्रचार किया और जनता की रोजमर्रा की आवश्यकताओं के लिए—जैसे मूल्य-नियंत्रण तथा राशनिंग के लिए—जोरदार आन्दोलन किया और चोरबाजार चलाने वालों तथा अनाज और कपड़ा दबाकर बैठ जाने वालों के खिलाफ आन्दोलन चलाया। इसके साथ-साथ उसने जनता को आगाह किया कि उसे साम्राज्यवादी उकसावे में या जापानियों की मीठी बातों के भुलावे में नहीं आना चाहिए।

इस सबसे ट्रेड यूनियन आन्दोलन की बहुत प्रगति हुई और उस पर कम्युनिस्ट पार्टी का प्रभाव बढ़ा। १९४२ में ८ वर्ष तक गैर-कानूनी रहने के बाद कम्युनिस्ट पार्टी कानूनी करार दे दी गयी। यह पूरे मजदूर आन्दोलन के लिए एक फायदे की चीज थी। इस काल में ट्रेड यूनियन आन्दोलन किस तरह बढ़ा, यह अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के सदस्यों की संख्या के इन आंकड़ों से स्पष्ट रूप में मालूम हो जाता है :

वर्ष	ट्रेड यूनियनों की संख्या	रजिस्टरी शुदा सदस्यों की संख्या
१९३८	१८८	३६३,४५०
१९४०	१९५	३७४,२५६
१९४१	१८२	३३७,६९५
१९४२ (फरवरी)	१९१	२६९,८०३
१९४३	२५९	३३२,०७९
१९४४	५१५	५०९,०८४
१९४७	६०८	७२६,०००

१९४२-४५ के संकट-काल में, भयंकर कठिनाइयों के होते हुए भी, कम्युनिस्टों ने जो बहुमुखी कार्य किया, उससे कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्यों की संख्या बहुत बढ़ गयी। जुलाई १९४२ में वह केवल ४,००० थी, मई १९४३ में वह १५,००० हो गयी; जनवरी १९४४ में ३०,००० और १९४६ की गर्मियों में ५३,००० तक पहुंच गयी।

लड़ाई के जमाने में एम. एन. राय के समर्थकों ने ट्रेड यूनियन आंदोलन में फूट डाल देने का एक असफल प्रयत्न किया। श्री एम. एन. राय ने अपने को पूरी तरह अंग्रेज साम्राज्यवादियों के हितों से मिला दिया था। उनके अनुयायियों ने १९४१ में तथाकथित "इंडियन फेडरेशन आफ लेबर" कायम किया, जिसे सरकार से १३,००० रुपये माहवार की मदद मिलती थी। मगर धुआंधार प्रचार के बावजूद वह मजदूरों के बीच अपनी जड़ें न जमा सका। सितम्बर १९४६ में एक सरकारी जांच से यह बात अंतिम रूप से सिद्ध हो गयी कि अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस, जिसके उस समय ७ लाख सदस्य थे, भारतीय ट्रेड यूनियन आन्दोलन की निर्णायक रूप से प्रतिनिधि संस्था है।

१९४० के बाद कांग्रेस समाजवादी पार्टी मुख्यत: केवल नेताओं की पार्टी बन गयी थी। अगस्त १९४२ के प्रस्ताव के पास हो जाने तथा कांग्रेस नेताओं के गिरफ्तार हो जाने के बाद उसने अपना गुप्त संगठन बनाने की कोशिश की और कांग्रेसी नेताओं के पकड़ लिये जाने के बाद जनता में अपने-आप जो उभार आया था, उसे संगठित रूप देने की कोशिश की। इन कोशिशों में कांग्रेस समाजवादी नेता मजदूर वर्ग का सहयोग हासिल नहीं कर पाये। फिर भी, चूंकि उन्होंने जनता की स्वयं-स्फूर्त वीरता की प्रशंसा में बहुत सा गैर-कानूनी साहित्य प्रकाशित किया और कुछ हद तक तोड़फोड़ के कामों का संगठन किया, इसलिए नौजवान राष्ट्रवादियों पर, खासकर विद्यार्थियों पर, उनका प्रभाव बढ़ गया, हालांकि मजदूरों में यह बात नहीं हुई। लड़ाई खत्म हो जाने के बाद उन्होंने बहुत ही तीव्र कम्युनिस्ट-विरोधी एवं सोवियत-विरोधी प्रचार शुरू कर दिया।

युद्ध के काल में मजदूर आन्दोलन ने जो प्रगति की और जो सफलताएं प्राप्त कीं, वे सदा याद रहेंगी। युद्ध समाप्त होते-होते तथा फासिज्म पर विजय प्राप्त होने तक मजदूर आन्दोलन साम्राज्यवाद से लड़ने वाला सबसे संगठित, अनुशासनबद्ध और दृढ़ दस्ता बन गया था। यह बात लड़ाई के जमाने के महान जन-संघर्षों में भली-भांति प्रकट हो गयी। आम राजनीतिक आन्दोलन के ऊपरी नेताओं में साम्प्रदायिक मतभेद बहुत तेज होते गये; लेकिन मजदूर आन्दोलन में हिन्दू, मुसलमान और अछूत सब एकजुट हो गये थे और यह एकता बराबर कायम रही। राष्ट्रीय एवं सामाजिक मुक्ति के लिए आगे जो

लड़ाइयां होने वाली थीं, मजदूर वर्ग ने उनमें सबसे आगे बढ़कर लड़ने वाले अग्रदल का स्थान प्राप्त कर लिया था।

दूसरे महायुद्ध के बाद जो तूफानी जमाना शुरू हुआ, जो महान राष्ट्रीय उभार आया और हड़तालों की जो जबर्दस्त लहर उठी, उसमें मजदूर वर्ग का तथा पूरे राष्ट्र का नेतृत्व करने की उसकी भूमिका का विकास एक नये युग में पहुंचा और उससे नयी समस्याएं पैदा हुईं। अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के विरोध में सरकार तथा बड़े-बड़े मिल-मालिकों की सरपरस्ती में इंडियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना हो गयी। कांग्रेस समाजवादी पार्टी ने हिन्द मजदूर सभा बना डाली। इससे मजदूर वर्ग की एकता को सख्त धक्का लगा। फिर भी तीनों संगठनों के अनुयायियों में यह आन्दोलन जोर पकड़ता गया कि हर विचार के मजदूरों को मिलकर लड़ना चाहिए।

राजनीतिक क्षेत्र में, कम्युनिस्ट पार्टी ने अपना निर्णायक नेतृत्व स्थापित कर लिया, जिसका प्रमाण १९५२ के शुरू में पहले आम चुनाव के समय मिला। यह चुनाव बालिग मताधिकार के आधार पर हुआ और उसमें से कम्युनिस्ट पार्टी तथा उसके समर्थक देश की दूसरे नम्बर की राजनीतिक शक्ति बनकर निकले। सोशलिस्ट पार्टी (जिसने कांग्रेस के सरकारी पार्टी बन जाने के बाद उससे अपना पुराना सम्बन्ध तोड़ लिया था) उस प्रजा पार्टी के साथ मिल गयी, जो कांग्रेस से टूटा हुआ एक दल था। दोनों ने कम्युनिस्टों के बढ़ते हुए प्रभाव का मुकाबला करने के लिए प्रजा सोशलिस्ट पार्टी बनायी। इस नयी पार्टी के कार्यक्रम में समाजवाद के लक्ष्य के स्थान पर गांधीवाद के सामाजिक सिद्धान्तों की स्थापना की गयी, और कार्यनीति के क्षेत्र में किसान विद्रोह के मुकाबले में भूदान आन्दोलन का समर्थन किया गया (जिसमें जमींदारों से दया-धर्म के नाम पर गरीब तथा भूमिहीन किसानों को भूमि-दान करने की अपील की जाती है)। प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के दक्षिणपंथी नेताओं का योरप के सोशल डेमोक्रेटिक नेताओं और संगठनों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। भारत में अमरीका के घुसने के साथ भी उनका गहरा ताल्लुक है। इन नेताओं को बहुत सफलता नहीं मिली और उनकी पार्टी के साधारण कार्यकर्ता उनका अधिकाधिक विरोध करने लगे। उग्रवादी कार्यकर्ताओं का एक महत्वपूर्ण भाग पार्टी से अलग हो गया और अन्त में कम्युनिस्ट पार्टी में शामिल हो गया। विभिन्न राज्यों के चुनावों में, म्युनिसिपल बोर्डों के चुनावों में और केन्द्रीय पार्लामेंट के उप-चुनावों में, और उसके साथ-साथ बढ़ते हुए जन-संघर्षों में यह बात स्पष्ट हो गयी कि कम्युनिस्ट पार्टी तथा बढ़ते हुए जनवादी मोर्चे के उसके समर्थकों को जनता से अधिकाधिक समर्थन प्राप्त हो रहा है।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का कार्यक्रम मौजूदा काल की एक महत्वपूर्ण घटना है। यह कार्यक्रम १९५१ में स्वीकार किया गया था। उसमें उस मार्ग का निर्देश मिलता है जिस पर चलकर भारतीय जनता किसानों के साथ एकताबद्ध मजदूर वर्ग के नेतृत्व में, साम्राज्यवाद से पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करेगी और भारत में जनता का सच्चा जनतंत्र स्थापित करेगी।

अध्याय १३

भारतीय जनतंत्र की समस्याएं

भारत में जनतंत्र के विकास के रास्ते में साम्राज्यवादी शासन बहुत सी बाधाएं और समस्याएं अपनी विरासत के रूप में छोड़ गया है। भारत की प्रत्येक प्रतिक्रियावादी सामाजिक शक्ति को अपने शासन के स्तम्भ के रूप में जान-बूझ कर पालना-पोसना और राष्ट्रीय क्रांति की शक्तियों में फूट डालने के लिए जनता के प्रत्येक मतभेद और विरोध को बढ़ाना ही साम्राज्यवाद की नीति थी। अपने प्रत्यक्ष शासन के पतन तथा खात्मे के काल में उसने खास तौर पर इस नीति का प्रयोग किया।

दो क्षेत्रों में यह नीति विशेष रूप से प्रकट हुई : एक तो देशी राजाओं को कायम रखने के मामले में; और दूसरे साम्प्रदायिक भेदभावों को, खास तौर पर हिन्दू-मुस्लिम विरोध को बढ़ाने के क्षेत्र में।

१ देशी राजा और नवाब

भारत में कुल ५६३ देशी रियासतें थीं, जिनका कुल रकबा ७१२,००० वर्ग मील और आबादी (१६३१ की जनगणना के अनुसार) ८ करोड़ १० लाख, यानी कुल आबादी की लगभग चौथाई (२४ प्रतिशत) होती थी। इनमें हैदराबाद जैसी बड़ी रियासतें भी थीं, जिसका आकार इटली के बराबर और आबादी १ करोड़ ४० लाख थी; और लावा जैसी नन्हीं रियासतें भी थीं, जिसका रकबा केवल १६ वर्ग मील था। उनमें शिमला की पहाड़ी रियासतें भी थीं जो छोटी-छोटी जमींदारियों से ज्यादा कुछ नहीं थीं। इन रियासतों के रुतबे तथा अधिकारों में इतने भेद हैं कि उनका कोई सामान्य वर्णन नहीं किया जा सकता। उनमें से १०८ बड़ी रियासतें थीं जिनके शासक खुद नरेन्द्र-मंडल के सदस्य थे। १२७ छोटी रियासतें थीं जिनके शासक अपने बारह प्रतिनिधि चुनकर नरेन्द्र-मंडल में भेजते थे। बाकी ३२८ रियासतें असल में एक तरह की जमींदारियां थीं जिनको कुछ सामंती हक भी मिले हुए थे, मगर जिनके अधिकार बहुत सीमित थे। अधिक महत्वपूर्ण रियासतों में निर्णायक शक्ति अंग्रेज रेजीडेंट के हाथों में रहती थी। छोटी रियासतें अंग्रेज पोलिटिकल एजेंटों के मातहत

थीं। अलग-अलग इलाकों की छोटी रियासतों के समूह को एक-एक पोलिटिकल एजेंट की देखरेख में दे दिया गया था।

इन राजाओं और नवाबों को छोटे-मोटे मामलों में जो चाहे करने की छूट थी। वे जनता पर मनमाना अत्याचार कर सकते थे। उन्हें कानूनों को उठाकर ताक पर रख देने की इजाजत थी। लेकिन असली और फैसलाकुन राजनीतिक ताकत अंग्रेजों के ही हाथ में रहती थी। जैसा कि मार्क्स ने १८५३ में ही लिख दिया था :

> "देशी राजा और नवाब मौजूदा घृणित अंग्रेजी शासन व्यवस्था के दृढ़ स्तम्भ हैं और भारत की उन्नति के रास्ते की सबसे बड़ी बाधा हैं।"

परन्तु अंग्रेजों की हमेशा यह नीति नहीं थी कि देशी राजाओं को कठपुतलियां बनाकर सदा कायम रखा जाय। उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में जब अंग्रेजी राज बड़े जोर-शोर से आगे बढ़ रहा था और अंग्रेजों को अपनी ताकत में यकीन था, वे सही या गलत किसी भी बहाने से एक के बाद दूसरी रियासत को अपने राज्य में मिला लेने की नीति पर चलते थे। लेकिन १८५७ के विद्रोह के बाद उनकी नीति एकदम बदल गयी। जहां तक १८५७ के विद्रोह के नेतृत्व का प्रश्न है, वह सामन्ती शक्तियों का, देश के पुराने शासकों का विदेशी प्रभुत्व की बढ़ती हुई लहर को रोकने के लिए आखिरी प्रयत्न था। विद्रोह तो कुचल दिया गया, लेकिन अंग्रेजों ने उससे सबक सीख लिया। उसके बाद से ही सामन्ती शासक अंग्रेजी राज्य के मुख्य प्रतिद्वन्द्वी नहीं रह गये, बल्कि जागती हुई जनता की प्रगति के मार्ग की मुख्य बाधा बन गये। इस काल में अधिकाधिक सामन्ती तत्वों का सहारा लेने और देशी राजाओं और नवाबों तथा उनकी रियासतों को अंग्रेजी शासन के स्तम्भ के रूप में कायम रखने की नीति अपनायी गयी।

१८५८ में महारानी की घोषणा में इस नयी नीति का ऐलान कर दिया गया कि "हम देशी राजाओं और नवाबों के अधिकारों, प्रतिष्ठा और सम्मान का अपने अधिकारों, प्रतिष्ठा और सम्मान जैसा ही आदर करेंगे।" इस नीति का क्या उद्देश्य था, यह लार्ड कैनिंग ने १८६० में बहुत साफ-साफ बता दिया :

> "सर जान मैलकोल्म ने बहुत पहले यह कहा था कि अगर हमने भारत को केवल अंग्रेजी जिलों में बांट दिया, तो कुदरत का तकाजा है कि हमारा साम्राज्य पचास साल भी नहीं टिक पायेगा; लेकिन अगर हमने कुछ देशी रियासतों को बिना राजनीतिक ताकत के अपने शाही हथियारों के रूप में बनाये रखा, तो जब तक समुद्रों पर हमारे जहाजों

की धाक रहेगी, तब तक हम भारत में भी बने रहेंगे। सर जान की इस बात में बहुत तथ्य है, इसमें मुझे जरा भी शक नहीं है। और हाल की बातों ने तो उनकी बात को और भी ध्यान के योग्य बना दिया है।"

इस प्रकार, देशी रियासतों का कायम रहना, जो यदि अंग्रेजी राज न होता तो आगे-पीछे कभी न कभी जरूर खतम हो जातीं, अंग्रेजों की आधुनिक नीति का परिणाम था; और यह समझना बिल्कुल गलत है कि इन रियासतों के रूप में भारत की प्राचीन परम्पराओं एवं संस्थाओं के अवशेष जीवित थे। देशी राजाओं और नवाबों के प्रधान सरकारी प्रचारक प्रोफेसर रशब्रुक विलियम्स थे। उन्होंने १९३० में कहा था :

"देशी रियासतों के शासक अंग्रेजी हुकूमत के साथ अपने सम्बंध के प्रति बहुत वफादार हैं। उनमें से बहुत से तो अंग्रेजी इंसाफ और अंग्रेजी तलवार के बल पर ही जिन्दा हैं। अठारहवीं सदी के बाद के और उन्नीसवीं सदी के शुरू के हिस्से में जो लड़ाइयां हुई थीं, उनमें अगर अंग्रेजों ने अनेक देशी राजाओं और नवाबों की मदद न की होती, तो आज कहीं उनका नामोनिशान न होता। आज के इन झगड़ों में और आगे चलकर जो उलट-फेर होगा, उसमें भी इन राजाओं और नवाबों की वफादारी और मुहब्बत से ब्रिटेन को बड़ी मदद मिलेगी।...

"सारे भारत में बिखरे हुए इन सामन्ती राज्यों की भौगोलिक स्थिति हमारे लिए बड़ी हितकर है। उनकी स्थिति ऐसी है मानो लड़ाई के मैदान में हमारे दोस्तों ने पहले से अपने किलों का लम्बा-चौड़ा जाल फैला रखा हो। इन ताकतवर और वफादार देशी रियासतों के इस जाल के कारण यह बहुत मुश्किल होगा कि अंग्रेजों के खिलाफ कोई आम विद्रोह पूरे देश में फैल जाय।"

१९२९ की बटलर कमेटी की रिपोर्ट में रस्मी तौर पर भी यह बात साफ कर दी गयी कि 'विद्रोह अथवा बगावत" से देशी राजाओं की रक्षा करना अंग्रेजी सरकार का कर्तव्य है। उसमें कहा गया था :

"बादशाह सलामत ने यह वादा किया है कि वह देशी राजाओं के अधिकारों, सम्मान और गौरव को सदा अक्षुण्ण रखेंगे। इस वादे में यह बात भी शामिल है कि अगर किसी देशी राजा को हटाकर उसकी जगह पर दूसरे ढंग की शासन व्यवस्था कायम करने की कोशिश की जाय, तो अंग्रेजी सरकार का फर्ज होगा कि वह उसकी रक्षा करे।"

अंग्रेजों की छत्रछाया में भारत के ये कठपुतली राजा और नवाब जिस प्रकार अपना राजकाज चलाते थे, उस प्रकार के राज की इतिहास में कोई और मिसाल भी मिलेगी, इसमें शक है। चन्द देशी रियासतें ऐसी थीं जिनके

शासन प्रबन्ध का स्तर ब्रिटिश भारत से कुछ ऊंचा था और जिनके यहां अनिवार्य शिक्षा की योजनाओं पर आंशिक रूप से अमल हुआ था, या जिनके यहां बहुत ही कम अधिकारों वाली, बहुत ही प्राथमिक ढंग की, सलाहकार परिषदें बना दी गयी थीं। लेकिन ये रियासतें अपवाद के रूप में थीं। अधिकतर रियासतों में जो गुलामी, तानाशाही और जुल्म देखने को मिलता था, वह बयान के बाहर है। वैसे तो एशिया के स्वेच्छाचारी राजाओं के इतिहास में भ्रष्टाचार और जुल्म कोई नयी चीज नहीं थी; लेकिन उन पुराने राजाओं को कम से कम बाहरी हमले या अन्दरूनी बगावत का डर तो लगा ही रहता था। इन नये राजाओं को अंग्रेजों की छत्रछाया में इस डर से भी निजात मिल गयी। अंग्रेजी सरकार के हाथ में यह अधिकार था कि यदि वह किसी रियासत में सरासर बुरा शासन देखे, तो राजा को गद्दी से उतार दे या उसके अधिकारों पर नियंत्रण लगा दे। लेकिन व्यवहार में इस अधिकार का प्रयोग कुशासन रोकने के लिए नहीं, बल्कि केवल राजाओं को अपना वफादार बनाये रखने के लिए किया जाता था।

अंग्रेजी राज ने भारत के ४० प्रतिशत भाग में न केवल इस प्रकार की शासन व्यवस्था को जबर्दस्ती कायम रखा बल्कि जैसे-जैसे राष्ट्रीय स्वतंत्रता का आन्दोलन प्रगति करता गया, वैसे-वैसे साम्राज्यवाद देशी राजाओं के साथ गठबंधन करने और राष्ट्रीय आन्दोलन के विरोध में उनको खड़ा करने की नीति पर अधिकाधिक जोर देने लगा। १९२१ में नरेन्द्र-मंडल कायम हुआ। १९३५ के कानून में जिस संघीय विधान की योजना थी, उसकी नींव देशी राजाओं और नवाबों की भूमिका पर रखी गयी थी। उसमें केन्द्र की ऊपरी धारासभा में ४० प्रतिशत सीटें देशी राजाओं को दी गयी थीं और निचली धारासभा में एक-तिहाई सीटें उनको दी गयी थीं।

राष्ट्रीय जनवादी आन्दोलन इन कठपुतली रियासतों की सड़ी-गली सीमाओं को तोड़ता हुआ आगे बढ़ा। रियासती प्रजा सम्मेलन की ताकत तेजी से बढ़ी। रियासतों में यही संस्था जन-आन्दोलनों का संगठन किया करती थी। एक के बाद दूसरी रियासतों में प्राथमिक अधिकारों के लिए संघर्ष छिड़ता गया।

रियासतों के जन-आन्दोलन की इस प्रगति के साथ-साथ कांग्रेस की नीति भी बदली। बहुत दिनों तक कांग्रेस सीधे तौर पर देशी रियासतों में प्रचार या आन्दोलन नहीं करती थी। "हस्तक्षेप न करने" की इस नीति को जान-बूझकर अपनाया गया था, और इसी झूठी आशा से अपनाया गया था कि इन कठपुतली राजाओं के साथ कांग्रेस का किसी तरह का संयुक्त मोर्चा बन जायगा। उनके शासन की चक्की में पिसने वाले ८ करोड़ लोगों के साथ

संयुक्त मोर्चा बनाने का ख्याल कांग्रेस को नहीं था। गांधी जी ने गोलमेज सम्मेलन में कहा था : "अब तक कांग्रेस ने राजाओं की इस तरह सेवा करने की कोशिश की है कि वह उनके घरेलू तथा वैदेशिक मामलों में कोई दखल नहीं देती।"

खुद घटनाचक्र ने इस घातक नीति को परास्त कर दिया। किसी भी रियासत में यदि बहुत ही साधारण से आन्दोलन का भी सूत्रपात होता था, या राष्ट्रीय आन्दोलन से थोड़ी भी हमदर्दी प्रकट की जाती थी, तो देशी राजा बड़े हिंसापूर्ण ढंग से उसका दमन करते थे। इससे यह जोरदार मांग उठी कि अब इस लड़ाई को राष्ट्रीय आन्दोलन को अपने हाथ में लेना चाहिए। रियासतों के सविनय अवज्ञा आन्दोलनों का समर्थन किया जाय या नहीं—यह कांग्रेस के सामने एक बड़ा सवाल बन गया।

१९३८ में कांग्रेस के हरिपुरा अधिवेशन ने रियासतों के संबंध में कांग्रेस की नीति की इन शब्दों में घोषणा की थी :

> "इसलिए कांग्रेस की राय में रियासतों में पूरी तौर पर जिम्मेदार हुकूमत कायम होनी चाहिए और नागरिक अधिकारों की गारंटी मिलनी चाहिए; और कांग्रेस इस बात पर खेद प्रकट करती है कि रियासतों की मौजूदा हालत पिछड़ी हुई है और बहुत सी जगहों में आजादी का नामो-निशान तक नहीं है तथा नागरिक अधिकारों का हनन हो रहा है।"

इसके साथ-साथ हरिपुरा के प्रस्ताव ने रियासतों के अन्दर कांग्रेस के कार्य पर खुद कुछ सीमाएं भी लगा दी थीं :

> "रियासतों में जनता का अन्दरूनी संघर्ष कांग्रेस के नाम से नहीं चलाया जाना चाहिए। इसके लिए स्वतंत्र संगठन बनाया जाना चाहिए और जहां वे पहले से मौजूद हों, उनको कायम रखना चाहिए।"

१९३९ के त्रिपुरी अधिवेशन में कांग्रेस ने इस स्थिति में थोड़ा-बहुत संशोधन किया और यह कहा :

> "हरिपुरा की नीति जनता के सर्वोत्तम हितों को ध्यान में रखकर अपनायी गयी थी ताकि जनता में आत्म-निर्भरता तथा शक्ति पैदा हो। परिस्थितियों को देखकर यह नीति तै की गयी थी; लेकिन कभी यह खयाल न था कि कांग्रेस सदा इसी नीति पर चलने के लिए मजबूर है। कांग्रेस का हमेशा यह अधिकार रहा है और साथ ही यह उसका कर्तव्य भी है कि वह रियासतों की जनता की रहनुमाई करे और अपने प्रभाव से उनकी सहायता करे। जनता में जो महान जागरण हो रहा है, उससे कांग्रेस ने अपने ऊपर जो बंधन लगाया था, उसे ढीला या एकदम दूर

भी किया जा सकता है, और इसके फलस्वरूप रियासती जनता के साथ कांग्रेस का तादात्म्य अधिकाधिक बढ़ता जायगा।"

इस नीति के अनुसार राष्ट्रीय नेता रियासती जनता के आन्दोलनों में सक्रिय भाग लेते थे। फरवरी १९३९ में अखिल भारतीय रियासती प्रजा सम्मेलन का लुधियाना अधिवेशन हुआ। पं. जवाहरलाल नेहरू उसके अध्यक्ष और डा. पट्टाभि सीतारमय्या उपाध्यक्ष चुने गये। सम्मेलन ने "जिम्मेदार सरकार" के संघर्ष में रियासती जनता के आन्दोलन की सफलताओं का स्वागत किया और ऐलान किया :

> "अब समय आ गया है कि इस संघर्ष को भारतीय स्वतंत्रता के उस अधिक व्यापक संघर्ष के साथ मिलाकर चलाया जाय जिसका कि वह एक अविभाज्य अंग है। इस प्रकार का संयुक्त संघर्ष लाजमी तौर पर कांग्रेस की रहनुमाई में ही चलाया जाना चाहिए।"

युद्ध के बाद अखिल भारतीय रियासती प्रजा सम्मेलन दिसम्बर १९४५ में उदयपुर में हुआ और उसने घोषित किया कि उसका लक्ष्य "एक स्वतंत्र तथा संघ-बद्ध भारत के अविभाज्य अंग के तौर पर रियासतों में शांतिपूर्ण तथा उचित उपायों से जिम्मेदार हुकूमत कायम करना" है। अपने अध्यक्षीय भाषण में पं. नेहरू ने ऐलान किया :

> "यह अनिवार्य है कि अधिकतर रियासतें, जो सम्भवतया आर्थिक इकाइयों के रूप में नहीं रह सकतीं, आस-पास के इलाकों में मिला दी जायें।...इस तरह की छोटी रियासतों के शासकों को किसी तरह की पेंशन दी जा सकती है और इसके अलावा अगर वे किसी और काम के काबिल हों, तो उन्हें उसके लिए भी प्रोत्साहन दिया जा सकता है।
>
> "दूसरी पन्द्रह-बीस रियासतें संघ की खुद-मुख्तार इकाइयों के रूप में रहेंगी। उनके शासक जनवादी ढंग की शासन प्रणाली में वैधानिक ढंग के प्रधान के रूप में रह सकते हैं। इनमें से कुछ शासक बहुत पुराने राजवंशों के हैं, जिनका इतिहास और परम्परा से घनिष्ठ सम्बंध है।"

देशी राजाओं से समझौता करने की नीति के कारण कांग्रेसी नेता जनता के आन्दोलन को निरुत्साहित करने लगे। दूसरे महायुद्ध के बाद, क्रान्तिकारी उभार के काल में, रियासती जनता का विद्रोही आन्दोलन जबर्दस्त वेग से आगे बढ़ा। इस जमाने में देशी रियासतें भारत की राजनीति में तूफानी तहरीकों की केन्द्र बन गयीं। रियासतों में सामन्ती निरंकुशता के विरुद्ध अपने-आप संघर्ष आरम्भ हो गये और उनका बहुत ही हिंसापूर्ण ढंग से दमन किया गया। इन संघर्षों का सबसे ऊंचा ऊभार १९४६ में कश्मीर में देखा गया जहां

डोगरा राजवंश के खिलाफ जनता ने यह साफ और दो टूक नारा बुलंद किया था—"कश्मीर को छोड़ दो !"

१९४७ की माउंटबैटन योजना में देशी राजाओं को विशेष अधिकार दिये गये थे। कहा गया कि अब अंग्रेज सरकार का रियासतों पर अधिकार समाप्त हो चुका है, इसलिए जब नयी डोमीनियन सरकारों को सत्ता हस्तांतरित की जायगी, तब उनको रियासतों पर नियंत्रण रखने का कोई अधिकार नहीं मिलेगा; बल्कि कानून की दृष्टि से देशी राजा पूर्णतया स्वतंत्र तथा प्रभुसत्ता सम्पन्न बन जायेंगे और उन्हें इस बात की पूरी आजादी रहेगी कि वे चाहे जिन शर्तों पर और चाहे जिस डोमीनियन में शामिल हो जायें, या चाहें तो दोनों से अलग रहें। लेकिन यह कानूनी आजादी अमल में कायम न रह सकी। एक साल के अन्दर सभी रियासतें किसी न किसी डोमीनियन में शामिल हो गयीं। अलग रहा सिर्फ एक हैदराबाद। अन्त में वह भी पुलिस कार्रवाई के बाद भारतीय संघ में शामिल हो गया। कश्मीर को लेकर दोनों डोमीनियनों में झगड़ा चलता रहा। छोटी रियासतों में से अधिकतर को मिलाकर ज्यादा बड़ी इकाइयां बना दी गयीं (इसकी योजना खुद साम्राज्यवाद पहले से बना गया था); लेकिन भारत के ४० प्रतिशत भाग में फैले हुए और सभी प्रकार की प्राकृतिक एवं जातीय सीमाओं का उल्लंघन कर बिखरे हुए विशेष क्षेत्र के रूप में रियासतें कायम रहीं। बड़ी-बड़ी रियासतें ज्यों की त्यों कायम रखी गयीं।

इस प्रकार, वैधानिक सुधारों की आड़ में देशी राजाओं से समझौता करने और उनको रियासतों का प्रमुख बनाकर कायम रखने की नीति को डोमीनियन सरकारों ने एकदम मुकम्मिल बना दिया। १६ मार्च १९४८ को रियासती सचिवालय के सचिव श्री वी. पी. मेनन ने "वैधानिक शासकों के रूप में देशी राजाओं को जीवित रखने" की नीति की रूपरेखा बताते हुए कहा :

> "यद्यपि जनता का प्रबल बहुमत शासकों का खात्मा चाहता था, फिर भी सरदार पटेल के नेतृत्व में, जो गांधी जी के मतानुसार चल रहे थे, रियासती सचिवालय शासकों को यह पद देने के लिए तैयार होगा।"

२८ मार्च को श्री मेनन ने एक और बयान अखबारों में प्रकाशित किया। उसमें उन्होंने कहा कि देशी राजाओं को "नेस्तनाबूद करने" का कोई इरादा नहीं है। इसके साथ-साथ उन्होंने कहा कि अगर कोई राजा निस्सन्तान मर जायगा, तो उसकी गद्दी समाप्त नहीं कर दी जायगी, बल्कि उसके किसी रिश्तेदार को, या उसी रियासत अथवा डोमीनियन के किसी नागरिक को, जिसने ऊंचे दर्जे की सार्वजनिक सेवा की होगी, 'गद्दी पर बैठा दिया जायगा'।

एक अस्थायी सहूलियत के रूप में ही देशी राजाओं को कायम रखने की बात नहीं थी, बल्कि उनको हमेशा के लिए बरकरार रखने का इरादा था।

इस प्रकार की नीति भारत के जनवादी विकास की आवश्यकताओं के एकदम खिलाफ पड़ती है।

भारतीय राष्ट्र की एकता, भारत के प्रगतिशील विकास, तथा भारत में जनतंत्र स्थापित करने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि देशी रियासतों को पूरे तौर पर खतम कर दिया जाय और सामन्ती अत्याचार के इन अवशेषों को साफ करके प्राकृतिक-भौगोलिक और आर्थिक एवं सांस्कृतिक समूहों के आधार पर भारतीय जनता को एक वास्तविक संघ में एकताबद्ध किया जाय।

२. साम्प्रदायिक भेदभाव

अंग्रेज साम्राज्यवादियों ने जिस तरह देशी राजाओं के जरिये भारतीय जनता में फूट डाल रखी थी, ठीक उसी प्रकार की नीति वे हिन्दुओं और मुसलमानों के बारे में बरतते थे।

हाल के जमाने में, पाकिस्तान का अलग राज्य बन जाने के साथ, साम्प्रदायिक भेदभाव के सवाल ने जो खास राजनीतिक रूप धारण कर लिये हैं, उनसे इस आम सवाल को अलग करके देखना जरूरी है। इन खास तरह के राजनीतिक रूपों से कुछ महत्वपूर्ण राजनीतिक सवाल पैदा होते हैं, जिन पर हम आगे विचार करेंगे; लेकिन उसके पहले साम्प्रदायिक भेदभाव के, खासकर हिन्दू-मुस्लिम विरोध के आम सवाल पर विचार कर लेना आवश्यक है।

पुराने अविभाजित भारत में करीब दो-तिहाई आबादी हिन्दुओं की थी, एक-चौथाई मुसलमानों की, और कुछ छोटे-छोटे धार्मिक सम्प्रदाय थे जो सब मिलकर आबादी का दसवां भाग होते थे। इससे भारत में जो प्रश्न उठता है, "साम्प्रदायिक" समस्या के नाम से या अलग-अलग धार्मिक "सम्प्रदायों" के आपसी सम्बंधों के प्रश्न के रूप में जो सवाल सामने आता है, उसकी भारत में कुछ अपनी विशेषताएं हैं। लेकिन वह कोई ऐसा सवाल नहीं है जो सिर्फ भारत की ही खासियत हो।

कुछ विशेष परिस्थितियों में, भिन्न-भिन्न नस्लों और धर्मों के लोगों के एक ही देश में रहने से बड़ी कठिनाइयां पैदा हो जाती हैं, और कभी-कभी तो दंगों और खून-खराबे तक की नौबत आ जाती है। पुराने जमाने की मिसालें देने की कोई जरूरत नहीं है। बीसवीं सदी में ही इसकी अनेक मिसालें मिल

जाती हैं : जैसे उत्तरी आयरलैंड में ऑरेंजमैन और कैथलिकों का झगड़ा; मैंडेट के जमाने में फिलिस्तीन में अरबों और यहूदियों की कलह; जारशाही रूस में स्लाव लोगों और यहूदियों का विवाद; नाजी जर्मनी में तथाकथित "आर्यों" व यहूदी लोगों का झगड़ा; योरप में यहूदी-विरोधी भावना; दक्षिण अफ्रीका में काले रंग के लोगों पर होने वाले अत्याचार; अमरीका में हब्शी-विरोध; या ब्रिटिश साम्राज्य में पाया जाने वाला रंग-भेद—ये सब अलग-अलग ढंग के नस्ल या धर्म पर आधारित भेदभाव तथा विरोध की मिसालें हैं।

ऐतिहासिक अनुभव के आधार पर बहुत स्पष्ट रूप में यह बताया जा सकता है कि इस प्रकार की समस्या किन विशेष परिस्थितियों में पैदा होती हैं।

फिलिस्तीन के अंग्रेजी संरक्षण में आने के पहले वहां सदियों से अरब व यहूदी शान्ति के साथ रहते चले आये थे। लेकिन जब से अंग्रेजी शासन कायम हुआ, तब से वहां भयानक झगड़े शुरू हो गये, बाद में उन्होंने खुले युद्ध का रूप धारण कर लिया। साम्राज्यवादी कभी इस पक्ष की पीठ ठोंकते थे, तो कभी दूसरे पक्ष की; और इस तरह वे फूट कायम रखते थे और जनता को साम्राज्यवाद के खिलाफ एक होकर आगे बढ़ने से रोकते थे।

जारशाही रूस में, खास कर जारशाही के पतन के काल में, यहूदियों के बड़े-बड़े कत्लेआम हुए थे, जिन्होंने जारशाही रूस के इतिहास को कलंकित किया था और जिनके बारे में जानकर सारी दुनिया की आत्मा सिहर उठी थी। अक्सर लोग समझते थे कि रूस के लोग जाहिल और जंगली हैं जो कभी-कभी फिजूल की मारकाट पर तुल जाते थे और उनको रोकना नामुमकिन हो जाता था। बाद में जब खुफिया पुलिस के गुप्त कागजात छपे, तब जाकर वह बात अन्तिम रूप से साबित हुई जो बहुत दिनों से अभियोग के रूप में कही जाती थी और जिसके सबूत में लोग "यमदूत सभा" नामक "देशभक्त" गुंडा-संगठन के साथ सरकार के अनोखे सम्बंधों की ओर संकेत किया करते थे। खुफिया पुलिस के कागजों के प्रकाशित होने पर यह बात साबित हुई कि इन हत्याकांडों को सीधे-सीधे सरकार से प्रेरणा मिलती थी और वही उनको आरम्भ करती थी और उन पर नियंत्रण रखती थी। जिस रोज रूसी जनता ने सत्ता की बागडोर अपने हाथों में सम्भाली, उसी रोज से ये हत्याकांड एकदम बन्द हो गये। सोवियत संघ में बहुत ही भिन्न-भिन्न नस्लों और धर्मों के लोग हंसी-खुशी से एक साथ रहते हैं।

जर्मनी में, वाइमर प्रजातंत्र के दिनों में, जर्मन और यहूदी लोग शान्ति से साथ-साथ रहते थे। जब जर्मनी में नाजी राज कायम हुआ, तो हत्याकांड जारशाही रूस के बजाय केन्द्रीय योरप में होने लगे।

अतएव भिन्न-भिन्न नस्लों और धर्मों के लोग यदि एक ही देश में रहें भी, तो इस तरह की कठिनाइयों का पैदा होना कोई स्वाभाविक अथवा अनिवार्य बात नहीं है। ये कठिनाइयां सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों से पैदा होती हैं। खास तौर पर ये कठिनाइयां वहां पैदा होती हैं जहां कोई प्रतिक्रियावादी शासन व्यवस्था जनता के आन्दोलन के खिलाफ अपने को कायम रखने की कोशिश करती है। जब ऐसी कठिनाइयां पैदा होने लगें, तब ऐसा समझना चाहिए कि अब यह शासन व्यवस्था खत्म होने को है।

भारत में इसी तरह की समस्या अंग्रेजों के शासन काल में पैदा हुई।

देश के बंटवारे के पहले भारत में (१९४१ की जनगणना के आंकड़ों के अनुसार) २५ करोड़ ४० लाख से अधिक हिन्दू रहते थे, जो कुल आबादी का ६५.९३ प्रतिशत होते थे। उनमें से १९ करोड़ ब्रिटिश भारत में रहते थे, जहां उनका अनुपात आबादी का ६४.५ प्रतिशत होता था, और ६ करोड़ ५० लाख देशी रियासतों में रहते थे, जहां उनका अनुपात रियासतों की कुल आबादी का ७०.५७ प्रतिशत होता था। मुसलमानों की संख्या ९ करोड़ २० लाख थी, जो कुल आबादी की २३.८१ प्रतिशत होती थी। इसमें से ७ करोड़ ९० लाख मुसलमान ब्रिटिश भारत में रहते थे, जहां उनका अनुपात आबादी का २६.८४ प्रतिशत होता था; और १ करोड़ २० लाख मुसलमान देशी रियासतों में रहते थे, जहां उनका अनुपात आबादी का १३.९३ प्रतिशत होता था।

अंग्रेजी राज के पहले भारत में उस तरह के हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों का कोई नामोनिशान तक न था, जिस तरह के झगड़े अंग्रेजी राज में, खास तौर से उसके बिलकुल अन्त के दिनों में देखने को मिले। तब अलग-अलग राज्यों के बीच युद्ध हुआ करते थे। कभी-कभी यह हो सकता था कि एक राज्य का शासक हिन्दू हो और दूसरे का मुसलमान, मगर उनका युद्ध कभी हिन्दू-मुस्लिम झगड़े का रूप नहीं धारण करता था। मुसलमान शासक हिन्दुओं को बेखटके ऊंचे से ऊंचे पदों पर नियुक्त करते थे और हिन्दू शासक मुसलमानों को।

अंग्रेजी राज में पहले के भारत की यह परम्परा देशी रियासतों में इस जमाने में भी देखी जा सकती थी। साइमन-रिपोर्ट में कहा गया था कि "वर्तमान देशी रियासतों में साम्प्रदायिक कलह का अपेक्षाकृत अभाव है।" परन्तु सही बात यह है कि जैसे-जैसे देशी रियासतों में जनता का आन्दोलन फैलने और जोर पकड़ने लगा, वैसे-वैसे वहां भी जनता में फूट डालने के प्रतिक्रियावादी हथकंडे दिखायी देने लगे।

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, हिन्दू-मुस्लिम विरोध का जिक्र करते हुए साइमन कमीशन को अपनी रिपोर्ट में दो अजीब बातों का जिक्र करना पड़ा था। एक तो यह कि इस तरह का विरोध उन इलाकों की खास विशेषता

है जिन पर सीधे-सीधे अंग्रेज राज करते हैं, और यह कि देशी रियासतों में यह चीज कम पायी जाती है, हालांकि आबादी दोनों जगह एक ही तरह से मिलीजुली है, और देशी रियासतों तथा ब्रिटिश सूबों की सीमाएं केवल शासन की सुविधा का ख्याल रखकर बनायी गयी हैं। दूसरी बात यह कि ब्रिटिश भारत के इलाकों में भी यह विरोध हाल के जमाने में ज्यादा बढ़ गया है और "एक पीढ़ी पहले...ब्रिटिश भारत में नागरिक शान्ति के लिए खतरे के रूप में साम्प्रदायिक कलह बहुत ही कम थी।" अतएव, साम्प्रदायिक कलह अंग्रेजी राज की, खास तौर पर उसके अन्तिम काल की, अर्थात साम्राज्यवादी प्रभुत्व के पतन के काल की विशेष देन है।

शुरू के जमाने में अंग्रेज शासक "फूट डालो और राज करो" के सिद्धान्त की ज्यादा खुलेआम घोषणा किया करते थे। १८२१ में ही एक अंग्रेज अफसर ने एशियाटिक रिव्यू के मई १८२१ के अंक में "कर्नाटिकस" नाम से लिखते हुए कहा था कि "राजनीतिक, नागरिक अथवा सैनिक, हर क्षेत्र में हमारे भारतीय शासन प्रबंध का मूल नियम होना चाहिए : फूट डालो और राज करो!" गांधी जी ने बताया है कि किस प्रकार कांग्रेस के संस्थापक ह्यूम साहब ने उनके सामने साफ-साफ यह बात स्वीकार की थी कि अंग्रेजी हुकूमत "फूट डालो और राज करो की नीति पर टिकी हुई है।"

१९१० में जे. रैमजे मैक्डोनल्ड ने मुस्लिम लीग की स्थापना के विषय में लिखा था :

> "अखिल भारतीय मुस्लिम लीग ३० दिसम्बर १९०६ को बनी। मुस्लिम लीग को अपनी कोशिशों में इतनी ज्यादा राजनीतिक सफलताएं मिली हैं...कि लोगों को शक होने लगा है कि उसके पीछे काफी खतरनाक ताकतों का हाथ है। सन्देह किया जाता है कि मुस्लिम नेताओं को कुछ अंग्रेज अफसरों से प्रेरणा मिली थी; शिमला और लन्दन में बैठे ये लोग ही डोरियां खींच-खींचकर कठपुतलियां नचाया करते थे और मुसलमानों के साथ विशेष पक्षपात करके हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच जान-बूझकर कलह बढ़ाया करते थे।"

बाद में मिले सबूतों से यह "शक" एकदम पक्का हो गया है।

१९२६ में लार्ड ओलिवियर ने कुछ समय तक भारत मंत्री रह चुकने के बाद और सारे गुप्त कागज-पत्र देखने के बाद टाइम्स के नाम अपने एक खत में लिखा था :

> "जिस किसी को भारत के मामलों की अच्छी जानकारी है, वह इस बात से इंकार करने को तैयार नहीं होगा कि अंग्रेज हुक्काम आम तौर पर मुसलमानों का पक्ष लेते हैं। कुछ हद तक सहानुभूति के कारण

वे ऐसा करते हैं, मगर ज्यादातर उनका उद्देश्य हिन्दू राष्ट्रवादिता के खिलाफ मुसलमानों को इस्तेमाल करना होता है।"

हाल के जमाने में यही बुनियादी दृष्टिकोण थोड़ा घुमा-फिराकर व्यक्त हुआ है। १९४१ में टाइम्स अखबार ने लिखा था :

> "हिन्दू-मुस्लिम समझौते के बुनियादी महत्व पर जोर देने का मतलब यह नहीं है कि अंग्रेज 'फूट डालो और राज करो' की नीति पर चल रहे हैं। फूट है और जब तक वह रहेगी, तब तक अंग्रेजी राज का रहना भी निश्चित है।"

अतएव, सरकारी नीति क्या है, इसे बहुत ही जिम्मेदार सरकारी नुमाइन्दों के अधिकृत बयानों से साबित किया जा सकता है।

लेकिन, इस आम नीति ने शासन व्यवस्था का रूप आधुनिक काल में ही धारण किया है। राष्ट्रीय आन्दोलन के बढ़ने और एक के बाद दूसरे वैधानिक सुधारों के आने के साथ-साथ साम्प्रदायिक फूट को बढ़ाने की कोशिशें भी बढ़ती गयी हैं। इसके लिए एक ऐसी खास तरह की चुनाव प्रणाली का उपयोग किया गया है, जिसे इन वैधानिक सुधारों के साथ जोड़ दिया गया था। यह नया क़दम सबसे पहले १९०६ में उठाया गया था। राष्ट्रीय आन्दोलन की पहली बड़ी लहर भी ठीक उसी समय देश में उठी थी।

इस विरोध की पृष्ठभूमि को समझने के लिए उस सामाजिक-आर्थिक होड़ के बीजों को देखना आवश्यक है जिसका असर हिन्दू और मुसलमान जनता पर तो नहीं, पर उठते हुए मध्य-वर्ग पर जरूर पड़ता है। बम्बई, कलकत्ता और मद्रास में, अर्थात ऐसे इलाकों में जहां हिन्दुओं का बहुमत है, उत्तर के मुस्लिम इलाकों के मुकाबले में व्यापार, व्यवसाय तथा शिक्षा का चलन बहुत पहले आरम्भ हो गया था। १८८२ में हंटर कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में कहा था कि विश्वविद्यालय की शिक्षा के मामले में मुसलमानों का अनुपात केवल ३.६५ प्रतिशत था। आज भी मुसलमानों के मुकाबले हिन्दुओं में साक्षर लोगों की संख्या कहीं ज्यादा है। इसलिए, भारतीय पूंजीपति वर्ग का उदय होने के साथ-साथ ऐसे भेदभावों के लिए परिस्थितियां तैयार हो गयीं जो बहुत आसानी से साम्प्रदायिक रूप धारण कर सकती थीं। मुसलमानों के ऊपरी वर्ग का मुख्य आधार बड़े जमींदारों में था। उनको व्यापारिक एवं औद्योगिक पूंजीपति वर्ग की उन्नति देखकर बहुत बुरा लगता था, क्योंकि उसे वे हिन्दुओं की या बनियों की उन्नति समझते थे। नये मध्य-वर्ग में भी अलग-अलग व्यापारी गुटों के बीच साम्प्रदायिक विरोध का आधार मौजूद था। इनमें मुसलमान लोग ज्यादा पिछड़े हुए थे। सरकारी नौकरियों के लिए जो प्रतियोगिता होती थी, उसमें प्रतियोगियों की शिक्षा देखी जाती थी। मुसलमान इस मामले में पीछे रह जाते

थे। फिर जब चुनाव की प्रणाली आरम्भ हुई और प्रतिनिधि संस्थाओं का विकास होने लगा, तो मुसलमानों को फिर कठिनाई महसूस होने लगी क्योंकि मताधिकार केवल शिक्षा या सम्पत्ति के आधार पर ही मिलता था; और इन दोनों चीजों में मुसलमान हिन्दुओं की बराबरी नहीं कर पाते थे। इसलिए, उनके बीच अलग निर्वाचन की मांग को बल मिला। और इस सबसे वह जमीन तैयार हो गयी जिसमें फूट के बीज बोना और अन्तर्निहित विरोधों को उकसाकर उनके सहारे एक पूरी राजनीति रच डालना, सरकार के लिए आसान हो गया।

१८९० में ही सर सैयद अहमद खां के नेतृत्व में मुसलमानों के एक दल ने मुसलमानों के लिए विशेष अधिकारों और पदों की मांग की थी। इस दल का सरकार के साथ घनिष्ठ सम्बंध था। लेकिन जिम्मेदार मुस्लिम लोकमत ने उस मांग का विरोध किया। मुस्लिम हेराल्ड नामक पत्र ने उसकी निन्दा करते हुए कहा कि यह मांग "गांवों और जिलों के सामाजिक जीवन में जहर फैला देगी और भारत को नरक बना देगी।" मामला वहीं दब गया और उस वक्त उसके बारे में कुछ और सुनने को नहीं मिला।

लेकिन १९०६ में जब अंग्रेजी सरकार को भारत के पहले व्यापक राष्ट्रीय जन-आन्दोलन का सामना करना पड़ रहा था, तब उसने एक ऐसी नीति का श्रीगणेश किया जिससे सचमुच ही "गांवों और जिलों में जहर फैल जाने वाला था और भारत नरक बन जाने वाला था।" एक मुस्लिम शिष्ट-मंडल वायसराय से मिला। उसने मांग की कि भारत में चुनाव की जो भी प्रणाली जारी की जाय, उसमें मुसलमानों के लिए अलग और ज्यादा सीटों का बन्दोबस्त रहे। वायसराय लार्ड मिंटो ने तुरन्त यह ऐलान कर दिया कि उन्होंने शिष्ट-मंडल की इस मांग को मान लिया है :

> "आपकी यह मांग बिलकुल सही है कि आप लोगों का महत्व आपकी संख्या से न आंका जाय, बल्कि आपके सम्प्रदाय के राजनीतिक महत्व को देखा जाय; और उसने साम्राज्य की जो सेवाएं की हैं, उनका खयाल रखा जाय। मैं आपसे पूरे तौर पर सहमत हूं।"

बाद में, मुस्लिम नेता मौ. मुहम्मद अली ने कांग्रेस के १९२३ के अधिवेशन के अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए कहा कि यह मुस्लिम शिष्ट-मंडल खुद सरकार के इशारे पर वायसराय से मिलने गया था। यह पूरी योजना सरकारी अफसरों के दिमागों से निकली थी, इसका कुछ संकेत लार्ड मोर्ले ने १९०६ के अन्त में लार्ड मिंटो के नाम एक पत्र में दिया था। उन्होंने लिखा था :

> "मैं आपके इस मुस्लिम झगड़े में फिर नहीं पड़ूंगा। बहुत आदर के साथ मैं सिर्फ एक बार और आपको यह याद दिलाना चाहता हूं कि

मु. (मुसलमान) खरगोश को आपने ही एक भाषण में उसके विशेषाधिकारों की बात करके दौड़ने के लिए उत्साहित किया है।"

इस तरह, साम्प्रदायिक चुनाव क्षेत्रों और साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की पूरी ऐसी प्रणाली का श्रीगणेश हो गया, जिसने हर तरह की जनवादी चुनाव प्रणाली पर कुठाराघात किया। साम्प्रदायिक संगठनों तथा साम्प्रदायिक विरोध को बढ़ावा देने के लिए इससे भी अच्छा कोई साधन हो सकता है, यह कल्पना करना कठिन है और सचमुच मुस्लिम लीग का अलग संगठन दिसम्बर १९०६ से ही कायम हो गया।

हिन्दुओं और मुसलमानों में मतभेद पैदा करने के पीछे क्या उद्देश्य था, यह सबसे अधिक स्पष्टता के साथ केवल अलग चुनाव क्षेत्रों और अलग प्रतिनिधित्व की स्थापना से ही नहीं, बल्कि इस बात से भी प्रकट हुआ कि मुसलमानों को खास तौर से ज्यादा प्रतिनिधित्व दिया गया। उनका पलड़ा भारी करने के लिए एक भारी भरकम व्यवस्था बना दी गयी। मोर्ले-मिंटो सुधारों के मातहत वोट देने का अधिकार पाने के लिए मुसलमानों के वास्ते जरूरी था कि वह कम से कम ३ हजार रुपये की आमदनी पर आय-कर देता हो, जबकि गैर-मुसलमानों के लिए कम से कम ३ लाख की आमदनी पर आय-कर देना जरूरी था। इन्हीं सुधारों के मातहत मुसलमानों को ३ साल पुराना ग्रेजुएट होने पर वोट का हक मिल जाता था, जबकि गैर-मुसलमानों के लिए ३० साल पुराना ग्रेजुएट होना जरूरी था। कुल सीटों में भी मुसलमानों को इसी तरह की रियायतें दी गयी थीं। इस तरह सरकार उस अल्पमत का समर्थन प्राप्त करने की आशा करती थी, जिसे उसने विशेष अधिकार दिये थे, और साथ ही वह सोचती थी कि इससे बहुमत वाले लोग सरकार के बदले इस अल्पमत पर अपना गुस्सा उतारेंगे।

बाद में जो और वैधानिक योजनाएं बनीं, उनमें यह व्यवस्था और व्यापक बनायी गयी। चरम सीमा १९३५ में पहुंची। १९३५ के कानून में न सिर्फ मुसलमानों के लिए, बल्कि सिखों, एंग्लो-इंडियन लोगों, भारतीय ईसाइयों, दलित वर्गों तथा योरोपियनों, जमींदारों और उद्योगपतियों आदि के लिए भी अलग-अलग चुनाव क्षेत्रों की व्यवस्था कर दी गयी। संघीय धारासभा में कुल २५० सीटें रखी गयी थीं। उनमें से ८२ यानी एक-तिहाई मुसलमानों के लिए सुरक्षित थीं, हालांकि मुसलमानों की आबादी देश की कुल आबादी की चौथाई से भी कम थी। दूसरी ओर, आबादी के अधिकतर भाग के लिए केवल १०५, यानी ४० प्रतिशत "आम सीटें" रखी गयी थीं और इनमें से भी १९ सीटें अछूतों के लिए सुरक्षित थीं।

चुनाव के मामले में जो नीति बरती जा रही थी, उसी के अनुरूप नीति

पूरे शासन प्रबंध में बरती जा रही थी। इस चुनाव नीति का परिणाम यह हुआ कि साम्प्रदायिक विरोध हद से ज्यादा बढ़ गया।

साम्प्रदायिक विरोधों को इसलिए बढ़ाया जाता था ताकि शोषण की व्यवस्था और साम्राज्यवादी शासन की रक्षा की जा सके। लेकिन उनके पीछे कुछ सामाजिक और आर्थिक प्रश्न भी थे। जब मध्यवर्गी सम्प्रदायवादी सरकारी पद या नौकरी के लिए होड़ करता है, तब यह बात साफ तौर पर देखी जा सकती है। लेकिन जहां साम्प्रदायिक कठिनाइयां जनता तक पहुंच गयी हैं, वहां भी यह बात इतनी ही साफ दिखायी देती है। बंगाल और पंजाब के हिन्दुओं में ज्यादा धनी जमींदार, व्यापारी और महाजन भी शामिल हैं, जब कि मुसलमान प्राय: गरीब किसानों और महाजनों के कर्जदार होते हैं। दूसरे इलाकों में हिन्दू किसानों के बीच बड़े जमींदारों के रूप में मुसलमान पाये जाते है। यह बात बार-बार देखने में आयी है कि जिसे "साम्प्रदायिक" झगड़ा या "साम्प्रदायिक" विद्रोह कहा गया है, उसके पीछे हिन्दू जमींदारों के खिलाफ मुसलमान किसानों का कोई संघर्ष, या हिन्दू महाजनों के खिलाफ मुसलमान कर्जदारों की कोई लड़ाई, अथवा हड़ताल तोड़ने के लिए बाहर से लाये गये पठानों के खिलाफ हिन्दू मजदूरों का कोई संघर्ष छिपा रहता है। यह बात भी मतलब से खाली नहीं है कि जब कभी किसी औद्योगिक केन्द्र में मजदूर आगे बढ़ते हैं, तो कुछ गुमनाम लोग तुरन्त साम्प्रदायिक दंगे करा देते हैं और फिर पुलिस मजदूरों को गोलियों से भूनती हुई मैदान में आ उतरती है। बम्बई में १६२६ की महान हड़ताल के बाद यही हुआ। कानपुर में १६३८ की विजयी हड़ताल के बाद १६३६ में यही हथकंडा चलाया गया। प्रतिक्रियावादियों की चाल और उसका सामाजिक-आर्थिक उद्देश्य स्पष्ट था। उनका उद्देश्य था मजदूरों की एकता को छिन्न-भिन्न कर देना।

भारत की हिन्दू और मुसलमान जनता के दो अलग-अलग लक्ष्य नहीं है और न हो सकते हैं। मुसलमानों की गरीबी और गुलामी तथा हिन्दुओं की गरीबी और गुलामी अलग-अलग चीजें हैं। गरीबी और गुलामी भारत के सभी लोगों के लिए एक सी है। भारत के लाखों गांवों में, मुल्क के ज्यादातर हिन्दू और ज्यादातर मुसलमान एक समान ही जमींदारी प्रथा के बोझ के नीचे कराह रहे हैं, एक से महाजनों द्वारा लूटे जा रहे हैं, एक से साम्राज्यवाद के नीचे पिस रहे हैं; और इन दोनों के बीच फूट डालने की कोशिशें, वास्तव में, शोषण की इस व्यवस्था को कायम रखने की कोशिशें हैं।

साम्प्रदायिक समस्या का अन्तिम हल सामाजिक एवं आर्थिक प्रगति के पथ पर आगे बढ़कर ही हो सकता है। मजदूर यूनियनों और किसान सभाओं में हिन्दू और मुसलमान अपने सारे भेदभाव भूलकर शामिल होते हैं (और

वहां वे कभी अलग चुनाव क्षेत्रों की जरूरत महसूस नहीं करते)। वर्गीय एकता और एक जैसी सामाजिक तथा आर्थिक आवश्यकताएं जाति और सम्प्रदाय की बनावटी सीमाओं को तोड़ डालती हैं। इसी से यह स्पष्ट है कि साम्प्रदायिक समस्या को हल करने का अन्तिम और ठोस मार्ग क्या है। जनता के हितों के आधार पर जब जन-आंदोलन आगे बढ़ेगा और साधारण जनवादी आंदोलन की प्रगति होगी, तभी साम्प्रदायिक विरोध भी अन्तिम और पूर्ण रूप से समाप्त किये जा सकेंगे।

लेकिन, इसके साथ-साथ समस्या का पूर्णतया जनवादी हल निकालने के लिए अलग-अलग क्षेत्रों अथवा जातियों के स्वायत्त शासन या आत्म-निर्णय के अधिकार के दावों के नये उठते हुए सवालों पर विचार करना भी आवश्यक है। हाल के जमाने में ये सवाल अस्थायी तौर पर हिंदू-मुस्लिम सवाल के साथ उलझ गये थे। मुस्लिम लीग का बढ़कर एक जन-संगठन बन जाना और पाकिस्तान के अलग राज्य की मांग करना, और अंत में माउंटबैटन योजना के द्वारा भारत का बंटवारा हो जाना और पाकिस्तान के डोमीनियन का बन जाना—इन तमाम बातों के पीछे भी इन्हीं सवालों की झलक मिलती है।

३. बहु-जातीयता और पाकिस्तान

बहु-जातीयता और पाकिस्तान के सबसे ताजा सवालों पर आने से पहले संक्षेप में मुस्लिम लीग के विकास तथा कांग्रेस-लीग सम्बन्धों के इतिहास पर एक नजर डाल लेना जरूरी है।

मुस्लिम लीग की स्थापना दिसम्बर १६०६ में हुई थी। कांग्रेस की ही तरह मुस्लिम लीग की स्थापना में भी अंग्रेजों की नीति का काफी बड़ा हाथ था। उस समय एक अंग्रेज अफसर ने वायसराय लार्ड मिंटो को लिखा था:

> "हुजूर लाट साहब की खिदमत में यह रिपोर्ट करना जरूरी है कि आज एक बहुत ही बड़ी घटना हो गयी। राजनीतिक दूरदर्शिता का एक ऐसा कमाल हुआ जो भारत और उसके इतिहास पर बरसों तक असर डालता रहेगा। यह काम इसके सिवा और कुछ नहीं है कि ६ करोड़ २० लाख लोगों (मुसलमानों) को राजद्रोही और विरोधी पक्ष (कांग्रेस) में मिल जाने से रोक दिया गया है।"

लेडी मिंटो ने (अपनी पुस्तक भारत, मिंटो और मोर्ले में) लिखा है कि लंदन की सरकार का भी यही विचार था।

अपने शुरू के वर्षों में मुस्लिम लीग एक ऐसी संकुचित सम्प्रदायवादी

संस्था थी, जो मुख्यतया ऊपरी वर्ग के मुसलमान जमींदारों को आकर्षित करती थी। लेकिन, जैसा कि कांग्रेस में हुआ, उसी तरह मुस्लिम लीग में भी कुछ दिनों के बाद साम्राज्य-विरोधी राष्ट्रीय भावना अपना प्रभाव दिखाने लगी। १९१३ के आते-आते मुस्लिम लीग ने भारत के लिए "साम्राज्य के अंदर स्वराज्य" प्राप्त करना और इस उद्देश्य के लिए "दूसरे सम्प्रदायों के साथ सहयोग करना" अपना लक्ष्य घोषित कर दिया। मुस्लिम लीग और कांग्रेस के बीच समझौते की बातचीत शुरू हो गयी और १९१६ में कांग्रेस-लीग एकता का लखनऊ-पैक्ट भी हो गया। इस समझौते में अलग-अलग चुनाव क्षेत्रों की व्यवस्था को मानने के साथ-साथ यह ऐलान भी किया गया था कि दोनों संस्थाओं का समान उद्देश्य डोमीनियन स्टेटस है, जिसे प्राप्त करने के लिए दोनों कोशिशें करेंगी। लखनऊ में कांग्रेस और लीग का एक संयुक्त अधिवेशन हुआ। कांग्रेस के अधिवेशन में लोकमान्य तिलक ने कहा :

> "सज्जनो, कुछ लोगों का कहना है कि हम हिंदू अपने मुसलमान भाइयों के सामने जरूरत से ज्यादा झुक गये हैं। मेरा विश्वास है कि मैं देश के तमाम हिन्दुओं की तरफ से यह कह सकता हूं कि हमारा जरूरत से ज्यादा झुक जाना असम्भव था।...जब हमें एक तीसरे पक्ष से लड़ना है तो यह एक बहुत बड़ी बात है, यह एक बड़ी महत्वपूर्ण घटना है कि आज हम इस मंच पर एक साथ खड़े हुए हैं। आज इस मंच पर नस्ल की एकता है, धर्म की एकता है और विभिन्न राजनीतिक विचारों की एकता है।"

इसी प्रकार लीग के नेता मि. जिन्ना ने, जिन्होंने उस समय कांग्रेस-लीग एकता के लिए बड़ी कोशिश की थी, लीग के अधिवेशन में अध्यक्ष-पद से कहा :

> "मैं जिंदगी भर पक्का कांग्रेसी रहा हूं और साम्प्रदायिक नारों से मुझे कभी प्रेम नहीं रहा है। लेकिन मुझे लगता है कि मुसलमानों पर कभी-कभी अलगाव की जो तोहमत लगायी जाती है, वह बिलकुल गैर-वाजिब और गलत है, खास तौर पर जब मैं देखता हूं कि यह महान साम्प्रदायिक संस्था संयुक्त भारत के जन्म के लिए तेजी के साथ एक बड़ी ताकत बनती जा रही है।"

पहले महायुद्ध के बाद जो जबर्दस्त उभार आया, उसमें हिंदू-मुस्लिम एकता और मजबूत हुई। गांधी जी के नेतृत्व में कांग्रेस और अली भाइयों की रहनुमाई में खिलाफत कमेटी के बीच संयुक्त मोर्चा स्थापित हो गया। खिलाफत कमेटी लड़ाकू मुस्लिम नेताओं का संगठन थी। दोनों संस्थाओं ने मिलकर स्वराज्य प्राप्त करने के लिए सरकार के खिलाफ संघर्ष का मोर्चा तैयार किया। सड़कों पर हिंदू-मुस्लिम एकता के स्वागत में उत्साहपूर्ण जन

प्रदर्शन होने लगे। १६१६ की सरकारी रिपोर्ट को मजबूर होकर यह कहना पड़ा कि "हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच अभूतपूर्व भाईचारा कायम हो गया है...मेल-मिलाप के असाधारण दृश्य दिखायी देने लगे हैं।"

राष्ट्रीय संघर्ष के इस महान युग में कांग्रेस के साथ-साथ मुस्लिम नेताओं तथा मुस्लिम जनता ने भी अपने लड़ाकूपन का परिचय दिया। मौलाना हुसैन अहमद मदनी और अली-बंधुओं ने फौजियों में राजद्रोह का प्रचार किया और इसके लिए उन्हें छः बरस कैद की सजा सुना दी गयी। मलाबार के मोपला किसान अपने-आप ही जमींदारों तथा साम्राज्यवादियों के अत्याचार के खिलाफ उठ खड़े हुए। उन्होंने निडर होकर लड़ाई लड़ी और आश्चर्यजनक वीरता तथा संघर्ष की क्षमता और त्याग का परिचय दिया।

यह मांग सबसे पहले खिलाफती नेताओं ने उठायी थी कि स्वराज्य का मतलब पूर्ण स्वतंत्रता समझा जाय। मौ. हसरत मोहानी ने १६२१ में कांग्रेस के अहमदाबाद अधिवेशन में यह मांग की थी। और यह बात उल्लेखनीय है कि उसका विरोध गांधी जी ने किया था और यह कहा था कि "इस मांग से मुझे सदमा हुआ है, क्योंकि उससे गैर-जिम्मेदारी की भावना प्रकट होती है।"

इसी प्रकार, १६१६ में मुस्लिम लीग ने अपने अमृतसर अधिवेशन में यह प्रस्ताव पास किया था कि भारत के मुसलमानों को फौज में भर्ती नहीं होना चाहिए।

जून १६२२ में लखनऊ में खिलाफत कमेटी और जमीयतुल-उलेमा का एक मिला-जुला अधिवेशन हुआ। उसने यह प्रस्ताव पास किया कि भारत तथा मुसलमानों के सर्वोत्तम हितों का तकाजा यह है कि कांग्रेस के लक्ष्य में "स्वराज" शब्द के स्थान पर "पूर्ण स्वतंत्रता" शब्द रखे जायें।

दुर्भाग्य से, उन दिनों कांग्रेस के नेताओं ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। उनका कहना था कि यह तो "कांग्रेस के विधान में एक मौलिक परिवर्तन" कर देगा।

लेकिन कांग्रेस और खिलाफत के आंदोलन में जो एकता कायम हुई थी, वह कायम नहीं रही। गांधी जी के नेतृत्व में कांग्रेस ने आंदोलन को यकायक बीच में ही रोक दिया और उससे आपस में फूट पड़ गयी। जब गांधी जी ने फरवरी १६२२ में असहयोग आंदोलन बन्द किया, तो खिलाफत कमेटी के सभी नेताओं ने इस तरह से संघर्ष रोक देने का विरोध किया था।

इसके बाद जो निराशा का युग आया, उसने फिर कांग्रेस और लीग के अलगाव तथा हिंदुओं और मुसलमानों के विरोध का रास्ता खोल दिया। साम्राज्यवादियों ने इस सुअवसर से पूरा-पूरा फायदा उठाया। अगले कुछ वर्षों में यह देखने में आया कि पहले जहां आजादी के लिए संयुक्त लड़ाई लड़ी

जाती थी, वहां अब जबर्दस्त साम्प्रदायिक दंगे होने लगे हैं। सम्प्रदायवादी प्रतिक्रियावाद ने जोर पकड़ लिया। १९२५ में मुस्लिम लीग के विरोध में हिंदू महासभा अखिल भारतीय पैमाने पर बनायी गयी। उसके अध्यक्ष लाला लाजपत राय हुए। १९२७ में कांग्रेस और मुस्लिम लीग ने मिलकर साइमन कमीशन का बहिष्कार किया, मगर १९२८ के सर्व-दली सम्मेलन में समझौता कराने की नयी कोशिशें नाकाम रहीं।

इस तरह, जब १९३५ के नये विधान के मातहत पहली बार कुछ अधिक व्यापक मताधिकार के आधार पर प्रान्तीय धारासभाओं के चुनाव १९३७ में हुए, तो कांग्रेस और लीग आमने-सामने मैदान में उतरीं। आम सीटों में से ज्यादातर और प्रांतों की साधारण धारासभाओं की कुल सीटों में से लगभग आधी सीटें कांग्रेस को मिलीं, लेकिन मुस्लिम सीटों में उसे विशेष सफलता नहीं मिली। कुल १,५८५ आम सीटों में से ७१५ कांग्रेस को मिलीं, लेकिन ४८२ मुस्लिम सीटों में से उसने केवल ५८ के लिए चुनाव लड़ा और उनमें से भी महज २६ ही वह ले पायी (जिनमें से १५ उसे सरहदी सूबे में और ११ सीटें बाकी देश में मिलीं)। दूसरी ओर मुसलमानों के अलग-अलग दलों और हिस्सों में चूंकि गहरी फूट थी, इसलिए मुस्लिम लीग को बहुत कम सफलता मिली। उसे कुल मुसलमान वोटों का केवल ४.६ प्रतिशत भाग ही मिल सका। (चुनाव में कुल मुसलमान वोट ७,३१९,४४५ थे; उनमें से उस समय मुस्लिम लीग को केवल ३२१,७७२ मिले।)

१९३७ के चुनाव के बाद मुस्लिम नेताओं ने गैर-रस्मी तौर पर कांग्रेस के नेताओं से प्रान्तीय मंत्रि-मंडलों के विषय में समझौता करने की कोशिश की। मंत्रि-मंडलों में सीटों का बंटवारा कैसे हो, इस पर बात चलायी गयी। लेकिन कांग्रेस उस समय यह समझती थी कि उसका पाया मजबूत है। उसने लीग का प्रस्ताव ठुकरा दिया। उसने दावा किया कि कांग्रेस पूरे देश कि प्रतिनिधि है और लीग की कोई राजनीतिक भूमिका नहीं है। जनवरी १९३७ में पं. जवाहरलाल नेहरू ने मि. जिन्ना को एक पत्र में लिखा :

> "अन्तिम विश्लेषण में भारत में आज केवल दो ही शक्तियां हैं—ब्रिटिश साम्राज्यवाद और भारतीय राष्ट्र की प्रतिनिधि कांग्रेस।... मुस्लिम लीग कुछ मुसलमानों के एक दल का प्रतिनिधित्व करती है, जिसमें निस्सन्देह बड़े काबिल लोग हैं, लेकिन उसका काम केवल ऊपरी मध्य-वर्गों के हलकों तक ही सीमित है और उसका मुस्लिम जनता से कोई आम सम्पर्क नहीं है और निम्न मध्य-वर्ग से तो बहुत कम सम्पर्क है।"

इसके बाद कांग्रेस और लीग का झगड़ा बढ़ता तेजी से बढ़ता गया। मि. जिन्ना के कुशल नेतृत्व में लीग ने अपना संगठन मजबूत बनाना और मुस्लिम

जनता में अपनी जड़ें फैलाना शुरू किया। उसने अलग-अलग बिखरे पड़े विभिन्न मुस्लिम दलों और संगठनों को अपने में मिला लेने की कोशिश की ताकि मुस्लिम लीग भारत के मुसलमानों की मुख्य संस्था बन जाय। यह नीति असफल नहीं रही। १९३७ और १९४५ के बीच मुस्लिम लीग की स्थिति और उसकी तुलनात्मक शक्ति में एक निर्णायक परिवर्तन हो गया। मुस्लिम जनता अधिकाधिक संख्या में उसका समर्थन करने लगी। १९२७ में मुस्लिम लीग के सदस्यों की कुल संख्या केवल १,३३० थी। लीग द्वारा प्रकाशित आंकड़ों के अनुसार वह संख्या १९३८ में लाखों तक पहुंच गयी और १९४४ में तो लीग ने यह दावा किया कि उसके मेम्बरों की तादाद बीस लाख हो गयी है। १९४६ के आम चुनावों में यह बदली स्थिति स्पष्ट हो गयी। केन्द्रीय और प्रान्तीय धारासभाओं के चुनावों में कुल ५३३ मुस्लिम सीटों में से ४६० पर लीग ने कब्जा जमा लिया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस दौर में मुस्लिम लीग भारत के मुसलमानों की मुख्य राजनीतिक संस्था बन गयी थी।

इस काल में मुस्लिम लीग का जनता पर असर बढ़ने के क्या कारण थे? इसके कई कारण दिखायी देते हैं।

एक तो यह कि पिछले दस साल की राजनीतिक हलचल का असर यह हुआ था कि जनता के नये हिस्से, जो अभी तक पिछड़े हुए थे, राजनीति में खिंच आये थे, और उनमें राजनीतिक चेतना अपने प्राथमिक रूप में पैदा हो गयी थी। इस काल में कांग्रेस और लीग दोनों की ताकत तेजी से बढ़ी थी। १९३५-३६ और १९३८-३९ के बीच कांग्रेस के सदस्यों की संख्या पहले से नौ-गुनी हो गयी और ४४ लाख तक पहुंच गयी। लेकिन इनमें मुसलमानों की संख्या बहुत कम थी। जनवरी १९३८ में पं. नेहरू ने एक बयान में बताया था कि कांग्रेस के ३१ लाख मेम्बरों में से केवल १ लाख, यानी ३.२ प्रतिशत मुसलमान हैं। जिन मुसलमानों में नयी-नयी राजनीतिक चेतना पैदा हुई थी, उनमें से ज्यादातर मुस्लिम लीग को अपना राजनीतिक संगठन मानते थे।

दूसरे, खुद मुस्लिम लीग के अन्दर नौजवानों और उग्रवादियों का एक ऐसा दल पैदा हो गया था जो एक जनवादी कार्यक्रम को लेकर आगे बढ़ रहा था और जिसका ऊपर के प्रतिक्रियावादी नेता विरोध कर रहे थे। कुछ जिलों और प्रान्तों में, जैसे पंजाब और बंगाल में, ये नौजवान लोग जनता के सामाजिक और आर्थिक सवालों पर सक्रिय रूप से प्रचार कर रहे थे और उसके जरिये गरीब मुसलमान जनता का समर्थन प्राप्त कर रहे थे। इस नीति की सफलता १९४६ में हुए पंजाब के चुनाव में प्रकट हुई, जहां मुस्लिम लीग के हमले के सामने पुरानी जमी हुई यूनियनिस्ट पार्टी, जो पहले बहुत प्रभावशाली थी, भरभरा कर गिर पड़ी।

तीसरे, मुस्लिम लीग का जनता पर जो असर बढ़ा और कांग्रेस के अन्दर जो बहुत कम मुसलमान आये, उससे कांग्रेस की कुछ राजनीतिक, संगठनात्मक और कार्यनीति सम्बंधी कमजोरियां भी असंदिग्ध रूप से प्रकट हो जाती हैं। कांग्रेस का बुनियादी लक्ष्य यह था कि हिन्दू और मुसलमान दोनों उसके संगठन में आयें। लेकिन व्यवहार में, कांग्रेस मेम्बरों के सम्बंध में, यह लक्ष्य कभी पूरा नहीं हुआ। हम यह देख चुके हैं कि १९२२ में जब असहयोग आन्दोलन अपने शिखर पर था, तब उसे यकायक रोक देने से उस एकता पर जबर्दस्त आघात हुआ था, जो कांग्रेस और खिलाफत कमेटी के संयुक्त मोर्चे से कायम हुई थी। प्रान्तों में कांग्रेसी मंत्रिमंडल बनने के काल में लीग ने समझौते का प्रस्ताव किया। मगर कांग्रेस ने उसे ठुकरा दिया, क्योंकि उस समय लीग की शक्ति को कांग्रेस बहुत कम करके आंकती थी। बाद में यह चीज लीग के हाथ में जबर्दस्त कांग्रेस-विरोधी प्रचार करने का साधन बन गयी। युद्ध के काल में और उसके ठीक पहले राजनीतिक परिस्थिति बहुत उलझी हुई थी। इस काल में कांग्रेस के नेताओं ने हद दर्जे की उलझनों, विरोधी प्रवृत्तियों और ढुलमुलपन का परिचय दिया। (सुभाष बाबू पहले कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये, फिर कांग्रेस से ही निकाल दिये गये। जब युद्ध का रूप साम्राज्यवादी था, तब निष्क्रियता की नीति बरती गयी। उस समय कांग्रेस के नेताओं ने यह रुख अपनाया कि हम न तो युद्ध-उद्योग की मदद करेंगे और न उसका विरोध करेंगे। फिर व्यक्तिगत सत्याग्रह आरम्भ किया गया। और जब जापानी बढ़ते चले आ रहे थे, तब वह मशहूर अगस्त प्रस्ताव पास किया गया, जिसके बाद सभी नेता पकड़े लिये गये और कठिन गैर-कानूनी परिस्थितियां पैदा हो गयीं और वे छिटपुट उपद्रव शुरू हो गये जिनको बाद में राष्ट्रीय संग्राम के रूप में सराहा गया।) लड़ाई का जमाना आर्थिक कठिनाइयों और अकाल का जमाना था, मगर कांग्रेस के नेताओं ने उस वक्त इन मुसीबतों से छूटने के लिए जनता की रहनुमाई नहीं की। इसके परिणामस्वरूप युद्ध के अन्तिम दिनों में राजनीतिक विशृंखलता पैदा हो गयी और जनता में कुछ पस्ती आ गयी और इस तरह इस काल में संयुक्त राष्ट्रीय आन्दोलन का आकर्षण कमजोर हो गया।

मुस्लिम लीग के विकास के पीछे सबसे बड़ी बात यह थी कि कांग्रेस ने मुस्लिम जनता तक पहुंचने और उसे अपने साथ लाने की गम्भीर और लगातार कोशिश नहीं की। इसका सबूत यह था कि सरहदी सूबे में, जहां पर खान अब्दुल गफ्फार खां के नेतृत्व में खुदाई खिदमतगारों ने जनता के बीच गम्भीरतापूर्वक काम किया, वहां बिलकुल दूसरी परिस्थिति थी। वहां मुसलमान मजबूती के साथ कांग्रेस में थे। इस बात से भी इंकार नहीं किया जा सकता

कि कांग्रेस का कार्यक्रम हालांकि असाम्प्रदायिक था और बहुत से प्रमुख देश-भक्त मुसलमान उसमें शरीक थे, फिर भी उसके बहुत से प्रचार में, खास तौर पर दक्षिणपंथी नेताओं तथा गांधी जी के प्रचार में, हिन्दू धर्म की गहरी पुट मिली रहती थी, जो मुसलमान जनता को कांग्रेस की ओर नहीं खींचती थी।

इसकी बहुत बड़ी जिम्मेदारी राष्ट्रीय आंदोलन के प्रमुख नेताओं पर है। हम देख चुके हैं कि पहले महायुद्ध के पूर्व भारत में राष्ट्रीय जागरण की जो पहली बड़ी लहर आयी थी, उसके नेता तिलक, अरविन्द घोष, आदि ने हिन्दू धर्म को अपने प्रचार का आधार बनाया था और राष्ट्रीय नव-जागरण को हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान से मिला देने का प्रयत्न किया था। इसका नतीजा यह हुआ कि मुस्लिम जनता राष्ट्रीय आन्दोलन से कट कर अलग हो गयी और सरकार के लिए यह रास्ता खुल गया कि वह १९०६ में मुस्लिम लीग को जन्म देकर एक नया मुहरा खड़ा कर ले।

और यह भयानक भूल पुराने जमाने के राष्ट्रवादियों या तथाकथित "उग्रपंथियों" तक ही सीमित नहीं रही। आधुनिक काल में भी इस भूल का सिलसिला जारी रहा। गांधी जी के पूरे प्रचार और आन्दोलन पर उसकी गहरी छाप थी। गांधी जी के सारे प्रचार में उनकी धार्मिक धारणाएं तथा हिन्दू धर्म और राजनीतिक उद्देश्यों का प्रचार बुरी तरह उलझा हुआ था। १९२०-२२ में जब असहयोग आन्दोलन अपने चरम शिखर पर था और गांधी जी संयुक्त राष्ट्रीय आंदोलन के नेता थे, और जब उन पर यह जिम्मेदारी आती थी कि वह जो कहें, वह एक संयुक्त आंदोलन के नेता के योग्य हो, उस समय उन्होंने ऐलान किया था कि वह "सनातनी हिन्दू" हैं। उनके शब्द ये थे :

"मैं सनातनी हिन्दू हूं, क्योंकि—

"(१) मैं वेद, उपनिषद, पुराण और समस्त हिन्दू शास्त्रों में विश्वास करता हूं और इसलिए पुनर्जन्म तथा अवतारों में भी मेरा विश्वास है।

"(२) मैं वर्णाश्रम धर्म में विश्वास करता हूं—उस रूप में, जो मेरी राय में सर्वथा वेद-सम्मत रूप है, न कि उसके मौजूदा प्रचलित और भोंडे रूप में।

"(३) मैं प्रचलित अर्थ से कहीं अधिक व्यापक अर्थ में गो-रक्षा में विश्वास करता हूं

"(४) मूर्ति-पूजा में मुझे अविश्वास नहीं है।"

"सनातनी" शब्द का साधारण जनता क्या अर्थ लगाती है, यह जानने के लिए पं. नेहरू के शब्दों का स्मरण कर लेना काफी है :

> "पीछे की तरफ चलने की इस होड़ में...हिन्दू महासभा को मात करने वाले सनातनी हैं जिनमें हद दर्जे के मजहबी दकियानूसीपन के साथ-साथ अंग्रेजी सरकार के प्रति बहुत तीव्र, या कम से कम बहुत बुलन्द आवाज में प्रकट की जाने वाली राज भक्ति भी होती है।"

हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए अपील करते हुए भी, गांधी जी एक ऐसे राष्ट्रीय नेता के रूप में नहीं बोलते थे जो दोनों संप्रदायों में एक होने की भावना पैदा करता हो। वह एक हिन्दू नेता के रूप में बोलते थे, जो हिन्दुओं को "हम लोग" कहता था, और मुसलमानों को "वे लोग"। गांधी जी ने एक बार कहा था :

> "यदि हमें मुसलमानों के दिलों को जीतना है, तो हमें आत्म-शुद्धि के लिए तपस्या करनी होगी।"

आधुनिक राष्ट्रीय आन्दोलन के काल में भी, गांधी जी किसी भी समय कांग्रेस की राजनीति को छोड़कर हिन्दू धर्म में सुधार का आन्दोलन आरम्भ कर सकते थे (जैसा कि उन्होंने १९३२-३३ में, आंदोलन के संकटकाल में किया था); और धार्मिक सुधारों के आंदोलन को छोड़ कर फिर कांग्रेस की राजनीति में आ सकते थे।

इस प्रकार, जो कांग्रेस का माना हुआ नेता था और जिसे जनता कांग्रेस का मुख्य प्रतिनिधि समझती थी, वह सदा हिन्दू धर्म तथा हिन्दू-पुनरुत्थान के एक सक्रिय नेता के रूप में लोगों के सामने आता रहता था। तब क्या आश्चर्य है यदि ऐसी परिस्थिति में और कांग्रेस के ऐसे नेताओं तथा ऐसे प्रचार के होते हुए केवल शत्रु-आलोचक ही नहीं, बल्कि साधारण जनमत का भी एक बड़ा भाग कांग्रेस को "हिन्दू आन्दोलन" समझता था। और जहां यह बात सही है कि इस मामले में मुख्य दोष गांधी जी का था, वहां यह बात भी सच है कि कांग्रेस के बहुत से छोटे नेता, खासकर गांधीवाद से प्रेरणा लेने वाले नेता, इन्हीं तरीकों का प्रयोग करते थे। यदि इस सबके बाद भी कुछ चुने हुए मुस्लिम नेता सदा कांग्रेस के साथ बने रहे, तो इसका श्रेय उनकी राष्ट्रवादिता को है। लेकिन, इन तरीकों के चलते आम मुसलमान जनता कांग्रेस के साथ नहीं आ सकती थी।

इसमें सन्देह नहीं कि अंग्रेजी सरकार ने साम्प्रदायिक भेदभाव से फायदा उठाकर जनता के आन्दोलन के खिलाफ एक बहुत घृणित अस्त्र का उपयोग किया। मगर साथ ही यह बात भी सही है कि यह अस्त्र अंग्रेजी सरकार के हाथों में तिलकवाद और गांधीवाद ने दिया था।

लेकिन इन सबके अलावा एक और खास कारण है जिससे जनता पर मुस्लिम लीग का, खास तौर पर १९४० में, पाकिस्तान का कार्यक्रम स्वीकार कर लेने के बाद प्रभाव बढ़ा। पाकिस्तान के कार्यक्रम पर विस्तार से हम बाद में विचार करेंगे। शुरू-शुरू में उसके द्वारा यह मांग की गयी थी कि उत्तर-पश्चिमी और उत्तर-पूर्वी भारत के उन इलाकों में, जहां मुसलमानों का बहुमत है, अलग से प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य स्थापित किये जायें। बाद में यह मांग बढ़कर छः सूबों के एक अलग स्वतंत्र मुस्लिम राज्य की मांग बन गयी। इस कार्यक्रम की आलोचना के लिए बहुत मजबूत दलीलें थीं। लेकिन हाल के जमाने में जिस तरह यह कार्यक्रम राजनीति में सामने आया और इन इलाकों की मुसलमान जनता ने उसका जिस तरह समर्थन किया, उससे प्रकट होता है कि बहुत उलझे हुए रूप में ही सही, पर यह कार्यक्रम एक हद तक जनता की सच्ची भावनाओं और आकांक्षाओं को व्यक्त करता था। पाकिस्तान की मांग और जनता से उसको जो जबर्दस्त समर्थन मिला, उसके पीछे भारत के राष्ट्रीय जीवन में एक नये तत्व को काम करते देखा जा सकता था।

जैसे-जैसे राष्ट्रीय आन्दोलन जनता में फैल रहा था, वैसे-वैसे वह राष्ट्रीय चेतना के नये रूपों को धरातल पर ला रहा था। भारतीय कौम के विभिन्न जातीय तत्व इन रूपों में प्रकट हो रहे थे। जिन जातीय समूहों में मुस्लिम धर्म की प्रधानता थी उनमें, खास तौर पर उत्तर-पश्चिमी तथा उत्तर-पूर्वी भारत के जातीय समूहों में, एक हद तक पाकिस्तान का नारा इस नयी बढ़ती हुई राष्ट्रीय चेतना को एक विकृत रूप में व्यक्त करता था। स्तालिन ने १९१२ में ही यह बात देख ली थी कि राष्ट्रीय आंदोलन के बढ़ने के साथ-साथ भारतीय कौम का बहु-जातीय स्वरूप अधिकाधिक स्पष्ट होता जायगा। उन्होंने लिखा था :

> "सम्भवतः भारत में भी हम देखेंगे कि ये असंख्य जातियां जो अभी सोती रही हैं, पूंजीवादी विकास के आगे बढ़ने पर जाग उठेंगी।"

साम्राज्यवाद के खिलाफ स्वतंत्रता के संघर्ष में भारतीय जनता को एकता की आवश्यकता थी। भविष्य का स्वतंत्र भारत आर्थिक तथा राजनीतिक दृष्टि से संयुक्त रहे, यह निस्सन्देह एक प्रगतिशील उद्देश्य था। लेकिन इन दोनों बातों का यह मतलब नहीं कि हम भारतीय कौम को कोई एकरूप इकाई समझ बैठें। बल्कि आवश्यकता इस बात की है कि हम भारतीय कौम के बहु-जातीय स्वरूप को स्वीकार करें। जिस समय कांग्रेस ने अंग्रेजों के मनमाने ढंग से बनाये हुए प्रान्तों की जगह पर सांस्कृतिक और भाषावार प्रान्तों को मान्यता दी थी, और जब उसने यह माना था कि भविष्य में स्वतंत्र भारत के विधान में इन प्रान्तों को स्वायत्त शासन का पूरा-पूरा अधिकार मिलेगा, तब

कांग्रेस ने वास्तव में इन जातीय समूहों को ही आंशिक रूप से स्वीकार किया था। लेकिन इस काल में कांग्रेस ने इन समूहों के जातीय स्वरूप को नहीं माना और उनको आत्म-निर्णय का पूर्ण अधिकार देने का विरोध किया।

मगर भारतीय कौम के बहु-जातीय स्वरूप का यह सवाल और मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की मांग, दो बिलकुल अलग-अलग चीजें हैं और उनके भेद को समझना अत्यन्त आवश्यक है।

पाकिस्तान की मांग को मुस्लिम लीग ने पहले-पहल १९४० में अपनाया था, हालांकि उस वक्त उसे यह नाम नहीं दिया गया था। इसके पहले, जब १९३० में कवि इकबाल ने और १९३३ में कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के कुछ विद्यार्थियों ने यह प्रस्ताव रखा था, तो मुस्लिम लीग के राजनीतिक नेताओं ने उसे ठुकरा दिया था। १९३३ में वैधानिक सुधारों की संयुक्त समिति के सामने बयान देते हुए उन्होंने कहा था कि यह "विद्यार्थियों का सपना," "अव्यावहारिक" और "हवाई उड़ान" है। १९३७ में भी मुस्लिम लीग के वार्षिक अधिवेशन में यह लक्ष्य स्वीकार किया गया था कि लीग "भारत में स्वतंत्र जनवादी राज्यों के एक संघ के रूप में पूर्ण स्वतंत्रता की स्थापना" के लिए काम करेगी। लेकिन १९४० में लीग के लाहौर अधिवेशन ने यह प्रस्ताव पास किया :

> "फैसला किया जाता है कि अखिल भारतीय मुस्लिम लीग के इस अधिवेशन की राय में कोई वैधानिक योजना उस वक्त तक इस देश में कार्यान्वित नहीं की जा सकती, या मुसलमानों को मंजूर नहीं हो सकती जब तक कि वह नीचे लिखे बुनियादी सिद्धान्तों के अनुसार नहीं बनायी जाती : भौगोलिक दृष्टि से एक दूसरे से सटी हुई इकाइयों को अलग करके और उनमें आवश्यक सीमा परिवर्तन करके ऐसे प्रदेश बना दिये जायें कि जिन क्षेत्रों में संख्या की दृष्टि से मुसलमानों का बहुमत हो—जैसे कि भारत के उत्तर-पश्चिमी और उत्तर-पूर्वी क्षेत्र—उन मुस्लिम बहुमत के क्षेत्रों को मिलाकर ऐसे स्वतंत्र राज्यों की स्थापना की जाय, जिनमें शामिल इकाइयों को स्वायत्त शासन का अधिकार तथा पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त होगी।"

बाद में इस बहुत अस्पष्ट प्रस्ताव की व्याख्या की गयी। १० दिसम्बर १९४५ को मि. जिन्ना ने लीग की मांग की इन शब्दों में व्याख्या की :

> "भारत का गतिरोध उतना ज्यादा भारत और अंग्रेजों के बीच में नहीं है। वह असल में हिन्दू कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच में है...जब तक पाकिस्तान नहीं दिया जाता, तब तक कोई चीज हल

नहीं हो सकती...। एक नहीं, दो विधान सभाएं बनानी होंगी। उनमें से एक हिन्दुस्तान का विधान बनायेगी; दूसरी पाकिस्तान का।

"भारत का मसला हम दस मिनट में हल कर सकते हैं, बशर्ते मि. गांधी कह दें कि "मैं राजी हूं कि पाकिस्तान बन जाय; मैं राजी हूं कि एक-चौथाई भारत जिसमें सिन्ध, बलूचिस्तान, पंजाब, सरहदी सूबा, बंगाल और असम शामिल हैं, अपनी मौजूदा सीमाओं के साथ पाकिस्तान बन जाय।"

"मुमकिन है कि आबादी की अदला-बदली करनी पड़े, बशर्ते लोग अपनी खुशी से इसके लिए तैयार हों। सीमाओं में भी बिलाशक कुछ रद्दोबदल करना पड़ेगा।...यह सब हो सकता है, लेकिन पहले यह मानना जरूरी है कि इन सूबों की मौजूदा सीमाएं भावी पाकिस्तान की सीमाएं होंगी। पाकिस्तान की हमारी सरकार सम्भवत: एक संघीय सरकार होगी जिसमें प्रान्तों को खुद-मुख्तारी हासिल होगी...।

"व्यक्तिगत रूप से मैं अंग्रेजी सरकार की ईमानदारी में शक नहीं करता। लेकिन मुझे उन लोगों की ईमानदारी में जरूर शक है जो कहते हैं कि भारत के मुसलमानों को पूरा पाकिस्तान दिये बिना भी कोई समझौता हो सकता है।"

अन्त में, अप्रैल १९४६ में धारासभाओं के मुस्लिम सदस्यों का जो सम्मेलन हुआ, उसने पाकिस्तान की यह व्याख्या की :

"उत्तर-पूर्व में बंगाल और असम का इलाका और उत्तर-पश्चिम भारत में पंजाब, सरहदी सूबे, सिंध और बलूचिस्तान का इलाका—इन पाकिस्तानी इलाकों को, जहां मुसलमानों का प्रबल बहुमत है, मिलाकर एक स्वतंत्र प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य बना दिया जाय।"

पाकिस्तान का सिद्धांत इस कल्पना पर आधारित है कि हिन्दू और मुसलमान दो अलग-अलग "जातियां" है। भले ही सारे भारत में और भारत के हर इलाके में हिन्दू और मुसलमान मिले-जुले रहते हों, भले ही हिन्दू और मुसलमान एक ही परिवार के सदस्य हों, लेकिन इस सिद्धांत के अनुसार वे है दो अलग-अलग "जातियों" के लोग। जाहिर है कि धर्म को (और धर्म से सम्बन्धित समान संस्कृति को) जातीयता का आधार बनाने की यह कोशिश जातीयता की प्रत्येक ऐतिहासिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्याख्या एवं अनुभव के खिलाफ जाती थी। यह तो उसी तरह की बात हुई मानो योरप में रहने वाले कैथोलिक मतावलम्बियों की एक अलग जाति मान ली जाय और सचमुच यदि इस तर्क को और आगे बढ़ाया जाय और जाति की इस व्याख्या के अनुसार मुसलमानों की एक अलग जाति मान ली जाय, तो कहना पड़ेगा कि

उत्तरी अफ्रीका से लेकर भारत तक के सभी मुसलमानों की एक जाति है और पाकिस्तान के सिद्धान्त की अन्तिम परिणति विश्व इस्लामवाद में हो जायेगी।

मार्क्सवाद के अनुसार जाति की व्याख्या क्या है, इसका सार-तत्व स्तालिन ने अपनी पुस्तक **मार्क्सवाद और जातियों के प्रश्न** में दिया है। उनकी दी हुई प्रसिद्ध परिभाषा यह है कि "जाति वह है जिसका ऐतिहासिक विकास इस प्रकार हुआ हो कि उसमें भाषा, प्रदेश, आर्थिक जीवन तथा सांस्कृतिक एकता के रूप में व्यक्त होने वाली मानसिक गठन की एकता हो।" इसके बाद स्तालिन ने यह जरूरी शर्त और जोड़ दी थी कि "इस बात पर जोर देना आवश्यक है कि ऊपर बतायी गयी विशेषताओं में से कोई भी विशेषता ऐसी नहीं है कि अकेले उससे ही जाति बन जाय। बल्कि अगर इन विशेषताओं में से एक भी गायब है तो जाति जाति न रहेगी।"

इस कसौटी का इस्तेमाल करने पर यह बात साफ हो जाती है कि भारत के मुसलमानों को एक "जाति" नहीं माना जा सकता। उनकी भाषाएं अलग हैं, उनके इलाके अलग हैं और संस्कृतियां अलग हैं। नस्ल की दृष्टि से उनमें अनेक तरह के भेद पाये जाते हैं। पठान और बंगाली मुसलमानों के बीच एकमात्र समानता धर्म की या पुरानी संस्कृति के कुछ अवशेषों की ही होती है। लेकिन इतने से ही तो वे एक जाति के नहीं हो जाते। पुराने रूसी साम्राज्य में रहने वाले यहूदी लोग अलग-अलग इलाकों में रहते थे और अलग-अलग भाषाएं बोलते थे। स्तालिन ने उनको एक अलग जाति नहीं माना और उसके लिए यह दलील दी :

> "उनके जीवन में यदि कोई बात समान है तो यह कि उनका धर्म एक है, उनका मूल एक है और जातीय स्वरूप के कुछ अवशेष उनमें पाये जाते हैं। इन सब बातों में कोई सन्देह नहीं है। लेकिन क्या कोई गम्भीरतापूर्वक यह दावा कर सकता है कि जिस सजीव सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक वातावरण में ये यहूदी रहते हैं, उससे ज्यादा ये जड़ धार्मिक रीतियां और मिटते हुए मानसिक अवशेष उनके भाग्य का निर्णय करेंगे ?"

यहां पर प्रश्न केवल जाति की रस्मी परिभाषा का नहीं है। यदि केवल परिभाषा का प्रश्न होता, तो बहस करना बेकार था। लेकिन यदि एक बार जाति का आधार धर्म को मान लिया जाय, तो उससे कुछ बहुत ही गम्भीर राजनीतिक परिणाम निकल आते हैं। ठोस वास्तविकता में चूंकि जाति केवल एक विशेष इलाके में ही रह सकती है, और चूंकि यह सिद्धान्त राजनीतिज्ञों का गढ़ा है और वह धरती से नहीं उपजा है, इसलिए इस तथाकथित "जाति" के लिए एक इलाका जबर्दस्ती बंटवा लेने की भी जरूरत

पैदा हो जाती है। मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की मांग के भौगोलिक रूप की जांच करते ही इस सिद्धान्त का खोखलापन जाहिर हो जाता है।

शुरू में, जिन छः सूबों को, उनकी "मौजूदा सीमाओं के साथ" मिलाकर पाकिस्तान बनाने की बात कही गयी थी, उनकी कुल आबादी १० करोड़ ७० लाख होती थी। इनमें से मुसलमानों की संख्या ५ करोड़ ६० लाख, यानी ५५% थी और गैर-मुसलमानों की तादाद ४ करोड़ ८० लाख, यानी ४५% थी। इस प्रकार इस इस्लामी राज्य की लगभग आधी आबादी गैर-मुसलमानों की होती थी और कोई ३ करोड़ मुसलमान, यानी भारत के कुल मुसलमानों का लगभग ४० प्रतिशत भाग पाकिस्तान के बाहर रह जाता था। इससे साफ हो जाता है कि भारत की बहुत ही मिली-जुली हिन्दू-मुस्लिम आबादी की साम्प्रदायिक समस्या को जबर्दस्ती इलाके बांट कर हल करने की कोई कोशिश कामयाब नहीं हो सकती।

जब १९४७ में माउंटबैटन योजना के अनुसार पाकिस्तान के डोमीनियन की स्थापना हुई, तो भारत के बंटवारे के साथ-साथ पंजाब और बंगाल का बंटवारा भी करना पड़ा। फिर भी नये "इस्लामी राज्य" में कोई २ करोड़ ऐसे गैर-मुस्लिम लोग रह ही गये जो कि उसकी कुल आबादी का चौथाई से लेकर तिहाई तक होते थे; और कोई ३ करोड़ मुसलमान, पाकिस्तान के बाहर रह गये। इस परिस्थिति का नतीजा हुआ कि नयी सीमाओं के दोनों ओर खून-खराबे और कत्लेआम हुए और बड़े पैमाने पर आबादी इधर से उधर गयी; और इसके कारण करोड़ों इंसान बेघरबार हो गये।

इसलिए, भारत का बंटवारा होकर भारतीय संघ तथा पाकिस्तान के डोमीनियनों का बन जाना किसी भी माने में राष्ट्रीय स्वतंत्रता या जातीय आत्म-निर्णय की ओर बढ़ना नहीं था। असल में इन दोनों राज्यों की स्थापना साम्राज्यवाद के साथ कांग्रेस और लीग के राष्ट्रीय पूंजीवादी नेताओं के समझौते का परिणाम थी। बंटवारे के हथकंडे का प्रयोग करके भारत के जनवादी आन्दोलन को कमजोर कर दिया गया और उसमें फूट डाल दी गयी। दोनों डोमीनियनों में साम्प्रदायिक विरोध को बेहद बढ़ा दिया गया और नयी बनी दोनों सरकारों में शुरू से ही आपसी बैर पैदा कर दिया गया। इस सबसे जो खूनी फसल तैयार हुई, वह बंटवारे के बाद होने वाले खूंखार दंगों तथा कत्लेआम के रूप में प्रकट हुई, जिनके परिणामस्वरूप करोड़ों नर-नारी अपना घर-बार छोड़कर शरणार्थी बन गये।

लेकिन, इन तमाम बातों की वजह से हमें इस सत्य की ओर से आंखें नहीं मूंद लेनी चाहिए कि शुरू में पाकिस्तान की मांग के पीछे किसी हद तक जातीयता का सच्चा सवाल भी छिपा हुआ था। पाकिस्तान की मांग को

जनता से जो व्यापक समर्थन मिला और जो पाकिस्तान की स्थापना के समय जन-समारोहों के रूप में प्रकट हुआ, उससे जाहिर होता है कि यह केवल साम्प्रदायिक प्रचार का, या सामाजिक तथा आर्थिक सवालों से पैदा होने वाले जनता के असंतोष को साम्प्रदायिक रूप देने की कोशिशों का नतीजा नहीं था, बल्कि इसके पीछे यह सचाई भी काम कर रही थी कि राष्ट्रीय आन्दोलन के जनता के अधिक गहरे स्तरों में घुसने के फलस्वरूप जातीय चेतना के नये रूप सामने आ गये थे। पाकिस्तान के सवाल से यह बात उभर कर सामने आयी कि भारतीय स्वतंत्रता के साधारण कार्यक्रम के एक अंग के रूप में जातियों के प्रश्न को हल करना भी अत्यन्त आवश्यक है।

इस प्रश्न का अन्तिम हल केवल जनवादी मार्ग पर चल कर ही हो सकता है। आत्म-निर्णय का जनवादी सिद्धान्त यह बात मानता है कि जिस इलाके में साफ तौर पर आत्म-निर्णय की जातीय मांग उठ रही हो, यानी जिस इलाके के अधिकतर निवासी अपने विशिष्ट जातीय स्वरूप व संस्कृति के आधार पर स्पष्ट रूप से यह मांग कर रहे हों कि उनकी अपनी अलग राजनीतिक संस्थाएं होनी चाहिए, और जहां भौगोलिक तथा आर्थिक दृष्टि से यह चीज सम्भव हो, उस इलाके के निवासियों को अपनी अलग राजनीतिक संस्थाएं कायम करने का अधिकार है, क्योंकि उनकी इच्छा के विरुद्ध उन पर कोई राजनीतिक संस्था लादने को किसी तरह उचित नहीं ठहराया जा सकता। भारत की बहु-जातीय समस्या को हल करने का सबसे उपयोगी ढंग यही है कि आत्म-निर्णय के इस जनवादी सिद्धांत पर सुसंगत ढंग से अमल किया जाय। और इसी ढंग पर चलकर सभी जातियों के स्वेच्छापूर्वक मिलने के लिए सबसे अच्छी परिस्थितियां पैदा हो सकती हैं। बहु-जातीय सोवियत संघ में और हाल के दिनों में चीनी जनता के जनतंत्र में जातियों का सवाल इसी तरह सफलता के साथ हल किया जा चुका है।

इस सिद्धांत को मानने का अर्थ यह होगा कि भारतीय जनता का प्रत्येक ऐसा हिस्सा जिसके रहने का एक मिला-जुला इलाका है, जिसकी एक समान ऐतिहासिक परम्परा है, जिसकी एक समान भाषा, संस्कृति, मानसिक गठन और समान आर्थिक जीवन है, उसे इस बात का अधिकार होगा कि वह स्वतंत्र भारत में एक स्पष्ट जाति के रूप में जीवन बिताये, और चाहे तो स्वतंत्र भारतीय संघ के अन्दर एक खुद-मुख्तार राज्य के रूप में रहे (जिसे संघ से अलग हो जाने का भी अधिकार होगा)।

इस प्रकार कल जो स्वतंत्र भारत बनेगा, वह पठान, पंजाबी, सिंधी, हिन्दुस्तानी, राजस्थानी, गुजराती, बंगाली, असमी, बिहारी, उड़िया, तेलगू, तमिल, मलयाली, कन्नड़, मराठा, आदि विभिन्न जातियों के खुद-मुख्तार

राज्यों के संघ (फेडरेशन या यूनियन) का रूप धारण कर सकता है। इस तरह जो नये राज्य बनेंगे, उनमें जो अल्पसंख्यक जाति के लोग बिखरे हुए रह जायेंगे, उनके संस्कृति, भाषा तथा शिक्षा संबंधी अधिकार कानून द्वारा सुरक्षित रहेंगे, उनके साथ किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं किया जायगा और उनका उल्लंघन करने वालों को कानूनन दंड मिलेगा।

आत्म-निर्णय के अधिकार को, जिसमें अलग होने का अधिकार भी शामिल है, मान लेने का कतई यह मतलब नहीं होता कि अलग हो जाना सही है। इसके विपरीत, भारत के जनवादी विकास के हित में यह अत्यन्त आवश्यक है कि भारत की एकता कायम रहे। भारत की एकता इसलिए खास तौर पर जरूरी है कि उसके विभिन्न हिस्से परस्पर सहयोग के द्वारा तेजी से उन्नति कर सकें और पूरे भारत की आर्थिक उन्नति की योजना बनायी जा सके, उसके अनुसार पूरे देश का विकास किया जा सके और उसका सामाजिक स्तर ऊपर उठाया जा सके। लेकिन यह एकता स्वेच्छा से ही हो सकती है। भारतीय संघ स्वेच्छा से ही बन सकता है।

भारत की कम्युनिस्ट पार्टी ने यह नीति सबसे पहले १९४२ के एक प्रस्ताव में पेश की थी, जिसमें भारतीय कौम के बहु-जातीय स्वरूप से पैदा होने वाली नयी समस्याओं पर पहली बार गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया था। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यक्रम में, जो १९५१ में स्वीकार हुआ, इस नीति की अधिक विशद व्याख्या इस प्रकार की गयी है :

> "सभी जातियों के लिए आत्म-निर्णय का अधिकार हो। भारतीय प्रजातंत्र भारत की विभिन्न जातियों की जनता को बलपूर्वक नहीं, बल्कि राजी-खुशी से दी गयी उनकी राय के अनुसार एक संयुक्त राज्य की स्थापना के लिए एकत्रित करे।
>
> "भारत संघ के वर्तमान प्रान्तों की सीमाओं का पुन: निर्धारण और समान भाषा के सिद्धान्त के आधार पर प्रान्तों का पुन: निर्माण किया जाय। मौजूदा देशी राज्यों को, निकटस्थ उपयुक्त जातीय प्रान्तों में तथा साम्राज्य-वादियों के अधीनस्थ इलाकों को देश में मिला लिया जाय और उनका पुनर्गठन भी इसी सिद्धान्त के आधार पर हो। आदिवासी क्षेत्रों को, या उन क्षेत्रों को जहां खास ढंग के लोग रहते हैं, और जहां विशिष्ट सामाजिक परिस्थितियां हैं, या जहां की आबादी किसी अल्पसंख्यक जाति की है, क्षेत्रीय स्वायत्त शासन का पूर्ण अधिकार होगा और वे अपनी क्षेत्रीय सरकारें बना सकेंगे तथा उनके विकास में भरपूर मदद दी जायगी।"

इसी दृष्टिकोण से इन समस्याओं को सबसे ज्यादा उपयुक्त ढंग से हल किया जा सकता है।

अध्याय १४

दूसरे महायुद्ध में भारत

१९३०-३४ के महान जन-संघर्षों से लेकर दूसरे महायुद्ध तक भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास को साफ-साफ तीन युगों में बांटा जा सकता है। पहले, संगठन को फिर से दुरुस्त किया गया जो दमन से छिन्न-भिन्न हो गया था, और नयी नीति निश्चित की गयी, जिसके बाद १९३७ के चुनावों में राष्ट्रीय आन्दोलन की जीत हुई, जिसको इस्तेमाल करके दक्षिणपंथी नेताओं ने ब्रिटिश भारत के अधिकतर प्रान्तों में कांग्रेसी मंत्रिमंडल कायम कर लिया। १९३४ से १९३९ तक के काल की ये सफलताएं हैं। उसके बाद संकट तेज होने लगा, कांग्रेसी मंत्रिमंडलों के अनुभव से जनता के भ्रम टूटने के परिणामस्वरूप दक्षिणपक्ष और वामपक्ष के मतभेद बहुत तीखे हो गये, और प्रारम्भिक रूप में १९३८-३९ में ही नये संघर्षों की ओर बढ़ने के चिन्ह दिखायी देने लगे। युद्ध की हालतों ने इस क्रिया को तेज कर दिया और पेचीदा बना दिया। युद्ध से भारत के लिए और भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए बहुत गम्भीर संकट पैदा हो गया था। उसका परिणाम दूसरे महायुद्ध के बाद एक विराट क्रान्तिकारी उभार के रूप में देखने को मिला।

दूसरे महायुद्ध की घटनाओं ने भारत को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की भंवर के बीचों बीच लाकर खड़ा कर दिया।

१. अंग्रेजों की अन्तर्राष्ट्रीय रणनीति और भारत

दूसरे महायुद्ध के विशेष प्रश्नों पर विचार करने से पहले यह जान लेना उपयोगी होगा कि अंग्रेजों की अन्तर्राष्ट्रीय रणनीति में भारत का शुरू में क्या स्थान था और उसमें किस प्रकार के परिवर्तन हो चुके थे तथा वैदेशिक नीति के सवालों पर राष्ट्रीय आन्दोलन का क्या रुख था।

पिछले दो सौ बरसों में यह बात अधिकाधिक स्पष्ट होती गयी है कि अंग्रेजों ने भारत को अपनी अन्तर्राष्ट्रीय रणनीति की धुरी बना रखा था। अठारहवीं सदी में ऊपर से देखने में योरप की बदलती हुई परिस्थितियां और नित नये बनते हुए गुट ब्रिटेन और फ्रांस की लड़ाइयों का कारण मालूम पड़ते

थे। मगर वास्तव में उनका मुख्य कारण अमरीका को हथियाने और भारत पर प्रभुत्व जमाने का संघर्ष था। जब ब्रिटेन के हाथ से संयुक्त राष्ट्र अमरीका निकल गया तो भारत का महत्व और बढ़ गया। मिस्र और निकट-पूर्व पर चढ़ाई करने के समय असल में नेपोलियन भारत की तरफ बढ़ने का सपना देख रहा था। उन्नीसवीं सदी में ब्रिटेन को सदा रूस का हौआ सताता रहता था। डर था कि रूस कहीं एशिया में बढ़ता न चला जाय और अन्त में भारत का दरवाजा खटखटाने लगे। बीसवीं सदी शुरू होने पर, जब ब्रिटेन ने उदासीनता की नीति छोड़ी, तो इस सिलसिले में उसने पहला काम यह किया कि जापान से दोस्ती की, और जब संशोधित जापान-ब्रिटेन संधि को दुहराता गया, तो उसमें एक शर्त यह भी रखी गयी कि भारत पर अंग्रेजी हुकूमत बनाये रखने में जापान मदद करेगा। जर्मनी के साथ ब्रिटेन के झगड़े का खास कारण यह प्रश्न था कि मध्य-पूर्व पर किसका नियंत्रण रहेगा, क्योंकि उससे भारत तक पहुंचने का रास्ता खुलता था।

अंग्रेजों के लिए भारत ने हमेशा कुबेर के ऐसे खजाने का काम किया है, जिससे उन्हें मनचाहे सिपाही और मनचाहा धन मिल सकता था। इसी धन-जन से अंग्रेजों ने भारत को जीता। इसी से उन्होंने एशिया में अपने साम्राज्य का विस्तार किया। भारत सरकार पर जो कर्जा लदा हुआ था, उसका एक बहुत बड़ा भाग इन युद्धों के कारण ही उस पर चढ़ा था। ब्रिटेन अपनी नीति के उद्देश्यों के लिए दूसरे एशियाई देशों में, और एशिया की सीमाओं से दूर लड़ाइयां लड़ता था और उन सबका खर्च भारत के मत्थे मढ़ दिया जाता था।

भारत की फौज का जो इतना विस्तार किया गया था और उस पर जो बेशुमार रुपया खर्च किया जाता था, उसकी वजह सिर्फ यह नहीं थी कि भारत की जनता को दबाकर रखने के लिए एक बहुत बड़ी फौज की आवश्यकता थी; उसकी वजह यह भी थी कि अंग्रेजी सरकार हमेशा यह हिसाब लगाती रहती थी कि अपना युद्ध चलाने के लिए और भारत की सीमाओं के बाहर साम्राज्य का विस्तार करने के लिए कितनी बड़ी फौज की जरूरत होगी।

दो महायुद्धों के बीच ब्रिटेन के लिए भारत का फौजी महत्व और बढ़ गया। मध्य-पूर्व में अंग्रेजों का नया साम्राज्य और प्रभाव-क्षेत्र भारत के ही आधार पर बनाया गया था। भूमध्य सागर पर नियंत्रण खो बैठने की स्थिति के लिए पहले से तैयार रहने के वास्ते अंग्रेजों का दक्षिण अफ्रीका का चक्कर काटकर आने वाले मार्ग पर तथा साइमंसटाउन के नये जहाजी अड्डे पर जोर देना, और प्रशान्त महासागर से हिन्द महासागर में प्रवेश करने के मार्ग पर नियंत्रण रखने के लिए सिंगापुर के तथाकथित अजेय जहाजी अड्डे पर जोर

देना—इन दोनों बातों से यही जाहिर होता है कि अंग्रेज लोग भारत को अपने साम्राज्य की धुरी समझते थे और भारत जाने वाले तमाम रास्तों को अपने हाथ में रखना और भारत में अपनी हुकूमत को सुरक्षित रखना अपनी नीति का मुख्य ध्येय मानते थे। जैसे-जैसे भूमध्य सागर और स्वेज नहर का रास्ता अधिकाधिक खतरे में पड़ता गया, वैसे-वैसे ही ब्रिटिश साम्राज्य की जीवन-नाड़ी के रूप में ब्रिटेन को आस्ट्रेलिया से जोड़ने वाले हवाई जहाजों के रास्ते का महत्व बढ़ता गया। यह रास्ता बगदाद, करांची, कलकत्ता और सिंगापुर होकर जाता था और ब्रिटेन को भारत तथा स्याम के जरिये सुदूर-पूर्व से जोड़ता था। जैसे-जैसे जापान प्रशान्त महासागर के क्षेत्र पर और चीन के समुद्र-तट तथा नदियों पर अपना अधिकार जमाता गया, वैसे-वैसे बर्मा के जरिये चीन जाने वाली सड़क का महत्व बढ़ता गया।

अंग्रेजों के साम्राज्यवादी प्रभुत्व तथा प्रभाव के दो खास क्षेत्र हैं: एक मध्य-पूर्व का क्षेत्र; दूसरा दक्षिण-पूर्वी एशिया का क्षेत्र। इन दोनों क्षेत्रों के बीच मे भारत धुरी का काम करता है। जहां तक अंग्रेजों की रणनीति का सम्बंध है, भारत एक ऐसा अड्डा है जिसके बिना उनका काम ही नहीं चल सकता। एशिया के राष्ट्रीय आन्दोलनों के खिलाफ ब्रिटेन की लड़ाई बहुत नाजुक थी। इस लड़ाई के लिए अंग्रेजों ने भारत का सदा अपने मुख्य फौजी अड्डे के रूप में इस्तेमाल किया। बर्मा, मलाया और इंडोनेशिया के पड़ोसी देशों में आजादी के आन्दोलनों को दबाने के लिए और इन देशों पर फिर से साम्राज्यी शासन कायम करने के लिए अंग्रेजी साम्राज्यवाद ने न केवल भारत का माल लिया, बल्कि अपनी फौजों के लिए वहां से रंगरूट भी भरती किये (इंडोनेशिया के विरुद्ध युद्ध चलाने के लिए वह बहुत दिनों तक रंगरूट भर्ती नहीं कर पाया, क्योंकि राष्ट्रीय आन्दोलन ने उसे यह नहीं करने दिया)।

२. भारत और युद्ध (१६३९-४२)

१६३९ में जब ब्रिटेन ने जर्मनी के खिलाफ जंग का ऐलान किया तो वह भारत को उसी तरह इस्तेमाल करना चाहता था जिस तरह उसने १६१४ में किया। वह चाहता था कि भारत ब्रिटेन के पीछे कठपुतली बना घिसटता चले और वहां की जनता की राय पूछने की भी कभी नौबत न आये। युद्ध की घोषणा के चन्द घंटों में ही वायसराय ने भारत को भी इसमें शामिल कर लिया।

मगर घटनाओं ने बहुत जल्द यह दिखा दिया कि १६१४ के मुकाबले भारत

की परिस्थिति बहुत बदल गयी है। १४ सितम्बर को कांग्रेस की कार्यसमिति ने युद्ध पर अपना बयान निकाला। उसमें कहा गया था कि "कार्यसमिति किसी ऐसे युद्ध में सहयोग नहीं दे सकती, जो साम्राज्यवादी ढंग पर चलाया जा रहा हो और जिसका उद्देश्य भारत में और दूसरी जगहों में साम्राज्यवाद को दृढ़ करना हो।" चुनांचे कांग्रेस ने सीधे तौर पर ब्रिटिश सरकार को यह चुनौती दी :

"इसलिए कार्यसमिति अंग्रेजी सरकार को इस बात की दावत देनी है कि वह स्पष्ट शब्दों में यह ऐलान करे कि इस लड़ाई में जनतंत्र और साम्राज्यवाद के विषय में उसके क्या उद्देश्य हैं।...क्या उसके उद्देश्यों में साम्राज्यवाद को खतम करना और भारत के साथ एक आजाद देश जैसा बर्ताव करना भी शामिल है? क्या भारत की नीति उसकी जनता की इच्छा के अनुसार निर्धारित हुआ करेगी?"

कांग्रेस के इस सीधे सवाल के जवाब में अंग्रेजी सरकार ने जितना कहा, वह न कहने के ही बराबर था। इसके परिणामस्वरूप अक्तूबर १९३९ में सभी कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने इस्तीफा दे दिया। १९४० की गर्मियों में, योरप में नाजियों के बढ़ाव के बाद, कांग्रेस ने युद्ध में सहयोग देने का एक नया प्रस्ताव पेश किया, बशर्ते कि भारत की आजादी मान ली जाय और "केन्द्र में एक अस्थायी राष्ट्रीय सरकार कायम हो जाय।" लेकिन, एक बार फिर अंग्रेजी सरकार ने कोरा जवाब दे दिया। उस पर कांग्रेस ने गांधी जी के नेतृत्व में व्यक्तिगत सत्याग्रह का आन्दोलन आरम्भ करने का निश्चय किया, जो अक्तूबर १९४० में शुरू हुआ।

जिस समय कांग्रेस के नेता वायसराय के साथ यह मोलभाव कर रहे थे, उस समय तक जनता मैदान में उतर आयी थी। २ अक्तूबर १९३९ को बम्बई के ९०,००० मजदूरों ने युद्ध तथा साम्राज्यवादी दमन के खिलाफ एक दिन की राजनीतिक हड़ताल की। युद्ध में शरीक देशों में यह पहली युद्ध-विरोधी आम हड़ताल थी। हड़ताल के दिन शाम को बम्बई के कामगार मैदान में एक विराट सभा हुई जिसमें एक प्रस्ताव पास हुआ। उसमें कहा गया था :

"यह सभा ऐलान करती है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर वर्ग और संसार की जनता के साथ है, जिसे साम्राज्यवादी ताकतें इस अत्यन्त विनाशकारी युद्ध में जबर्दस्ती खींच रही हैं।"

देश में उन ताकतों का जोर बढ़ रहा था जो यह चाहती थीं कि साम्राज्यवाद से एक निर्णायक युद्ध किया जाय। इसका एक सबूत यह था कि १९३९ और १९४० में मजदूर-किसान शक्तियों तथा उग्रवादी राष्ट्रवादियों पर सर-

कार निर्ममता से प्रहार कर रही थी। इसके अलावा, अक्तूबर १९४० में गांधी जी ने जिस अत्यन्त सीमित ढंग का और तरह-तरह की शर्तों के बंधनों में जकड़ा हुआ आन्दोलन चलाया, उससे भी यही मालूम पड़ता था। सत्याग्रहियों की सूची तैयार करके गांधी जी के पास जांच और अनुमति के लिए भेज दी जाती थी। जिन सत्याग्रहियों को गांधी जी अनुमति दे देते थे, उनके लिए जरूरी होता था कि वे पुलिस को पहले से यह सूचना दे दें कि वह किस स्थान पर और कब युद्ध के विरोध में प्रतीकात्मक सत्याग्रह करेंगे। फिर भी आने वाले महीनों में व्यापक पैमाने पर गिरफ्तारियां हुईं और जेलखाने भर दिये गये।

जब १९४१ के उत्तरार्ध की घटनाओं ने युद्ध के स्वरूप में एकदम मौलिक परिवर्तन ला दिया, तो देश इसी प्रकार के गतिरोध में फंसा हुआ था। सोवियत संघ पर जर्मनी ने चढ़ाई कर दी। ब्रिटेन और सोवियत के बीच समझौता हो गया। उधर सुदूर-पूर्व में जापानियों ने हल्ला बोल दिया और ब्रिटेन और सोवियत संघ का संयुक्त मोर्चा विशाल हो गया और वह ब्रिटेन, अमरीका, सोवियत संघ और चीन का फासिस्ट-विरोधी मोर्चा बन गया। इस सबके कारण युद्ध का मौलिक स्वरूप बदल गया। भारत के राष्ट्रवादी लोकमत पर इसका तुरन्त प्रभाव पड़ा—हालांकि उसके सब हिस्सों पर नहीं। पं. नेहरू ने १९४१ में कहा : "अब दुनिया की प्रगतिशील शक्तियां उस पक्ष के साथ हैं जिसका प्रतिनिधित्व रूस, ब्रिटेन, अमरीका और चीन करते हैं।" इस प्रकार, १९४१ के उत्तरार्ध से अंग्रेजी सरकार के सामने राष्ट्रीय नेताओं से समझौता कर लेने का एक नया अवसर पैदा हो गया।

लेकिन, अंग्रेजी सरकार की तरफ से कांग्रेस को नकारात्मक जवाब मिला। प्रधान मंत्री चर्चिल ने खास तौर पर ऐलान किया कि भारत, बर्मा तथा साम्राज्य के अन्य हिस्सों पर अटलांटिक चार्टर लागू नहीं होता। इससे भारत के राष्ट्रवादियों को बहुत क्रोध हुआ और फासिस्ट-विरोधी संयुक्त मोर्चे की मुखालफत करने वाली प्रवृत्तियों को बल मिला।

फिर भी, दिसम्बर १९४१ में सरकार ने कांग्रेस के प्रमुख नेताओं को जेल से रिहा कर दिया। यह नये सिरे से बातचीत खोलने की दिशा में पहला कदम था। दिसम्बर १९४१ के अन्त में कांग्रेस ने बारदोली का वह प्रस्ताव पास किया, जिसमें उसने ऐलान किया था कि वह संयुक्त राष्ट्रों के मित्र के रूप में हथियार हाथ में लेकर फासिस्ट देशों का मुकाबला करेगी, बशर्ते भारत एक राष्ट्रीय सरकार के नेतृत्व में अपनी जनता को गोलबन्द कर सकने की स्थिति में हो। भारत के बाहर अमरीका, आस्ट्रेलिया और चीन की सरकारें अंग्रेजी सरकार पर नयी नीति अपनाने के लिए दबाव डालने लगीं। राष्ट्रपति रूजवेल्ट

ने ऐलान किया कि अटलांटिक चार्टर "सारी दुनिया" पर लागू होता है। आस्ट्रेलिया के विदेश मंत्री ने कहा कि भारत को लड़ाई के दौरान में ही खुद-मुख्तार हुकूमत बनाने का अधिकार मिल जाना चाहिए। च्यांग काई-शेक १९४२ में भारत आये।

इस प्रकार, १९४२ के बसन्त के आते-आते भारत में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के आधार पर फासिस्ट-विरोधी युद्ध में कांग्रेस के सहयोग करने का सवाल सबके सामने उभर कर आ गया था। अंग्रेज अधिकारी अब भी विरोध कर रहे थे। इसी बीच मार्च में जापानियों के रंगून आ पहुंचने से फौरन कुछ करने की आवश्यकता पैदा हो गयी।

८ मार्च को रंगून का पतन हुआ।

११ मार्च को क्रिप्स-मिशन का ऐलान हो गया।

लेकिन क्रिप्स का प्रस्ताव इस बात पर आकर टूट गया कि कांग्रेस लड़ाई के दौरान में ऐसी राष्ट्रीय सरकार चाहती थी जिसके हाथ में काफी ताकत हो, लेकिन अंग्रेजी सरकार इसके लिए कतई तैयार नहीं थी। बातचीत टूट जाने पर कलकत्ता के स्टेट्समैन ने भी यही कहा था :

"दोष इंडिया आफिस और भारत सरकार के नौकरशाही हिस्से का है।"

३. अगस्त प्रस्ताव और उसके बाद (१९४२-४५)

कांग्रेस फासिस्ट-विरोधी युद्ध में सहयोग करना चाहती थी। जब उसकी कोशिशें असफल हो गयीं तो कुछ समय तक आगा-पीछा करने और कोई सुनिश्चित फैसला न करने के बाद वह देश की मांग को पूरा कराने के उद्देश्य से असहयोग के मार्ग पर बढ़ चली।

असहयोग के विषय में कांग्रेस का प्रस्ताव पहले जुलाई में प्रकाशित हुआ और फिर संशोधित रूप में वह अन्तिम रूप से ८ अगस्त को स्वीकार हुआ (उसके खिलाफ १३ वोट पड़े थे। खिलाफ में वोट देने वालों का नेतृत्व कम्युनिस्ट पार्टी ने किया था। उसे २२ जुलाई को कानूनी करार दिया गया था, जो उसके बढ़ते हुए प्रभाव तथा शक्ति का सूचक था)।

इस प्रस्ताव में एक बार फिर संयुक्त राष्ट्रों के साथ हमदर्दी जाहिर की गयी थी और यह मांग दोहरायी गयी थी कि भारत को एक स्वतंत्र सहयोगी के रूप में स्वीकार किया जाय ताकि वह अपनी राष्ट्रीय सरकार के नेतृत्व में संयुक्त राष्ट्रों के सहयोग से फासिज्म का हथियारबन्द विरोध कर सके। लेकिन

प्रस्ताव के अन्तिम अंश में यह कहा गया था कि यदि राष्ट्र की मांग को नहीं माना जाता है, तो जनता असहयोग करे। प्रस्ताव में कहा गया था :

"इसलिए समिति तै करती है कि भारत की स्वतंत्रता तथा स्वाधीनता के अधिकार को मनवाने के लिए अधिक से अधिक व्यापक पैमाने पर जन-संघर्ष आरम्भ किया जाय ताकि पिछले २२ वर्षों में देश ने शान्तिपूर्ण संघर्ष चलाकर जितनी भी अहिंसक शक्ति संचित की है, उसका वह उपयोग कर सके।"

अगस्त प्रस्ताव को लेकर बहुत तीखी बहस चली है। उसकी कोई भी आलोचना करने से पहले यह समझना आवश्यक है कि कांग्रेसी नेता स्वतंत्रता के आधार पर सहयोग करने की हरेक कोशिश करके हार गये थे और उन्होंने निराश और विवश होकर यह रास्ता अपनाया था। फिर भी, यदि यह देखा जाय कि अगस्त प्रस्ताव का भारत के अन्दर और दुनिया के जनवादी लोकमत पर क्या प्रभाव पड़ा, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि दोनों ही दृष्टि से यह प्रस्ताव अविवेकपूर्ण था। राजनीतिक दृष्टि से प्रस्ताव में एक ऐसी घातक असंगति थी जिससे जाहिर होता था कि प्रस्ताव तैयार करने वालों के मन में उद्देश्य स्पष्ट नहीं था। प्रस्ताव की भूमिका कुछ कहती थी और निष्कर्ष कुछ कहता था; और दोनों के बीच ऐसा विरोध था जिस पर किसी तरह की व्याख्या से लीपापोती नहीं की जा सकती थी। एक तरफ तो प्रस्ताव यह मानता था कि १९४१ से युद्ध का स्वरूप साम्राज्यवादी नहीं रह गया है। वह कहता था कि अब इस युद्ध को दो प्रतिद्वन्द्वी साम्राज्यवादी गुटों का ऐसा युद्ध नहीं माना जा सकता जिसके परिणाम के प्रति कांग्रेस उदासीन रह सकती हो। प्रस्ताव ने साफ-साफ कहा था कि अब यह ऐसा युद्ध बन गया है जिसमें कांग्रेस संयुक्त राष्ट्रों की विजय चाहती है। प्रस्ताव का यह उद्देश्य बताया गया था कि "संयुक्त राष्ट्रों के पक्ष की जीत हो" और "भारत उनका सहयोगी बने।" उसमें यह खास तौर पर ऐलान किया गया था कि कांग्रेस को इस बात की बड़ी चिन्ता है कि "चीन या रूस की हिफाजत का इन्तजाम किसी तरह कमजोर न होने पाये" और "संयुक्त राष्ट्रों की हिफाजत करने की शक्ति किसी तरह खतरे में न पड़े।" मगर प्रस्ताव के अन्त में जो कार्यक्रम पेश किया गया था, वह ऐसा था जिसे कार्यान्वित करने पर संयुक्त राष्ट्रों के पक्ष के एक बड़े देश में भयानक अन्दरूनी कलह और अव्यवस्था शुरू हो जाती; और इससे अमल में संयुक्त राष्ट्रों की हिफाजत करने की शक्ति निस्संदेह खतरे में पड़ जाती और फासिस्ट ताकतों की जीत होने में मदद मिलती। और ध्यान रहे कि यह एक ऐसा कार्यक्रम था जिसे १९३९-४० में तब गलत समझा गया था, जब युद्ध (कांग्रेस के शब्दों में) "साम्राज्यवादी उद्देश्यों के लिए" लड़ा जा रहा

था। उस वक्त जन-आन्दोलन या आम सत्याग्रह के हर प्रस्ताव का सख्ती से विरोध किया जाता था और दलील दी जाती थी कि उससे ब्रिटिश साम्राज्य-वाद के युद्ध-प्रयत्नों में बाधा पड़ेगी।

यह सच है कि इस तरह का संघर्ष छेड़ने का कोई गम्भीर इरादा नहीं था। न ही उसके लिए नेताओं ने कोई तैयारी की थी। उन्होंने तो सिर्फ सम-झौते की बातचीत छेड़ने के लिए संघर्ष की धमकी दी थी। अपनी नीति के समर्थन में नेताओं ने बार-बार यह दलील पेश की है जिससे सिर्फ यही प्रकट होता है कि उनका दृष्टिकोण कितना अगम्भीर और दिवालिया था। युद्ध की नाजुक परिस्थिति में वे कोरी गीदड़भभकी की नीति पर चलना चाहते थे। इसे दाव लगाना ही कहा जा सकता है।

दावपेंच की दृष्टि से भी प्रस्ताव अत्यन्त अविवेकपूर्ण था। उससे साम्राज्य-वादी प्रतिक्रियावादियों को हमला करने के लिए वह बहाना मिल गया जिसके लिए वे बहुत दिनों से इन्तजार कर रहे थे। कांग्रेस की पुरानी फासिस्ट-विरोधी परम्परा बेदाग थी। उधर साम्राज्यवाद का पुराना इतिहास फासिस्टों का साथ देने का था। इसलिए जब तक कांग्रेस भारत की ऐसी निर्णायक राजनीतिक शक्ति के रूप में दुनिया के सामने आती रही, जो फासिज्म के खिलाफ सारे संसार की जनता के युद्ध में भाग लेने के लिए भारत की जनता को भी संगठित करना चाहती थी, तब तक साम्राज्यवाद का हथकंडा नहीं चल पाया। लेकिन जैसे ही अगस्त प्रस्ताव पास हुआ, वैसे ही साम्राज्यवाद को यह कहने का मौका मिल गया कि वह तो जापानी फासिज्म के हमले से भारत की हिफाजत करना चाहता है, लेकिन कांग्रेस हिफाजत की कोशिशों में गड़बड़ी पैदा कर रही है। उसे भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को फासिस्टपरस्त, जापान-परस्त और संयुक्त राष्ट्रों की जनता के युद्ध-उद्योग में तोड़फोड़ करने वाला आन्दोलन बताकर बदनाम करने का मौका मिल गया। और इस आरोप को अपना राजनीतिक आधार बनाकर साम्राज्यवाद ने राष्ट्रीय आन्दोलन का दमन करने की अपनी प्रतिक्रियावादी नीति चालू कर दी। अतएव, अगस्त प्रस्ताव स्वतंत्रता प्राप्त करने का हथियार नहीं, बल्कि साम्राज्यवादियों के उक-सावे में आ जाने और उनके बिछाये हुए जाल में फंस जाने का तरीका था।

कांग्रेस के जिस अल्पसंख्यक भाग (भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी) ने इस प्रस्ताव का विरोध किया, वह बराबर नेताओं को यह चेतावनी देता आ रहा था कि इस प्रस्ताव का क्या फल होगा। राष्ट्रीय आन्दोलन के जिन फासिस्ट-विरोधी मजदूर-वर्गीय हिस्सों का प्रतिनिधित्व कम्युनिस्ट पार्टी करती थी, वे शुरू से ही स्वतंत्रता संग्राम के विषय में एक स्पष्ट तथा सुसंगत नीति देश के

सामने रख रहे थे। उनका कहना था कि इस युद्ध से जो नये काम और जिम्मेदारियां पैदा हुई हैं, उनको आगे बढ़कर संभाला जाय। उस नाजुक स्थिति में असहयोग के बदले उन्होंने एक ठोस कार्यक्रम देश के सामने रखा :

१. फासिज्म का मिलकर मुकाबला करने के एक समान कार्यक्रम के आधार पर कांग्रेस, मुस्लिम लीग और अन्य सभी राजनीतिक पार्टियों को मिलाकर भारत में संयुक्त राष्ट्रीय मोर्चा बनाना।

२. इस तरह के राष्ट्रीय मोर्चे के आधार पर, सभी हिस्सों के समर्थन से अंग्रेजी सरकार पर यह दबाव डालना कि वह समझौता करे और राष्ट्रीय सरकार बनने दे।

३. इस न्यायोचित राजनीतिक मांग पर जोर देने के साथ-साथ युद्ध-उद्योग में पूरे जोश से भाग लेना, जनता को गोलबन्द करना और जनता के युद्ध-उद्योग को मजबूत करने के लिए तथा फासिज्म के खिलाफ राष्ट्रीय प्रतिरोध को बढ़ाने के लिए, राष्ट्रीय आन्दोलन के नेतृत्व में गैर-सरकारी तौर पर जनता को जत्थेबन्द करना।

४. असहयोग की नीति को भारतीय जनता के हितों के लिए घातक समझकर दृढ़तापूर्वक अस्वीकार करना।

लेकिन उस वक्त देश में चूंकि बहुत गुस्सा था और ब्रिटेन का शासक वर्ग राष्ट्रीय सरकार की मांग को पूरा करने के लिए तैयार नहीं था इसलिए यह नीति राष्ट्रीय आन्दोलन के अधिकांश भाग का समर्थन न प्राप्त कर सकी।

कांग्रेस का प्रस्ताव ८ अगस्त को पास हुआ। ९ अगस्त की सुबह सभी प्रमुख कांग्रेसी नेता गिरफ्तार कर लिये गये। इस पर देश भर में प्रदर्शन हुए और असंगठित एवं आंशिक रूप से जहां-तहां मुठभेड़ें और टक्करें हुईं, जिनका पुलिस और फौज ने अत्यन्त क्रूरतापूर्वक दमन किया। बहुत से लोग मारे गये। हजारों जख्मी हुए।

९ अगस्त १९४२ और ३१ दिसम्बर १९४२ के बीच, सरकारी बयानों के अनुसार ६२,२२९ आदमी गिरफ्तार किये गये; १८००० भारत रक्षा कानून के मातहत बिना मुकदमा जेलों में बन्द कर दिये गये; ९४० आदमी पुलिस या फौज की गोलियों से मारे गये; और १,६३० जख्मी हुए।

राष्ट्रीय नेताओं की गिरफ्तारी के बाद देश में जो गुस्सा फैला और जनता ने जो प्रदर्शन किये, वे अत्यन्त व्यापक और स्वयं-स्फूर्त थे। लेकिन इस तरह जो छिट-पुट टक्करें हुईं, बेचैनी फैली या अलग-अलग गुटों और दलों की तरफ से जो परस्पर-विरोधी हिदायतें जारी हुईं, वे कांग्रेस के किसी संगठित आन्दोलन का प्रतिनिधित्व नहीं करती थीं। कांग्रेस ने उनके लिए कभी अनुमति नहीं दी थी। आन्दोलन छेड़ने का अधिकार केवल गांधी जी को दिया गया था;

लेकिन उन्होंने खुलेआम ऐलान किया था कि इन झगड़ों का कांग्रेस से कोई सम्बंध नहीं है। यह तो बाद की बात है कि एक अस्थायी और संकीर्ण राजनीतिक मकसद के लिए अगस्त १९४२ और उसके बाद के महीनों की नेताविहीन उलझी हुई घटनाओं को "अगस्त संग्राम" का नाम देने की कोशिश की गयी, जो बहुत चतुराई की कोशिश नहीं थी।

अगस्त की घटनाओं के बाद राष्ट्रीय आन्दोलन अव्यवस्थित हो गया। कोई संगठित नेतृत्व और स्पष्ट नीति नहीं रह गयी। इसका परिणाम यह हुआ कि आने वाले वर्षों में राजनीतिक गतिरोध के साथ-साथ निराशा और उलझन का दौर-दौरा रहा। मुस्लिम लीग की ताकत इसी दौर में तेजी से बढ़ी।

६ मई १९४४ को अस्वस्थ हो जाने के कारण गांधी जी रिहा कर दिये गये। उन्होंने बाहर आते ही ऐलान किया कि ८ अगस्त १९४२ के प्रस्ताव का जन-सत्याग्रह सम्बंधी भाग स्वयं रद्द हो गया है, क्योंकि १९४४ में वह १९४२ की तरफ लौटकर नहीं जा सकते। लेकिन गतिरोध कायम रहा।

१९४५ की गर्मियों में गतिरोध दूर करने की फिर एक कोशिश की गयी। केन्द्रीय धारासभा में कांग्रेस पार्टी और मुस्लिम लीग पार्टी के दो नेताओं के बीच एक अस्थायी समझौता हो गया। समझौते का आधार यह था कि सरकार में कांग्रेस और लीग के बराबर-बराबर सदस्य रहें। यह प्रस्ताव वायसराय लार्ड वेवेल के सामने रखा गया। वह सलाह लेने उड़कर लन्दन गये और वहां से अंग्रेजी सरकार का एक नया ऐलान लेकर लौटे। कांग्रेस और लीग के प्रतिनिधियों ने जिस शर्त को मंजूर किया था, उसमें इस ऐलान ने बहुत होशियारी से एक तब्दीली कर दी। उनके समझौते में कांग्रेस और लीग की बराबरी की बात थी। सरकारी ऐलान में उसे "स्वर्ण हिन्दूओं और मुसलमानों की बराबरी" में बदल दिया गया। यानी अब समस्या साम्प्रदायिक बन गयी और इस तब्दीली की वजह से समझौते की बातचीत का टूट जाना निश्चित हो गया। कांग्रेस, मुस्लिम लीग और अन्य पार्टियों के प्रतिनिधियों का सम्मेलन, जो जून १९४५ में शिमला में बुलाया गया था, असफल रहा।

इस तरह, युद्ध समाप्त होने पर जब सारी दुनिया की कौमें आजादी की ओर बढ़ रही थीं, भारत वैसा ही गुलाम बना रहा, जैसा कि वह युद्ध के पहले था। लेकिन भारतीय जनता के एक ऐसे नये और विराट उभार के लिए परिस्थितियां परिपक्व हो गयी थीं, जो भारत में अंग्रेजी शासन की नींव को चकनाचूर कर देने वाला था।

अध्याय १५

भारत में अंग्रेजी शासन का अन्त

स्वातंत्र्य-युद्ध में फासिज्म पर विजय के फलस्वरूप सारी दुनिया में जनता की शक्तियां प्रगति के मार्ग पर बढ़ चलीं।

योरप में नाजी कब्जा खत्म हो जाने के बाद प्रगतिशील जनवादी सरकारें बनीं, जिनका आधार फासिज्म से लोहा लेने वाली लड़ाकू शक्तियां थीं, और जिनमें कम्युनिस्ट पार्टियां भी शामिल थीं। ब्रिटेन का विकास अपेक्षाकृत धीरे-धीरे हो रहा था। मगर वहां भी मतदाताओं ने टोरी पार्टी को सरकार से निकाल बाहर किया और पार्लियामेंट का पूर्ण बहुमत पहली बार लेबर पार्टी को सौंप दिया। १९४७ तक पश्चिमी योरप में अमरीकी हस्तक्षेप मार्शल योजना और आर्थिक सहायता के जरिये इस जनवादी विकास को रोकने में कामयाब हो गया; मगर पूर्वी योरप के नये जनवादी राज्यों में जनता आगे बढ़ती गयी; उसने जनता के सच्चे जनतंत्र की स्थापना की जिसमें मेहनतकशों का राज कायम हुआ और जमींदारी प्रथा तथा बड़े पूंजी-पतियों के प्रभुत्व का खात्मा कर दिया गया; और फिर वह समाजवाद के निर्माण की ओर आगे बढ़ चली।

एशिया में राष्ट्रीय स्वतंत्रता के क्रांतिकारी संग्रामों की लहर इस तरह उठी, जैसी आज तक इतिहास में कभी नहीं देखी गयी थी। १९४९ में चीनी क्रान्ति ने अन्तिम रूप से और पूर्ण विजय प्राप्त कर ली और साम्राज्यवादियों तथा उनके दलालों को चीन की भूमि से साफ कर दिया। दक्षिण-पूर्वी एशिया में स्वतंत्रता आंदोलनों तथा उनकी सेनाओं ने नये आजाद राज्य कायम कर दिये। इन सेनाओं ने पश्चिमी ताकतों की साम्राज्यवादी फौजों के पहुंचने के पहले ही जापानी फौजों को अपने देशों से मार भगाया था। पर बाद में पश्चिमी ताकतों की फौजों ने वहां पहुंचकर लम्बे औपनिवेशिक युद्ध आरम्भ कर दिये। उनका उद्देश्य यह था कि इन देशों की जनता ने जो नयी आजादी हासिल की थी, उसे खतम कर दिया जाय और या तो सीधे तौर पर, या फिर अपनी कठपुतलियों की आड़ में इन मुल्कों पर फिर से औपनिवेशिक शासन थोप दिया जाय। लेकिन वियतनाम, मलाया और बर्मा में साम्राज्य-वादियों तथा उनकी कठपुतलियों की सेनाओं के हमले के मुकाबले में जनता के स्वातंत्र्य-मोर्चे ने मैदान नहीं छोड़ा। कोरिया पर अमरीका के नेतृत्व में सभी साम्राज्यवादियों ने मिलकर हमला किया। वे पूरे कोरिया को अमरीकी

उपनिवेश बना देना चाहते थे। यह युद्ध तीन वर्ष तक चलता रहा। अमरीकी सेना ने पूरे देश को तबाह कर दिया और साधारण नागरिकों का कत्लेआम किया; मगर साम्राज्यवादी कामयाब नहीं हुए।

भारत अधिक पेचीदा रास्तों से आजादी की ओर आगे बढ़ा। चीन और दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों की तरह भारत पर न तो जापानियों का कब्जा हुआ था और न ही वहां आजादी के लिए जनता का हथियारबन्द आन्दोलन चला था। युद्ध समाप्त होने पर सब देशों की तरह यहां भी राष्ट्रीय विद्रोह की जबर्दस्त लहर उठी। लेकिन, दूसरी तरफ, यहां चूंकि लड़ाई के जमाने में साम्राज्यवादी मशीन ज्यों की त्यों बनी रही थी, और राष्ट्रीय आंदोलन पर बड़े पूंजीपतियों के उन नेताओं का प्रभुत्व अब भी कायम था जिन्होंने युद्ध के बाद जनता के क्रांतिकारी उभार का सक्रिय विरोध किया और यहां तक कि उसके खिलाफ साम्राज्यवाद के सेनानायकों और गवर्नरों के साथ सहयोग किया, इसलिए भारत में एक खास तरह के समझौते की सम्भावना पैदा हो गयी। १९४७ के समझौते से भारत में अंग्रेजों के औपनिवेशिक शासन का अन्त हो गया, लेकिन साथ ही उससे भारत में जन-क्रान्ति के बढ़ाव को रोकने के लिए दोनों पक्षों के ऊपरी वर्गों की शक्तियों का एक संयुक्त मोर्चा भी कायम हो गया।

१. १९४५-४६ का राष्ट्रीय उभार

१९४५ में शिमला सम्मेलन की असफलता से यह स्पष्ट हो गया था कि ब्रिटेन की साम्राज्यवादी नीति किस दलदल में फंस गयी है। लेकिन, साथ ही उससे यह बात भी जाहिर हो गयी थी कि कांग्रेस और मुस्लिम लीग के नेताओं के बीच एक बहुत ही गहरी खाई है जो ऊपर से देखने में लगती है कि कभी नहीं भरेगी। परन्तु जनता में साम्राज्यवाद के खिलाफ एक होकर लड़ने की जबर्दस्त इच्छा थी। यह बात कलकत्ता, बम्बई और अन्य बड़े शहरों के प्रदर्शनों से स्पष्ट हो गयी थी। इन प्रदर्शनों में जनता कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों के झंडों को साथ लेकर चलती थी और बहुत से शहरों में तो उसके हाथ में कम्युनिस्ट पार्टी के झंडे भी देखे गये थे। दुर्भाग्य से जनता की इस एकता को देखकर भी ऊपरी नेताओं ने एकता कायम नहीं की।

फिर भी, आंदोलन आगे बढ़ता ही गया—न केवल नागरिक बल्कि फौज के लोग भी उसमें खिंच आये। यह भारत के लिए एक नयी घटना थी। उसके क्रांतिकारी महत्व को समझने में न तो साम्राज्यवादी शासकों ने भूल

की और न राष्ट्रीय आन्दोलन के उच्चवर्गीय नेताओं ने। इसके पहले, १९३० में गढ़वाली सिपाहियों ने गोली चलाने से इंकार किया था। पर अब तो फौजों में और खासकर हवाई सेना तथा समुद्री बेड़े में बड़े पैमाने की हड़तालें हो रही थीं, जिनसे यह पता चलता था कि अंग्रेजी ताकत का आधार और उसका यंत्र ही छिन्न-भिन्न हो रहा है।

१९४६ में भारत की समुद्री सेना की बगावत ने मानो बिजली की तरह चमक कर भारतीय क्रांति की परिपक्व होती हुई समस्त शक्तियों को खोलकर सामने रख दिया। १९०५ में रूस के पोतेम्किन जहाज के नाविकों ने विद्रोह किया था। १९१७ में वहां क्रोंसतात के मल्लाहों ने बगावत का झंडा बुलन्द किया था। १९१८ में जर्मनी में कील के जहाजियों ने विद्रोह किया था। इन सब विद्रोहों की स्मृति बताती है कि समुद्री सेनाओं के विद्रोह महान जन क्रांतियों के लिए अग्रदूत का काम करते आये हैं। १९४६ में भारत के समुद्री बेड़े में जो विद्रोह हुआ, उसके समर्थन में देश में जो जन-आन्दोलन उठा और बम्बई के मेहनतकशों ने जिस बहादुरी के साथ उनका साथ दिया—ये सारी घटनाएं भारत के इतिहास में एक नये युग के आरम्भ की सूचना दे रही थीं। फरवरी के उन ऐतिहासिक दिनों में यह बात स्पष्ट हो गयी कि भारत में जनता की प्रगति के मित्र कौन हैं और शत्रु कौन हैं।

विद्रोही जहाजियों ने शुरू से ही कांग्रेस और मुस्लिम लीग के नेताओं से सम्पर्क बना रखा था। लेकिन उनसे उन्हें कोई मदद नहीं मिली। जहाजियों ने एक केन्द्रीय हड़ताल-कमेटी बना ली और पूर्ण अनुशासन कायम रखा। इस विद्रोह का केन्द्र बम्बई था। बम्बई की जनता ने दिल खोलकर विद्रोहियों की मदद की और जहाजों में खाना पहुंचाया। अंग्रेज अधिकारी आंदोलन के विस्तार को देखकर हक्के-बक्के रह गये। घबराकर उन्होंने क्रूर दमन का सहारा लिया। जल्दी-जल्दी फौजें और जंगी जहाज बम्बई और करांची भेजे गये। जब भारतीय सिपाहियों ने गोली चलाने से इंकार कर दिया, तो अंग्रेज फौजों को बुलाया गया और २१ फरवरी को कैसिल बारिक के बाहर सात घंटे तक लडाई चलती रही। २१ तारीख को तीसरे पहर ऐडमिरल गोडफ्रे ने रेडियो पर विद्रोहियों को धमकी दी कि "सरकार के पास जबर्दस्त ताकत है; वह उसका पूरा-पूरा इस्तेमाल करेगी...भले ही समुद्री बेड़ा नेस्तनाबूद क्यों न हो जाय।" इसके जवाब में केन्द्रीय जहाजी हड़ताल कमेटी ने शहर की जनता से शान्तिपूर्ण हड़ताल करने की अपील की। हालांकि उस वक्त यह जरूरी था कि गोरे ऐडमिरल की इस धमकी को चलने न दिया जाय और विद्रोही जहाजियों की जान बचायी जाय, मगर कांग्रेस के नेतृत्व की ओर से सरदार बल्लभभाई पटेल ने हड़ताल का समर्थन करने से इंकार किया और उसके

खिलाफ हिदायतें जारी कर दीं। बम्बई की ट्रेड यूनियनों ने और कम्युनिस्ट पार्टी ने हड़ताल का समर्थन किया और सरदार पटेल की हिदायतों के बावजूद बम्बई की मेहनतकश जनता ने केन्द्रीय जहाजी हड़ताल-कमेटी की अपील पर २२ फरवरी को जबर्दस्त हड़ताल की। अंग्रेज अधिकारियों ने अंधाधुंध गोलियां चलाकर आंदोलन का दमन करने की कोशिश की। सरकारी आंकड़े के अनुसार २१ से २३ फरवरी तक, ३ दिन के भीतर २५० नर-नारी मारे गये।

अन्त में, २३ फरवरी को सरदार पटेल के दबाव से केन्द्रीय हड़ताल-कमेटी ने आत्म-समर्पण का निश्चय कर लिया। सरदार पटेल ने जहाजियों को आत्म समर्पण कर देने की सलाह दी थी और आश्वासन दिया था कि "कांग्रेस इस बात की भरसक कोशिश करेगी कि हड़तालियों से बदला न लिया जाय।" इसी तरह का आश्वासन मुस्लिम लीग ने भी दिया था। लेकिन दो दिन के भीतर ही हड़ताल के नेता पकड़ लिये गये। हड़ताल-कमेटी के अध्यक्ष ने अपने आखिरी बयान में कहा था: "हम भारत के सामने आत्म-समर्पण कर रहे हैं, ब्रिटेन के सामने नहीं।"

फरवरी के दिनों में जहाजियों की बगावत और बम्बई की जनता के संघर्ष से यह बात एकदम स्पष्ट हो गयी कि १९४६ के शुरू में भारत में जो विस्फोटक स्थिति पैदा हो रही थी, उसमें कौन सी शक्तियां किधर थीं। उससे एक तरफ आन्दोलन का ऊंचा स्तर, जनता का साहस और दृढ़ निश्चय, और हिन्दू-मुस्लिम एकता तथा कांग्रेस-लीग एकता के लिए जनता की जबर्दस्त भावना प्रकट हुई थी। उससे मालूम होता था कि यह आंदोलन फौजों तक में पहुंच गया है और इसलिए अब अंग्रेजी शासन का आधार सुरक्षित नहीं रह गया है। मगर दूसरी तरफ, इन घटनाओं से यह भी प्रकट हुआ था कि कांग्रेस और मुस्लिम लीग के उच्चवर्गीय नेता जन-आंदोलन के खिलाफ थे और कानून और व्यवस्था के प्रतिनिधि के रूप में जनता के खिलाफ अंग्रेजी साम्राज्यवाद के साथ मिले हुए थे। उनकी तरफ से बयान पर बयान निकाले गये जिनमें उन साम्राज्यवादी अधिकारियों की हिंसा की निन्दा नहीं की गयी थी जिन्होंने तीन दिन के भीतर सैकड़ों को गोलियों से भून दिया था, बल्कि उस निहत्थी जनता की "हिंसा" की निंदा की गयी थी जो गोरी फौज की गोलियों का शिकार हुई थी। कांग्रेस के अध्यक्ष मौलाना आजाद ने ऐलान किया था:

> "मजदूरों या शहरियों की हड़तालों का और देश की अस्थायी हुकूमत की हुक्म-उदली का अब कोई मौका नहीं है। इस वक्त विदेशी

शासक अस्थायी तौर पर देश की रखवाली कर रहे हैं। उनसे लड़ने की अभी हाल में कोई वजह नहीं पैदा हुई है।"

गांधी जी ने भी एक महत्वपूर्ण बयान में हिन्दुओं और मुसलमानों की "अपवित्र एकता" की निंदा की क्योंकि वह अहिंसा के सिद्धान्त को ठुकराकर स्थापित हुई थी!

इस प्रकार, जन-आन्दोलन और बड़े पूंजीपति वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाले उस राष्ट्रीय नेतृत्व के बीच की वह खाई, जो चौरीचौरा कांड के बाद १९२२ में और गांधी-इरविन समझौते के समय १९३१ में पहले भी प्रकट हो चुकी थी, इस बार और भी ऊंचे स्तर पर प्रकट हुई।

अंग्रेज शासकों को राष्ट्रीय मोर्चे की इस कमजोरी को समझने में देर न लगी और उन्होंने उससे पूरा-पूरा फायदा उठाया। जैसा कि बाद में कैबिनेट मिशन की कारंवाइयों से पता चला, अब ब्रिटिश साम्राज्यवाद की पूरी नीति कांग्रेस और मुस्लिम लीग के नेताओं को इस्तेमाल करने की हो गयी। अंग्रेज शासक एक तरफ उनको यह आशा बंधाते थे कि शासन की बागडोर शान्तिपूर्ण ढंग से उनके हाथों में आ जायगी और दूसरी तरफ उनको जनता का डर दिखाते थे और साथ ही उनके आपसी मतभेद और विरोध से फायदा उठाते थे।

१८ फरवरी को बम्बई में जहाजियों की हड़ताल शुरू हुई।

१९ फरवरी को मि. एटली ने कामंस-सभा में ऐलान किया कि ब्रिटिश मंत्रिमंडल का एक प्रतिनिधि-मंडल भारत भेजा जायगा।

२. कैबिनेट मिशन और माउंटबेटन समझौता

१९४६ के उत्तरार्ध तथा १९४७ के महीनों में साम्राज्यवाद के प्रतिनिधियों तथा कांग्रेस और लीग के नेताओं के बीच बातचीत चलती रही (कैबिनेट मिशन के लौट जाने के बाद साम्राज्यवाद की तरफ से वायसराय लार्ड वेवेल बातचीत चलाने लगे)। एक तरफ यह कभी खत्म न होने वाली बातचीत चल रही थी; दूसरी तरफ भारत में संकट अधिकाधिक गहरा होता जा रहा था।

कल-कारखानों के मजदूरों की हड़तालों की लहर बराबर ऊपर उठती जा रही थी। १९४५ में कुल ७४७,००० मजदूरों ने हड़तालों में हिस्सा लिया था और उनमें ४,०५४,००० काम के दिन जाम हुए थे। १९४६ में १,९६१,००० मजदूरों ने हड़ताल में हिस्सा लिया और उनमें १२,६७८,००० यानी १९४५ के तिगुने दिन जाम हुए। १९४७ के पहले आठ महीनों में १,३२३,००० मज-

दूरों ने हड़तालों में हिस्सा लिया और उनमें ११,१९५,८६१, यानी १९४६ के लगभग बराबर, काम के दिन जाम हुए। इस प्रकार जब साम्राज्यवाद से समझौते की बातचीत में लगे हुए नेताओं की नीति के कारण राष्ट्रीय आन्दोलन का बड़ा हिस्सा असंगठित और पंगु होकर पड़ा हुआ था, तब मजदूर वर्ग का संघर्ष बराबर जोर पकड़ रहा था।

इसके साथ-साथ, देशी राजाओं के शासन के खिलाफ रियासती जनता का आन्दोलन नयी ऊंचाइयों पर पहुंच गया था। खास तौर पर त्रावणकोर और हैदराबाद में, और सबसे अधिक तो कश्मीर में यह बात प्रकट हुई, जहां महाराजा के शासन को खत्म करने के लिए शेख अब्दुल्ला तथा नेशनल कांफ्रेंस के नेतृत्व में चलने वाले "कश्मीर छोड़ो" आन्दोलन का जवाब क्रूर दमन, जेल, लाठी-गोली और आतंक-राज से दिया गया।

दूसरी ओर, साम्राज्यवादी साजिश के सामने नेताओं के आत्म-समर्पण से आन्दोलन में जो अव्यवस्था पैदा हो गयी थी, उसका प्रभाव भी दिखायी देने लगा था। मजदूर वर्ग तथा रियासती जनता के आन्दोलन के साथ-साथ प्रतिक्रियावादी तथा फूटपरस्त ताकतों का हमला भी बढ़ रहा था। १९४५ के अन्त में और कैबिनेट मिशन के आने से पहले १९४६ के शुरू में देश में जो महान राष्ट्रीय उभार आया था, साम्प्रदायिक एकता उसकी एक खास विशेषता थी। कैबिनेट मिशन ने फूट डालने की नीति अपनायी और लगातार हिन्दुओं और मुसलमानों के मतभेदों को बढ़ाने की कोशिश की। उनको मदद मिली कांग्रेस और लीग के उन नेताओं से जो अंग्रेज साम्राज्यवादियों से समझौता करने और एक-दूसरे को किसी भी तरह नीचा दिखाने की नीति पर चल रहे थे। नतीजा यह हुआ कि एक बार फिर से देश में साम्प्रदायिक कलह की आग भड़क उठी। जून १९४६ में साम्प्रदायिक झगड़े फिर शुरू हो गये जिससे पता चलता है कि कैबिनेट मिशन भारत में क्या काम कर गया था। १९४६ का पतझड़ आते-आते साम्प्रदायिक कलह ने खून-खराबे और हत्याकांडों का रूप धारण कर लिया। अगस्त में मुस्लिम लीग ने कलकत्ते में "सीधी कार्रवाई" का दिन मनाया, तो वहां ऐसा भयंकर दंगा हुआ जैसा पहले कभी नहीं हुआ था और फिर तो ऐसे दंगों का तांता लग गया। कलकत्ते के बाद अक्तूबर में पूर्वी बंगाल में दंगे हुए। फिर बिहार में मुस्लिम-विरोधी दंगे हुए। इन साम्प्रदायिक दंगों में हजारों लोग मौत की घाट उतार दिये गये, दसियों हजार जख्मी और बेघरबार हो गये, अनेक जगहों में बड़े पैमाने पर हत्याकांड रचे गये और आगजनी, लूटपाट और तरह-तरह के अत्याचारों की तो कोई सीमा ही न रही।

"अहिंसा" के सिद्धान्त ने जनता की क्रांतिकारी शक्ति को कुंठित और पंगु

किया था और साम्राज्यशाही के खिलाफ उसे उभरने से रोका था। अब इस भयानक हिंसा और खून-खराबे के रूप में उसका बदला मिल रहा था। प्रति-क्रियावादी नेताओं ने जनता की शक्तियों को विकृत और पथभ्रष्ट करके, असली दुश्मनों की तरफ से उनका ध्यान हटाकर, उन्हें भाई-भाई की लड़ाई तथा एक-दूसरे के विनाश में लगा दिया था। साम्प्रदायिक भावना का जोर पहले मुस्लिम लीग में था। अब हिन्दू महासभा तथा अन्य सम्प्रदायवादी हिन्दू संग-ठनों के तेजी से बढ़ने के साथ-साथ कांग्रेस के कार्यकर्ताओं में भी साम्प्रदायिक विष फैल गया और उसका कांग्रेस के मेरठ अधिवेशन पर जबर्दस्त प्रभाव पड़ा। वहां सरदार पटेल ने जोरदार तालियों की आवाज के बीच ऐलान किया : "तलवार का जवाब तलवार से दिया जायगा !" यह साम्राज्यवाद से लड़ने का आवाहन नहीं था, बल्कि मुसलमानों से लड़ने की गुहार थी।

साम्राज्यवाद के सामने बड़ा भयानक संकट था, जो दिन-ब-दिन और ज्यादा गहरा होता जा रहा था। एक तरफ मजदूर वर्ग तथा किसानों के संघर्ष और देशी राजाओं के शासन के खिलाफ जनता के विद्रोह बढ़ रहे थे, तो दूसरी तरफ राजनीतिक विश्रंखलता और प्रतिक्रियावादी साम्प्रदायिक कलह तथा अराजकता भी बढ़ रही थी। इन दोनों ही बातों से यह प्रकट हो रहा था कि संकट गहरा हो रहा था। अतएव, साम्राज्यवाद ने राजनीतिक समझौते की क्रिया को तेज करने की कोशिश की। अगस्त १९४६ में कांग्रेसी और सिख नेताओं को शामिल करके एक नयी अन्तरिम सरकार बनायी गयी। नेहरू उसके प्रमुख थे। इस सरकार को अब भी वायसराय की कार्यकारिणी काउंसिल के रस्मी ढांचे के अन्दर ही काम करना था। अक्तूबर में उसमें मुस्लिम लीग के प्रतिनिधि भी शामिल कर लिये गये। लेकिन यह अन्तरिम सरकार संयुक्त मंत्रिमंडल के रूप में काम न कर सकी। दोनों दलों के नेताओं के बीच खुलेआम विरोध चलता रहा और और केन्द्रीय सरकार के पूर्णतया निष्क्रिय हो जाने का खतरा पैदा हो गया।

दिसम्बर १९४६ में अंग्रेजी सरकार तथा भारतीय नेताओं का एक सम्मे-लन लन्दन में बुलाया गया। उसमें एटली, वेवेल, नेहरू और जिन्ना शरीक हुए। इस सम्मेलन से भी गतिरोध का कोई हल न निकला। लेकिन सम्मेलन के निष्कर्ष की घोषणा करते हुए अंग्रेजी सरकार ने जो बयान जारी किया, उसके अन्त में एक अर्थभरी धारा जोड़ दी गयी :

> "यदि ऐसी विधान परिषद ने, जिसमें भारत की आबादी के एक बड़े भाग के प्रतिनिधि शरीक न हों, कोई विधान बनाया तो जाहिर है कि बादशाह सलामत की सरकार ऐसे विधान को देश के उन भागों पर लादने की बात नहीं सोच सकती जो उससे असहमत हों।"

ऐलान का मतलब साफ था। "भारत की आबादी के एक बड़े भाग" से यहां देश की उस तीन-चौथाई आबादी से मतलब नहीं था जिसे अंग्रेजी सरकार ने वोट देने का हक भी नहीं दिया था और जिसने उन प्रान्तीय धारासभाओं के चुनाव में कोई भाग नहीं लिया था जिनको प्रस्तावित "विधान परिषद" के सदस्यों को चुनना था। उसका मतलब केवल मुस्लिम लीग से था जिसने विधान परिषद के बहुमत के फैसलों को मानने से इंकार कर दिया था। और सबने उसका यही मतलब लगाया भी। इस बयान में पहली बार इस बात की साफ झलक मिली कि अंग्रेजी सरकार भारत की समस्या को उसका बंटवारा करके "हल" करने जा रही है। इस बयान से मुस्लिम लीग को मुकम्मिल वीटो करने का अधिकार मिल जाता था, और पहले से इस बात की गारंटी हो जाती थी कि यदि मुस्लिम लीग ने इस वीटो का इस्तेमाल किया, तो अंग्रेजी सरकार जबर्दस्ती देश का बंटवारा कर देगी।

१९४७ के शुरू के महीनों में संकट बराबर गहरा होता गया और उसके साथ सरकारी दमन भी तेज होता गया। जनवरी १९४७ में कम्युनिस्ट पार्टी के दफ्तरों पर सारे देश में एक साथ छापे मारे गये और सैकड़ों कम्युनिस्ट नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया। ये गिरफ्तारियां साम्राज्यवाद की साधारण पुलिस ने की थी, मगर थोड़ा हील-हवाला करने के बाद अन्त में उनकी जिम्मेदारी केन्द्रीय सरकार की तरफ से गृह-मंत्री सरदार पटेल ने अपने ऊपर ले ली। २१ फरवरी को उन्होंने केन्द्रीय धारासभा के सामने बयान देते हुए स्वीकार किया कि १,९५० कम्युनिस्ट गिरफ्तार हुए हैं। ब्रिटिश प्रतिनिधियों ने लन्दन भेजी जाने वाली रिपोर्टों में इस बात पर जोर दिया कि परिस्थिति हाथ से निकली जा रही है और सरकारी महकमों में अव्यवस्था फैल जाने का खतरा पैदा हो गया है, इसलिए जल्द से जल्द राजनीतिक समझौता हो जाना चाहिए।

फरवरी १९४७ में अंग्रेजी सरकार ने जल्दी समझौता कराने के उद्देश्य से कुछ नये कदम उठाये। वायसराय लार्ड वेवेल को वापस बुला लिया गया और उनकी जगह लार्ड माउंटबैटन को नियुक्त किया गया। वह लड़ाई के जमाने में दक्षिण-पूर्वी एशिया में मित्र राष्ट्रों की सेनाओं के प्रधान सेनापति थे (अपनी युवावस्था में वह १९२१ में ब्रिटिश युवराज के साथ भारत का दौरा भी कर चुके थे)। लार्ड माउंटबैटन को जल्दी से समझौता कराने के लिए नयी हिदायतें दी गयीं जिनका असली मतलब यह था कि भारत का बंटवारा कर दिया जाय। इसके साथ-साथ प्रधान मंत्री मि. एटली ने २० फरवरी को कामंससभा में एक नया ऐलान किया। उसमें कहा गया था :

"बादशाह सलामत की सरकार यह बात साफ कर देना चाहती है कि जून १९४८ के पहले-पहले जिम्मेदार भारतीय हाथों में सत्ता सौंप देने के लिए जरूरी क़दम उठाने का उसका पक्का इरादा है।"

साथ ही, इस ऐलान में यह चेतावनी दी गयी थी कि बर्तानवी सरकार किसी विधान सभा द्वारा बनाये गये ऐसे किसी विधान को स्वीकार नहीं करेगी जो कैबिनेट मिशन योजना के "सुझावों के अनुसार" न हो और "एक पूर्णतया प्रतिनिधि विधान सभा द्वारा न बनाया गया हो," यानी, मुस्लिम लीग की सहमति से न बनाया गया हो; और यह कि यदि मुस्लिम लीग ने मंजूरी नहीं दी, या भारतीय विधान सभा के बहुमत प्रतिनिधियों ने एक ऐसा विधान बनाया जिसे बर्तानिया का अनुमोदन प्राप्त न हो, तो :

"बादशाह सलामत की सरकार को यह तय करना होगा कि निश्चित तिथि पर ब्रिटिश भारत में केन्द्रीय सरकार की सत्ता किसके हाथों में सौंपी जाय; पूर्ण रूप से ब्रिटिश भारत के लिए किसी प्रकार की केन्द्रीय सरकार को दे दी जाय, या कुछ इलाकों में वर्तमान प्रान्तीय सरकारों को सौंप दी जाय अथवा किसी ऐसे तरीके से हस्तांतरित की जाय जो सबसे अधिक युक्तिसंगत और भारतीय जनता के श्रेष्ठतम हित में हो।"

देशी राज्यों से सम्बन्धित ऐलान में कहा गया था :

"देशी राज्यों के बारे में बादशाह सलामत की सरकार सर्वोच्च सत्ता के अपने अधिकारों और जिम्मेदारियों को ब्रिटिश भारत की किसी भी सरकार को सौंपना नहीं चाहती। सत्ता हस्तांतरित होने की अन्तिम तारीख के पहले सर्वोच्च सत्ता की व्यवस्था को खतम करने का कोई इरादा नहीं है; लेकिन यह इरादा जरूर है कि बीच के काल के लिए अलग-अलग रियासतों के साथ अंग्रेजी सत्ता के सम्बंधों में, समझौते के जरिये, जरूरी रद्दोबदल कर लिये जायें।"

३. १९४७ के समझौते का स्वरूप

फरवरी १९४७ का यह ऐलान उन शर्तों को समझने की कुंजी है जिनके अनुसार नयी शासन व्यवस्था का श्रीगणेश होने वाला था। इसलिए इस पर अच्छी तरह गौर कर लेना जरूरी है। भारत की जनता को अपनी इच्छा के अनुसार नयी सरकार का स्वरूप तय करने का कतई कोई अधिकार नहीं दिया गया था। इस बात का भी कोई सवाल नहीं था कि बालिग मताधिकार के

आधार पर भारत की जनता द्वारा स्वतंत्रतापूर्वक चुनी हुई किसी स्वतंत्र विधान परिषद को बिना किसी बाहरी हस्तक्षेप के जनता की तरफ से विधान बनाने का पूर्ण अधिकार रहेगा। सही माने में प्रभुसत्ता सम्पन्न जनवादी राज्य सदा इसी प्रकार स्थापित होता है। मगर यहां ऐसी कोई बात नहीं थी।

इसके विपरीत, अंग्रेजी सरकार ने पहले से ही इसके बहुत ही सख्त और साफ नियम बना दिये थे कि वह किस प्रकार के विधान की इजाजत देगी। यह बात भी साफ कर दी गयी थी कि अगर साम्राज्यवादी सरकार द्वारा एकदम एकतरफा ढंग से बनाये गये इन नियमों और शर्तों को नहीं माना गया, तो फैसला केवल साम्राज्यवादी सरकार के हाथों में रहेगा और वही एकतरफा ढंग से फैसला करेगी कि वह "सत्ता" को किन "जिम्मेदार भारतीय हाथों में" "हस्तांतरित" करेगी। दूसरे शब्दों में, इस प्रारम्भिक अवस्था में अभी कोई स्वतंत्र प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य नहीं कायम हो रहा था, बल्कि साम्राज्यवाद ऐसे अधिकारियों के हाथों में ताकत सौंप रहा था जो उसे अपने लिए हितकारी प्रतीत होते थे। यानी, माउंटबैटन समझौते के द्वारा अंग्रेजों के औपनिवेशिक शासन के खात्मे से स्वतंत्रता की ओर भारत की प्रगति केवल आरम्भ हो रही थी।

कैबिनेट मिशन की पुरानी योजना की जगह पर जो नयी माउंटबैटन योजना बनायी गयी, वह बहुत तेजी से तैयार की गयी और जून में प्रकाशित कर दी गयी। और अगस्त १९४७ तक वह अमल में भी आ गयी, हालांकि इसके लिए पहले जून १९४८ की तारीख तय की गयी थी। इतनी जल्दी इसलिए की गयी क्योंकि संकट बहुत गहरा हो गया था और सरकारी अधिकारी भी यह मानते थे कि यदि भारत में साम्राज्यवाद की सत्ता को भरभराकर गिर पड़ने से बचाना है और संकट का कोई क्रान्तिकारी हल निकलने से रोकना है, तो जरूरी है कि समझौता जल्द से जल्द हो जाय। जैसा कि संडे टाइम्स के संवाददाता ने ४ मई १९४७ को लिखा था कि ब्रिटिश अधिकारी यह देख रहे थे कि "सम्भव है कि जून १९४८ आने के पहले ही भारत में अराजकता फैल जाय।"

माउंटबैटन योजना में इस बात की पूरी तफसील मौजूद थी कि भारत का बंटवारा किस तरह होगा और बंटे हुए भारत के दो अलग-अलग हिस्सों की अलग-अलग सरकारों को डोमीनियन स्टेटस के रूप में जिम्मेदारी किसी तरह बहुत जल्दी से सौंप दी जायगी।

भारत के बड़े राजनीतिक संगठनों के नेताओं ने माउंटबैटन योजना को स्वीकार किया। कांग्रेस और मुस्लिम लीग के राजनीतिक नेताओं को योजना के बारे में काफी सन्देह थे, पर उन्होंने उसे मंजूर कर लिया।

भारत के वामपक्षियों ने, जिनमें सोशलिस्ट, कम्युनिस्ट और उग्र राष्ट्रवादी सभी शामिल थे, इस योजना की सख्त आलोचना की, क्योंकि वह देश के टुकड़े करने की योजना थी और उससे सचमुच जनता के हाथों में सत्ता नहीं पहुंचती थी। भारत की कम्युनिस्ट पार्टी ने कहा :

> "स्वतन्त्रता आन्दोलन पूरे देश की मुकम्मिल आजादी चाहता है। भारत के बंटवारे की नयी अंग्रेजी योजना के जरिये उस पर हताश हमला किया गया है।...माउंटबैटन योजना 'भारत छोड़ो' की योजना नहीं है; वह तो वास्तव में एक ऐसी योजना जिसके जरिये ज्यादा से ज्यादा आर्थिक तथा फौजी नियंत्रण अंग्रेजों के हाथों में रखने की कोशिश की गयी है।"

ब्रिटेन में टोरी और लेबर पार्टी, दोनों ने योजना का समर्थन किया।

अंतर्राष्ट्रीय दुनिया में, अमरीकी सरकार का मत प्रकट करने वाले अखबारों ने योजना की बड़ी तारीफें कीं। अधिकतर देशों के दक्षिणपंथी अखबारों का भी यही रुख रहा। मगर, रायटर के शब्दों में, "वामपंथी अखबारों ने सभी देशों में योजना की आलोचना की।" सोवियत आलोचना जुकोव के शब्दों में इस प्रकार प्रकट हुई :

> "ब्रिटेन को मजबूर होकर अमरीका से सबक सीखना पड़ा है और फिलीपाइंस के विषय में उसकी इस नीति की नकल करनी पड़ी है कि नाममात्र की झूठी आजादी दे दो। यानी भारत से इस तरह हटो कि वहीं बने रहो।"

माउंटबैटन योजना की नयी और केन्द्रीय विशेषता भारत का बंटवारा कर देना था। अन्य सब बातों में वह केवल भारत के बड़े पूंजीपति वर्ग के साथ साम्राज्यवाद के संयुक्त मोर्चे के उस सिद्धांत को ही और आगे ले जाती थी, जो कैबिनेट मिशन की योजना के रूप में पहले ही सामने आ चुका था।

कई पीढ़ियों से अंग्रेजी सरकार इस बात की खास तौर पर शेखी बघारती आयी थी कि उसने भारत को एकता के सूत्र में बांधा है। पर वही भारत जो दो हजार वर्ष पहले अशोक और चन्द्रगुप्त के काल में और साढ़े तीन सौ वर्ष पहले अकबर के काल में एकताबद्ध हो चुका था, अंग्रेजों के दो सौ वर्ष के राज के बाद अन्त में दो विरोधी टुकड़ों में खंडित होकर पराश्रित भारतीय शासकों को सौंप दिया गया। भारत के लिए जरूरी बना दिया गया कि वह "फूट डालो और राज करो" कि इस घातक साम्राज्यवादी विरासत को दूर करने के लिए एक लम्बा और तकलीफदेह रास्ता तय करे।

माउंटबैटन योजना के अनुसार भारत का बंटवारा हो जाने से बहुत बड़ी खराबियां पैदा हो गयीं।

एक तो इस योजना के मातहत राज्यों की सीमाएं भाषा, संस्कृति या जाति के आधार पर नहीं तय की गयीं, बल्कि धर्म के आधार पर तय की गयीं। इसका सिर्फ यही मतलब नहीं हुआ कि सीमाएं मनमाने ढंग से बनायी गयीं, जिनको लेकर और झगड़े बढ़ गये, बल्कि इसका यह भी नतीजा हुआ कि जिन राज्यों को एक विशेष धर्म का बहुमत होने के आधार पर बनाया गया था, उनमें दूसरे धर्म के बहुत बड़े अल्पमत को भी शामिल कर लिया गया। इससे न सिर्फ धर्म के भेद पर अधारित दो अलग-अलग राज्यों में भारत खंडित हो गया; बल्कि राजनीतिक बंटवारे का आधार चूंकि धार्मिक भेदों को बनाया गया था, इसलिए भारत के हर शहर और गांव में, हर क्षेत्र में ये भेद पैदा हो गये और पहले से कई गुना बढ़ गये। भारत में अन्दरूनी झगड़ों को स्थायी बना देने का इससे अच्छा कोई तरीका नहीं हो सकता था। माउंटबैटन योजना के अमल में आते ही बहुत खौफनाक दंगे और कत्लेआम शुरू हो गये और करोड़ों शरणार्थी घर-द्वार छोड़कर एक देश से दूसरे देश को भागने लगे। भारत के इतिहास में यह सब पहले कभी नहीं हुआ था।

दूसरे, एक संयुक्त भारतीय सरकार के बदले, एक-दूसरे के मुकाबले में खड़ी हुई दो भारतीय सरकारों को ताकत सौंपने का परिणाम यह हुआ कि दोनों सरकारों के बीच हमेशा कलह रहने लगी और बराबर झगड़े होने लगे। देशी रियासतों ने इस परिस्थिति में और पेचीदगी पैदा कर दी, क्योंकि हर सरकार चाहती थी कि रियासतें उसके साथ आयें, और उनको साथ लेने के लिए दोनों सरकारों में होड़ चलती थी। एक बरस के अन्दर दोनों राज्य सीधे-सीधे एक-दूसरे के खिलाफ फौजी कार्रवाई करने लगे। साथ ही, हर राज्य इस कोशिश में लग गया कि उसे संयुक्त राष्ट्र संघ के जरिये दूसरे राज्य के खिलाफ साम्राज्यवादी अधिकारियों की मदद मिल जाय। इस बात से झगड़ा कम नहीं हुआ कि दोनों डोमीनियनों की सेनाओं के प्रधान सेनापति अंग्रेज थे, और दोनों में बहुत से अंग्रेज अफसर थे, बल्कि इससे पेचीदगियां और बढ़ गयीं। जैसा कि ३ अगस्त १९४८ को मैंचेस्टर गार्जियन ने लिखा था :

> "कश्मीर की लड़ाई में पाकिस्तान के सरकारी तौर पर भाग लेने से पूरे ब्रिटिश कॉमनवेल्थ के लिए गम्भीर समस्याएं पैदा हो गयी हैं। यह पहला मौका है कि दोनों डोमीनियनों की फौजों ने आपस में जंग की है...।

"इसके अलावा, पाकिस्तानी तथा भारतीय दोनों ही सेनाओं के प्रधान सेनापति अंग्रेज हैं, दोनों के सलाहकार अंग्रेज हैं, और भारतीय फौज में हालांकि बहुत थोड़े अंग्रेज अफसर हैं, मगर पाकिस्तानी फौज में कई सौ अंग्रेज अफसर हैं। इस तरह अंग्रेज ही परस्पर विरोधी पांतों में खड़े हैं।"

तीसरे, भारत का बंटवारा इस तरह किया गया कि आर्थिक तथा राजनीतिक सम्बन्ध तोड़ डाले गये, एक-दूसरे पर निर्भर करने वाले उद्योग-प्रधान तथा कृषिप्रधान क्षेत्रों को काट दिया गया, रेल और नहरों की व्यवस्थाओं को अंधाधुंध ढंग से छिन्न-भिन्न कर दिया गया, और इससे अखिल भारतीय आर्थिक विकास के रास्ते में और विकास की एक अखिल भारतीय योजना बनाने के रास्ते में, जो भारत की भावी समृद्धि के लिए अत्यन्त आवश्यक है, एक बड़ी भारी रुकावट खड़ी हो गयी। इस प्रकार, बंटवारे से जनवादी आंदोलन और मजदूर-किसान आंदोलन के विकास के रास्ते में ज्यादा से ज्यादा कठिनाइयां पैदा हो गयीं। इन सारे आंदोलनों और उनके संगठनों का अखिल भारतीय आधार पर विकास हुआ था। पर अब नये राज्यों के बन जाने के परिणामस्वरूप एक तो इन आंदोलनों और संगठनों के दो टुकड़े हो गये; और दूसरे अब उनके लिए साम्प्रदायिक कलह के उस शैतान से लड़ना जरूरी हो गया जिसे साम्राज्यवादी योजना ने पैदा किया था।

माउंटबैटन योजना को बहुत ही तेजी के साथ अमल में लाया गया। १५ अगस्त १९४७ को भारत और पाकिस्तान के दो नये डोमीनियनों की घोषणा हो गयी।

१९४७ का समझौता निस्सन्देह स्वतंत्रत के मार्ग पर प्रगति में एक ऐतिहासिक मंजिल का प्रतिनिधित्व करता है। उससे भारत में ब्रिटेन का दो सौ वर्ष पुराना औपनिवेशिक शासन समाप्त हो गया—और यह चीज अंग्रेज शासकों की दया से नहीं, बल्कि भारतीय जनता के संघर्षों की शक्ति से हुई। फिर भी, इस समझौते में अनेक भारी-भरकम दुर्गुण थे। उससे भारत का बंटवारा हो गया था, शासन-सत्ता भारत के उन ऊपरी वर्गों को सौंप दी गयी थी जिनका साम्राज्यवाद से सम्बंध था, और उससे भारत पर साम्राज्यवाद का आर्थिक तथा सामरिक प्रभुत्व बना रहता था। अतः पूर्ण स्वतंत्रता के मार्ग पर भारतीय जनता की प्रगति को बाद के वर्षों में और भी अनेक महान परिवर्तनों से गुजरना था।

अध्याय १६

नवीनतम चरण

साम्राज्यवाद की हर प्रकार की दासता का अन्त करने तथा राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक स्वतंत्रता की समस्याओं को हल करने के लिए भारतीय जनता की आजादी की लड़ाई १९४७ के बाद और आगे बढ़ी है और नयी परिस्थितियों में लड़ी जा रही है।

पिछले कुछ वर्षों की घटनाओं से यह बात भलीभांति स्पष्ट हो गयी है कि ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर भारत तथा पाकिस्तान के डोमीनियनों की स्थापना के रूप में अंग्रेजी साम्राज्यवाद और भारत के ऊपरी वर्गों के बीच १९४७ में जो समझौता हुआ था, उससे भारत की आजादी की लड़ाई समाप्त नहीं हो गयी थी, बल्कि, इसके विपरीत, वह समझौता एक अस्थायी परिवर्तनकालीन अवस्था का प्रतिनिधित्व करता था जिसके बाद भारत की आजादी की लड़ाई एक नयी और पहले से ऊंची अवस्था में प्रवेश करने वाली थी। यह वह अवस्था है जिसमें भारत का मजदूर वर्ग, कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में, अधिकाधिक आगे आता है और बड़े पूंजीपति वर्ग तथा उसके सहयोगियों से राष्ट्र का नेतृत्व अपने हाथ में लेता है और अन्तिम विजय की ओर अग्रसर होता है।

अंग्रेजी साम्राज्य के भीतर भारत तथा पाकिस्तान के डोमीनियनों की स्थापना रस्मी तौर पर स्वतंत्र तथा सर्वसत्ता सम्पन्न राज्यों के रूप में हुई थी। १९५० के आते-आते भारत का डोमीनियन भारत का प्रजातंत्र बन गया और ब्रिटेन के राजा को "कामनवेल्थ के प्रमुख" के रूप में मानने लगा। लेकिन, व्यवहार में अभी भारत तथा पाकिस्तान पर साम्राज्यवाद का आर्थिक और सैनिक शिकंजा टूटा नहीं था। भारत के आर्थिक साधन तथा उसकी जनता की मेहनत अभी भी अंग्रेजी बंक-पूंजी के नागफांस में फंसी हुई थी; और ऊपर से अमरीकी बंक-पूंजी भी भारत में घुस रही थी; और जनता का जीवन-स्तर औपनिवेशिक शोषण के निम्नतम स्तर पर पड़ा हुआ था।

भारत अभी साम्राज्यवाद से पूर्णतया स्वतंत्र नहीं हुआ था। उसकी स्वतंत्रता की अनेक सीमाएं थीं। उसको ध्यान में रखते हुए ही भारत की कम्युनिस्ट पार्टी ने १९५१ में प्रकाशित अपने कार्यक्रम में भारत को १९४७ के बाद भी एक "अर्ध-उपनिवेश" कहा था ("एशिया के सबसे बड़े देशों में अन्तिम, पराधीन अर्ध-औपनिवेशिक देश") और उसके विधान को, जिससे जनता को कुछ आंशिक जनवादी अधिकार ही प्राप्त हुए थे, "विदेशी साम्राज्यवादी हितों,

मुख्यतया अंग्रेजी साम्राज्यवादी हितों से बंधे हुए एक जमीदार-पूंजीपति राज्य" का विधान बताया था। पाकिस्तान के लिए तो यह वर्णन और भी अधिक उपयुक्त था। वहां अत्यंत सीमित ढंग के जनवादी अधिकारों को भी मनमाने तानाशाही फरमानों के जरिये कुचला जा रहा था। और १९५४ में पाकिस्तान तथा अमरीका के बीच जो फौजी समझौता हुआ, उसने तो पाकिस्तान को सीधे अमरीकी साम्राज्यवाद के दायरे में लाकर पटक दिया।

लेकिन, इस सबके बावजूद, अंग्रेजी और अमरीकी दोनों साम्राज्यों से आजाद होने की जनता की लड़ाई और बहुत ही प्राथमिक ढग की आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक मांगों को प्राप्त करने का संघर्ष तथा शान्ति की रक्षा का आन्दोलन बराबर आगे बढ़ते गये। १९४९ में चीनी जन-क्रान्ति की अन्तिम विजय के बाद, जनता का यह संघर्ष खास तौर पर तेजी से आगे बढ़ा। संसार की राजनीति में भारत नया रुख अपनाने लगा। वह शान्ति की रक्षा के लिए अधिकाधिक सक्रिय भूमिका अदा करने लगा। देश की अन्दरूनी राजनीतिक स्थिति में भी नयी धाराएं नजर आने लगीं। पुराना कांग्रेसी नेतृत्व कमजोर पड़ने लगा और भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में जनता की जनवादी शक्तियां आगे आने लगीं। पाकिस्तान में भी जनवादी शक्तियों का बल बढ़ा, जैसा कि १९५४ में पूर्वी पाकिस्तान के आम चुनावों में प्रकट हुआ, हालांकि वहां उन्हें अत्यंत क्रूर दमन का सामना करना पड़ा।

१. नयी सरकारें

१९४७ के माउंटबैटन समझौते के जरिये जो नयी सरकारें स्थापित हुई थीं, शुरू में उनकी खास बात यह थी कि पुरानी साम्राज्यवादी शासन-व्यवस्था से उनकी शासन-व्यवस्था में कोई खास अन्तर नहीं पड़ा था। साम्राज्यवाद के पुराने शासन-यंत्र को ज्यों का त्यों अपना लिया गया था। वही नौकरशाही थी; वे ही अदालतें थी; वही पुलिस थी; और दमन के तरीके भी वही थे। निहत्थी जनता पर पुलिस अब भी पहले की तरह ही गोली चलाती थी, लाठी-चार्ज करती थी। अब भी पहले की तरह ही सभा पर रोक लगायी जाती थी, अखबार बन्द किये जाते थे, लोगों को बिना मुकदमा जेलों में बन्द किया जाता था, मजदूर यूनियनों और किसान संगठनों का दमन किया जाता था; और जेलों में हजारों उग्रवादी राजनीतिक कार्यकर्ता भरे हुए थे। भारत में साम्राज्यवाद के आर्थिक हितों की, उसकी पूंजी की, उसकी अतुलित सम्पत्ति की बड़ी वफादारी के साथ रक्षा की जाती थी; और साम्राज्यवादी शोषण का चक्र अबाध गति से घूम रहा था। सैनिक नियंत्रण अब भी व्यवहार में

साम्राज्यवादियों की फौजी कमान के हाथों में था। शुरू-शुरू में तो अंग्रेज गवर्नर-जनरल को ही संघ-राज्य के सर्वोच्च अधिकारी के रूप में कायम रखा गया। दोनों डोमीनियनों के खास-खास प्रान्तों में अंग्रेज गवर्नर रखे गये। दोनों राज्यों की सेनाओं के प्रधान सेनापति, सैनिक सलाहकार और ऊंचे अफसर भी अंग्रेज थे।

नयी शासन व्यवस्था के शुरू के सालों में जन-आन्दोलन का, और विशेष कर मजदूर आन्दोलन का दमन चरम सीमा पर पहुंच गया। १९४८ में कम्युनिस्ट पार्टी और अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के खिलाफ, किसानों तथा विद्यार्थियों के संगठनों के खिलाफ और उग्रवादी अखबारों के खिलाफ भी एक आम हमला बोल दिया गया। पश्चिमी बंगाल में, और उसके बाद मद्रास में भी, कम्युनिस्ट पार्टी गैर-कानूनी करार दे दी गयी। दूसरे प्रान्तों में पार्टी का खुलकर काम करना असम्भव बना दिया गया। मजदूर वर्ग के लगभग सभी प्रमुख नेता या तो गिरफ्तार कर लिये गये या उनके नाम वारंट जारी हो गये। जेलों के बाहर निहत्थे प्रदर्शनकारियों पर और जेलों के अन्दर राजनीतिक कैदियों पर पुलिस ने गोलियां चलायीं जिससे बहुत से लोग मारे गये। साम्राज्यवाद ने जनता का दमन करने के लिए जितने कानून बनाये थे, नयी सरकारें उन सबका उपयोग कर रही थीं। दूसरे नये कानून बनाकर उन्होंने दमन के हथियारों को और तेज बना लिया था। १९४९ में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने बताया कि उस वक्त कुछ नहीं तो २५,००० मजदूर और किसान नेता जेलों में बन्द थे, जिनमें से अधिकतर बिना मुकदमा नजरबन्द थे। नयी भारत सरकार द्वारा प्रकाशित सरकारी आंकड़ों के अनुसार, उसके शासन के पहले तीन वर्षों में, यानी १५ अगस्त १९४७ से १ अगस्त १९५० तक, उसकी पुलिस और फौज ने जनता पर १,९८२ बार गोली चलायी, ३,७८४ आदमियों को जान से मारा, लगभग १०,००० को जख्मी किया, ५०,००० को जेल में बन्द किया और जेलों के अन्दर ८२ राजबन्दियों को गोली से उड़ा दिया।

भयानक दमन के इस प्रारम्भिक काल के बाद ही कहीं भारत में एक नया परिवर्तन आया। और १९५० के नये विधान के द्वारा (उसकी कुछ गैर-जनवादी बातों के बावजूद) जनता को कुछ जनवादी अधिकार दिये गये और जनवरी १९५२ में बालिग मताधिकार के आधार पर पहला आम चुनाव हुआ। लेकिन इसके बाद भी जनवादी अधिकारों के लिए सदा संकट बना रहा। इसके बाद भी अक्सर सरकार संकटकालीन अधिकारों का प्रयोग करती रही, दमनकारी कानूनों को काम में लाती रही और लाठी-गोली का इस्तेमाल करती रही।

पाकिस्तान में तानाशाही तरीके अमल में कायम रहे, और जनवादी राजनीतिक एवं मजदूर संगठनों का क्रूर दमन जारी रहा। एक गुप्त "षड्यंत्र" केस के बहाने प्रमुख कम्युनिस्ट, मजदूर तथा जनवादी नेताओं को जेल में डाल दिया गया और लम्बी-लम्बी सजाएं सुना दी गयीं। १६५४ में पूर्वी पाकिस्तान में आम चुनाव हुए और उसमें क्रुद्ध जनता ने बदनाम मुस्लिम लीगी नेताओं को उठाकर पटक दिया और ६३% वोट उस संयुक्त मोर्चे को दिये जिसने एक प्रगतिशील कार्यक्रम के आधार पर चुनाव लड़ा था। मगर इस चुनाव के आधार पर जो मंत्रिमंडल बना, उसे ऊपर से (बाल्डविन की टोरी सरकार के बनाये हुए १६३५ के भारत-सरकार कानून की ६२वीं धारा के तहत) एक तानाशाही फरमान निकालकर बर्खास्त कर दिया गया और पूर्वी पाकिस्तान में फौजी तानाशाही कायम कर दी गयी।

आर्थिक नीति का ढर्रा भी कम महत्वपूर्ण नहीं था। कांग्रेस के पुराने कार्यक्रम में सभी प्रमुख आर्थिक साधनों तथा उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की बात थी। कांग्रेस यह बात मानती थी कि इस प्रकार बड़े पैमाने पर राष्ट्रीयकरण करना न सिर्फ प्रगतिशील पुनर्निर्माण के लिए आवश्यक है, बल्कि भारतीय अर्थव्यवस्था को विदेशी पूंजी के प्रभुत्व से मुक्त करने के लिए भी जरूरी है। लेकिन डोमीनियन सरकार की स्थापना के बाद यह कार्यक्रम दाखिल दफ्तर कर दिया गया।

१७ फरवरी १६४८ को प्रधानमंत्री पं. नेहरू ने ऐलान किया :

> "आर्थिक व्यवस्था में कोई आकस्मिक परिवर्तन नहीं होगा। जहां तक सम्भव होगा, मौजूदा उद्योगों का राष्ट्रीयकरण नहीं किया जायगा।"

रॉयटर की व्यापारिक समाचार सर्विस के आर्थिक विभाग ने १ अप्रैल को नयी दिल्ली से समाचार भेजा :

> "भारत सरकार की अगले दस वर्षों की औद्योगिक एवं आर्थिक नीति में मौजूदा उद्योगों का बड़े पैमाने पर राष्ट्रीयकरण करने का कोई स्थान नहीं होगा।"

६ अप्रैल १६४८ को आर्थिक नीति के सम्बंध में सरकार का प्रस्ताव प्रकाशित हुआ, जिससे ये सारी भविष्यवाणियां सही साबित हुईं। इस प्रस्ताव में कहा गया था कि उद्योगों पर सरकार का स्वामित्व केवल तीन क्षेत्रों तक सीमित रहेगा : अस्त्र-शस्त्र, एटम शक्ति और रेलवे (इन क्षेत्रों में पहले से ही सरकार का स्वामित्व था)। कोयला, लोहा, इस्पात तथा अन्य प्रमुख उद्योगों

के बारे में सरकार ने ऐलान किया कि उसने "इन क्षेत्रों में मौजूदा कम्पनियों को अगले दस वर्ष तक विकसित होने देने का निश्चय किया है;" बिजली पर सरकार का नियंत्रण रहेगा और "बाकी सारा औद्योगिक क्षेत्र सामान्यतया निजी व्यवसाय के लिए खुला रहेगा।" इस प्रकार, पहले से जमी हुई बड़ी इजारेदारियों के हित में, जिनमें साम्राज्यवादी इजारेदारियां भी शामिल थीं, राष्ट्रीयकरण के कार्यक्रम की बलि चढ़ा दी गयी।

आर्थिक नीति सम्बंधी इस प्रस्ताव के साथ-साथ उसकी एक व्याख्या भी प्रकाशित हुई थी। वह विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसमें कहा गया था:

> "भारतीय बाजारों में हाल में यह डर पैदा हुआ था कि सरकार अनेक उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करने का प्रयोग करने वाली है, और इस प्रकार इन उद्योगों की कार्यक्षमता और साख को खतरे में डालने वाली है। अब यह डर एकदम दूर हो गया है। यह आशा की जाती है कि सरकारी नीति के ऐलान से, सरकारी हुंडियों के दाम फिर अपने पुराने स्तर पर पहुंच जायेंगे।
>
> "जानकार हलकों में उम्मीद की जा रही है कि अब चूंकि सरकारी नीति में पुनः विश्वास कायम हो गया है, इसलिए अब पुनर्निर्माण के लिए बड़े-बड़े कर्जे जुटाने के लिए सरकार का रास्ता साफ हो गया है।"

आगे इस व्याख्या में यह आश्वासन दिया गया था कि मुनाफों की हदबंदी या नियंत्रण का कोई डर नहीं है:

> "बाजारों में इस बात की बड़ी आशंका थी कि कहीं सरकार निजी व्यवसायों के मुनाफों की हदबंदी या नियंत्रण न करने लगे। मगर सरकारी नीति का जो ऐलान हुआ है, उसमें इस बात का कोई संकेत नहीं है और इसलिए अब कम्पनियों के हिस्सों की कीमतों में लाजमी तौर पर वृद्धि होगी। इससे निजी व्यवसाय को प्रोत्साहन मिलेगा।"

इस बात में भी कोई सन्देह नहीं रहा कि किस प्रकार के "निजी व्यवसाय" को यह प्रोत्साहन खास तौर पर दिया जा रहा था। यह प्रोत्साहन खास तौर पर साम्राज्यवाद की, यानी अंग्रेजी-अमरीकी पूंजी को दिया जा रहा था। सरकारी प्रस्ताव के साथ जो सरकारी व्याख्या प्रकाशित हुई थी, उसके अन्तिम अंश में सरकारी नीति का यह उद्देश्य बताया गया था:

> "प्रस्ताव भारतीय उद्योगों में विदेशी पूंजी तथा विदेशी व्यवसाय को पूर्ण स्वतंत्रता देना चाहता है और साथ ही राष्ट्रीय हित में उस पर नियं-

त्रण भी रखना चाहता है। प्रस्ताव के इस अंश से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सरकार औद्योगिक प्रबंध एवं टेक्निकल शिक्षा और पूंजी दोनों ही क्षेत्रों में विदेशी मदद की आवश्यकता महसूस करती है और इसलिए यह जरूरी समझती है कि भारतीय व्यवसाय की मदद के लिए विदेशी पूंजी तथा विदेशी कौशल का भारत में स्वागत किया जाय।"

"विदेशी पूंजी को पूर्ण स्वतंत्रता"—माउंटबैटन समझौते से साम्राज्यवाद को सचमुच बड़ा ठाठदार मुनाफा हो रहा था !

इसलिए कोई आश्चर्य नहीं यदि ब्रिटिश पत्र **इकानमिस्ट** ने माउंटबैटन समझौते के समय ही यह लिखा था :

"यदि डोमीनियन स्टेट्स को तिलांजलि नहीं दे दी जाती, तो हो सकता है कि कुछ रस्मी नाता भी कायम रह जाय; और अगर कोई नया राजनीतिक रूप अपनाया गया तो भी ब्रिटेन और भारत के बुनियादी सामरिक तथा आर्थिक सम्बंध तो हर हालत में बने रहेंगे।" (७ जून १९४७)

भारत का साम्राज्यवाद के साथ सम्बंध अब भी किस हद तक कायम था, यह बात सैनिक, सामरिक एवं वैदेशिक नीति के क्षेत्र में और साफ हो गयी, हालांकि बाद की घटनाओं से उसमें कुछ अन्तर पड़ने वाला था।

भारत, पाकिस्तान और लंका के डोमीनियनों के सैनिक संगठन तथा सामरिक योजनाओं का नियंत्रण तथा नेतृत्व अंग्रेजों के हाथ में था। यहां तक कि शुरू के काल में उनकी सेनाओं के प्रधान सेनापति भी अंग्रेज थे। उनके अलावा भारतीय तथा पाकिस्तानी सेनाओं में सैकड़ों अंग्रेज अफसर काम कर रहे थे। भारतीय समुद्री बेड़े तथा हवाई फौज पर अंग्रेजों का खास तौर पर मजबूत नियंत्रण था। समुद्री बेड़े के अफसरों की शिक्षा, संचालन और अस्त्र-शस्त्रों की व्यवस्था सब ब्रिटेन के साथ जुड़ी हुई थी और हवाई फौज के अड्डों का संचालन अंग्रेजी हवाई बेड़े के सहयोग से होता था। लंका की त्रिकोमाली की समुद्री चौकी को अब भी अंग्रेजी साम्राज्य की एक मुख्य फौजी चौकी के रूप में बढ़ाया और फैलाया जा रहा था। भारत की धरती पर अब भी अंग्रेजी फौज के भर्ती के दफ्तर काम कर रहे थे, जहां मलाया की जनता के खिलाफ लड़ाई चलाने के लिए गोरखा सिपाही भर्ती किये जाते थे।

वैदेशिक नीति के मामले में भारत के बड़े पूंजीपतियों ने साम्राज्यवाद के साथ गठबंधन कर लिया था। भारतीय पूंजीपतियों के प्रमुख पत्र **ईस्टर्न इकानमिस्ट** ने ३१ दिसम्बर १९४८ को स्पष्ट रूप में लिखा था :

"बाल की खाल निकालने वाले राजनीतिज्ञ कुछ भी कहें, व्यवहार में हमारी वैदेशिक नीति ने अब एक निश्चित दिशा पकड़ ली है। अब हम एक ऐसी वैदेशिक नीति अपना रहे हैं जो प्रधानतया कॉमनवेल्थ के साथ हमारी मित्रता बनाये रहेगी।...सोवियत संघ के मुकाबले अमरीका से कॉमनवेल्थ की ज्यादा दोस्ती है। इसलिए उसके साथ सहयोग रखने का मतलब यह होगा कि हम असल में अमरीका की तरफ झुकेंगे। इस राजनीतिक तथ्य से क्या तार्किक परिणाम निकलेगा, यह अभी से स्पष्ट हो जाना चाहिए। इसका मतलब यह है कि किसी छोटे-मोटे सवाल को छोड़कर हम राष्ट्र संघ में या कहीं और कॉमनवेल्थ और अमरीका के रुख के विपरीत रुख नहीं अपना सकते।"

अप्रैल १९४९ में लन्दन में डोमीनियनों के प्रधानमंत्रियों का एक सम्मेलन हुआ। उसकी ओर से एक घोषणापत्र प्रकाशित हुआ। उसमें भारत को ब्रिटिश कॉमनवेल्थ के भीतर एक स्वतंत्र प्रजातंत्र मान लिया गया। ऐलान किया गया कि भारतीय प्रजातंत्र ब्रिटेन के राजा को भारत के शासक के रूप में नहीं, बल्कि "कॉमनवेल्थ के प्रमुख" के रूप में मानेगा। ऐलान में कहा गया था :

"भारत सरकार ने घोषणा की है कि भारत कॉमनवेल्थ की अपनी पूर्ण सदस्यता बनाये रखना चाहता है और बादशाह को, कॉमनवेल्थ के सदस्य स्वतंत्र राष्ट्रों के स्वतंत्र सहयोग के प्रतीक के रूप में और इसलिए कामनवेल्थ के प्रमुख के रूप में मानता है।"

लन्दन के इस घोषणापत्र का साम्राज्यवादियों ने स्वागत किया क्योंकि उससे अमली शक्ल में अंग्रेजी साम्राज्य के साथ भारत का सम्बंध बना रहता था। अंग्रेज और अमरीकी साम्राज्यवादियों को भारत से क्या आशाएं थीं, यह बात १९४९ के पतझड़ में और स्पष्ट हो गयी जब पंडित नेहरू अमरीका गये। अक्तूबर १९४९ में न्यूयार्क टाइम्स ने लिखा :

"एशिया में जनवादी शक्तियों के केन्द्र-बिन्दु के रूप में वाशिंगटन की आशाएं भारत पर केन्द्रित हैं, जो एशिया का दूसरे नम्बर का राष्ट्र है, और उस व्यक्ति पर केन्द्रित हैं जो भारत की नीति को निश्चित करता है। हमारा मतलब प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू से है।"

और अगस्त १९५० में उसने फिर लिखा था :

"एक अर्थ में वह (नेहरू) जनवादी पक्ष के लिए माओ त्से-तुंग का जवाब है; एशिया का समर्थन प्राप्त करने के संघर्ष में पंडित नेहरू को अपने मददगार के रूप में पा जाना कई डिवीजन फौज पा जाने के बराबर है।"

अंग्रेज-अमरीकी साम्राज्यवाद के साथ भारत का सहयोग १९५० की गर्मियों में तब चरम सीमा पर पहुंच गया, जब राष्ट्रसंघ में अमरीका ने कोरिया पर अपने फौजी हमले को उचित ठहराते हुए एक गैर-कानूनी प्रस्ताव पेश किया और भारत सरकार ने उसका समर्थन किया। लेकिन एशियाई देशों पर पश्चिमी साम्राज्यवादी जो हमले कर रहे थे और जैसी बर्बादी ढा रहे थे, उसमें उनको भारत का किसी भी प्रकार का सहयोग मिले—इसके खिलाफ भारतीय जनता में बहुत जबर्दस्त भावना थी। दूसरी ओर, चीनी जनतंत्र की विजय से एशिया में एक नया शक्ति-संतुलन पैदा हो गया था। इन दोनों बातों के कारण इसी समय से नये विरोध पैदा होने लगे और भारत की वैदेशिक नीति में एक नया, महत्त्वपूर्ण परिवर्तन दिखायी देने लगा।

इस आधार पर शुरू में कुछ अस्थायी सफलता प्राप्त कर लेने के कारण अंग्रेज और अमरीकी साम्राज्यवादियों की हिम्मत बढ़ी और वे भारत, पाकिस्तान, और लंका को अपने मुख्य अड्डे के रूप में और एशिया में क्रांति-विरोधी शक्तियों के केन्द्र के रूप में इस्तेमाल करने की योजनाएं बनाने लगे। वे चाहते थे कि इन देशों को आधार बनाकर दूसरे एशियाई देशों की जनता के स्वतंत्रता आन्दोलनों पर हमला बोलें।

भारत के बड़े पूंजीपतियों के कुछ खास-खास हलकों से भी इन योजनाओं को समर्थन मिला। ये लोग एशिया में जन-क्रान्ति के बढ़ाव को देखकर बदहवास थे। इसके साथ ही कुछ उनके अपने आर्थिक हितों का भी सवाल था। वे भारत के बाहर एशिया के अन्य देशों तक फैला हुआ कैसा खुला क्रान्ति-विरोधी मोर्चा बनाना चाहते थे, इसकी एक झलक उप-प्रधान मंत्री स्वर्गीय सरदार पटेल के उस रेडियो भाषण में मिली, जो उन्होंने १५ अगस्त १९४८ को दिया था :

> "एक समय समझा जाता था कि एशिया का नेतृत्व चीन करेगा। मगर वह भयानक घरेलू झगड़ों में फंसा हुआ है।...मलाया, हिन्द-चीन और वर्मा में भी परिस्थिति चिन्ताजनक है...यदि भारत में अवांछित तत्वों को तुरंत सख्ती से नहीं दबाया गया तो निश्चय ही वे यहां भी वैसी ही अराजकता पैदा कर देंगे जैसी उन्होंने एशिया के कुछ अन्य देशों में पैदा कर दी है।"

"अवांछित तत्व"—"सख्ती से दबाना"—इतिहास का चक्र मानो एकदम घूम गया था। भारत की पूंजीवादी राष्ट्रवादिता का दक्षिणपंथी नेतृत्व भारतीय नव-साम्राज्यवाद के रूप में प्रस्फुटित हो रहा था और अंग्रेज-अमरीकी साम्राज्यवाद का छोटा साझीदार बनने की कोशिश कर रहा था।

मगर वह आधार गायब था जिसके सहारे यह बात हो सकती। शीघ्र ही,

घटना-चक्र यह बात स्पष्ट कर देने वाला था। अगली अवस्था में भारत एक नये तथा भिन्न पथ पर अग्रसर होने की तैयारी कर रहा था।

२. भारत में अंग्रेज-अमरीकी साम्राज्यवाद

भारत पर आज भी अंग्रेजी साम्राज्यवाद का प्रभुत्व बहुत हद तक कायम है। अमरीकी साम्राज्यवाद का प्रभुत्व, हालांकि, उससे कम है, मगर वह बढ़ रहा है।

राजनीतिक परिवर्तन के बावजूद, भारत की अर्थव्यवस्था पर अंग्रेजी बंक-पूंजी का प्रभुत्व आज भी सबसे अधिक है। भारत की कोयला खानों पर, चाय और रबड़ के बागानों पर, तेल के कुओं और तेल साफ करने के कारखानों पर और बहुत से इंजीनियरिंग के कारखानों पर आज भी मुख्यतया अंग्रेज पूंजीपतियों का स्वामित्व अथवा नियंत्रण है। भारत के विदेशी व्यापार और भारतीय बैंकों के नियंत्रण में निर्णयकारी भूमिका अंग्रेजी पूंजी की है। जिन कम्पनियों के मालिक नाम के लिए भारतीय हैं, उनमें से भी अनेक वास्तव में अंग्रेज मैनेजिंग एजेंसियों की मातहती में हैं। अंग्रेज और अमरीकी इजारेदारों ने भारतीय इजारेदारों के साथ मिलकर मिली-जुली कम्पनियां खोली हैं, जो नाम के लिए तो भारतीय हैं, मगर उन पर असल में विदेशी पूंजी का नियंत्रण है। इन मिली-जुली कम्पनियों के जरिये अंग्रेज और अमरीकी इजारेदारों ने भारतीय इजारेदारों को अपने छोटे साझीदारों के रूप में अपने आधीन कर रखा है।

भारत के रिजर्व बैंक ने हिसाब लगाया है कि ३० जून १९४८ को भारत में ५९६ करोड़ रुपये की निजी विदेशी पूंजी लगी हुई थी। इसमें से ५१९ करोड़ की दीर्घकालीन पूंजी थी। असल में, यह संख्या भी वास्तविक संख्या से कम है क्योंकि उसमें केवल वही व्यापारिक पूंजी शामिल है जो सरकारी कागजों में दर्ज है, और उसमें न सिर्फ सरकारी तथा म्युनिसिपल कर्जों के रूप में लगी हुई निजी पूंजी शामिल नहीं है, बल्कि विदेशी बैंकों की सारी पूंजी भी उसमें से छोड़ दी गयी है। विदेशी बैंकों की पूंजी भारत में बहुत ताकतवर है और देश का अधिकतर वैदेशिक व्यापार उसी की सहायता से चलता है।

भारत सरकार के अर्थमंत्री श्री चिन्तामण देशमुख ने १६ जून १९५२ को पार्लमेंट में बताया था कि जुलाई १९४७ से दिसम्बर १९५१ तक ५२ करोड़ ६० लाख रुपये की विदेशी पूंजी भारत से वापस चली गयी और ११

करोड़ की नयी विदेशी पूंजी यहां लगायी गयी। इसका मतलब यह हुआ कि इस काल में भारत में लगी हुई विदेशी पूंजी में ४२ करोड़ ६०लाख रुपये की कमी आ गयी। इस बयान में अर्थमंत्री ने रिजर्व बैंक के आंकड़ों का हवाला देते हुए यह भी बताया था कि जून १९४८ में भारत में कुल ६१३ करोड़ १० लाख रुपये की दीर्घकालीन विदेशी पूंजी लगी हुई थी, जिसमें से २९२ करोड़ ६० लाख रुपये की पूजी सरकारी हुंडियों की शक्ल में थी (इसमें में २५० करोड़ ५० लाख रुपये की पूंजी ब्रिटेन की थी और ३२० करोड़ ४० लाख रुपये की पूंजी व्यवसाय में लगी हुई थी; इसमें से २३० करोड़ १० लाख की पूंजी ब्रिटेन की थी; जिसकी बाजार में कीमत ३७५ करोड़ ६० लाख रुपये होती थी)।

इन आंकड़ों में भारत में लगी नयी विदेशी पूंजी को कम करके आंका गया है। फिर भी, उनके अनुसार, माउंटबैटन समझौते के बाद साढ़े चार वर्ष बाद कुल विदेशी पूंजी का केवल पन्द्रहवां हिस्सा भारत से वापिस गया। भारत सरकार की हुंडियों में जो विदेशी पूंजी लगी हुई थी, उसका ८५ प्रतिशत भाग, यानी १८ करोड़ ८० लाख पौंड ब्रिटेन का था, और भारत में लगी हुई दीर्घ-कालीन विदेशी पूंजी का ७० प्रतिशत भाग, यानी बाजार भाव के अनुसार, २८ करोड़ २० लाख पौंड की पूंजी अंग्रेजी पूंजी थी। यानी, वास्तविकता को कम करके आंकने वाले इन आंकड़ों के अनुसार भी, भारत में कुल ४७ करोड़ पौंड की दीर्घ-कालीन अंग्रेजी पूंजी लगी हुई थी। १९४८ में ब्रिटेन के बाहर कुल १९६ करोड़ पौंड की अंग्रेजी पूंजी लगी हुई थी। उसका एक-चौथाई भारत में लगा हुआ था। ब्रिटिश साम्राज्य में कुल १११ करोड़ १० लाख पौंड की पूंजी लगी हुई थी। उसका ४० प्रतिशत से अधिक भाग भारत में लगा हुआ था। निश्चय ही सत्ता-परिवर्तन से अंग्रेजी पूंजीवाद के लिए भारत के महत्व में कोई कमी नहीं आयी थी।

१९४७-४८ में भारत में कुल जितनी भारतीय ज्वाइंट स्टाक कम्पनियां रजिस्टर्ड थीं, उनमें कुल ५६९ करोड़ ५० लाख की पूंजी लगी हुई थी। इसमें १४५ करोड़ ८० लाख की वह विदेशी पूंजी और जोड़नी चाहिए जो विदेशों में रजिस्टर्ड मगर भारत में काम करने वाली कम्पनियों की शाखाओं में लगी हुई थी। इस प्रकार, भारत की विभिन्न कम्पनियों में लगी हुई निजी पूंजी कुल मिलाकर ७१५ करोड़ ३० लाख की होती थी। इसका मतलब यह हुआ कि भारत में लगी कुल पूंजी का ४४.७ प्रतिशत भाग विदेशी पूंजी का था।

लेकिन यह ४४ प्रतिशत भाग भारत की अर्थव्यवस्था पर कितना जबर्दस्त नियंत्रण रखता है, यह बात और भी महत्वपूर्ण है। भारत में जो ३८

करोड़ ४० लाख पौंड की कुल निजी दीर्घकालीन विदेशी पूंजी व्यवसाय में लगी हुई है (जिसमें से अधिकांश अंग्रेजी पूंजी है), उसका ८४ प्रतिशत भाग ऐसी पूंजी का है जिसका संबंधित व्यवसायों पर स्वामित्व अथवा नियंत्रण है। रिजर्व बैंक ने ५ लाख रुपये या उससे ज्यादा पूंजी वाली १०६२ कम्पनियों में लगी हुई विदेशी तथा भारतीय पूंजी के अनुपात का एक विश्लेषण तैयार किया था। इन १०६२ कम्पनियों में से ९३ ऐसी विदेशी कम्पनियां थीं जो विदेशों में रजिस्टर्ड हुई थीं, ३०६ विदेशी नियंत्रण में चलने वाली भारतीय कम्पनियां थीं और ६६३ भारतीय नियंत्रण में चलने वाली भारतीय कम्पनियां थीं। इस विश्लेषण से नीचे दिया हुआ चित्र सामने आया :

१९४८ में भारत में कार्यरत बड़ी कम्पनियों में कुल पूंजी के किस अनुपात में विदेशी पूंजी लगी हुई थी (प्रतिशत)

१.	पेट्रोलियम	९७	१०.	फाइनेंस	४६
२.	रबड़ के कारखाने	९३	११.	बिजली	४३
३.	लाइट रेलवे	९०	१२.	काफी	३७
४.	माचिस	९०	१३.	इंजीनियरिंग	३३
५.	जूट	८९	१४.	खाद्य पदार्थ	३२
६.	चाय	८६			
७.	कोयले के अलावा अन्य खानें	७३	१५.	कागज	२८
			१६.	चीनी	२४
८.	कोयला	६२	१७.	कपड़ा-मिलें	२१
९.	रबड़ के बागान	५४	१८.	सीमेंट	५

ऊपर की तालिका से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि १९४८ में पहले ९ उद्योगों में विदेशी पूंजी ५० प्रतिशत से अधिक थी, अगले ६ उद्योगों में २५ प्रतिशत से अधिक होने के कारण उसकी स्थिति इतनी मजबूत थी कि वह पूरे उद्योग पर अपना प्रभुत्व बनाये रख सकती थी, और केवल कपड़ा-मिल, चीनी और सीमेंट ही तीन ऐसे उद्योग थे जिनमें भारतीय पूंजी की सचमुच प्रमुख भूमिका थी। इनमें कपड़ा-उद्योग भारतीय पूंजी का परम्परागत गढ़ है।

विदेशी साम्राज्यवादी भारत से अब भी कितना खिराज हर साल वसूलते थे? एक भारतीय अर्थशास्त्री का अनुमान यह है :

> "रिजर्व बैंक ने भारत में विदेशी पूंजी के जो आंकड़े जमा किये हैं, उनसे पता चलता है कि सूद और मुनाफे के रूप में विदेशी लोग हर

साल ४० करोड़ रुपया वसूलते हैं। 'भुगतान के हिसाब' की रिजर्व बैंक ने जो अनेक व्याख्याएं की हैं, उनसे प्रकट होता है कि 'हमारे देश में आने वाला ज्यादातर सामान चूंकि विदेशी कंपनियां ढोती हैं, या वे ही उसका बीमा करती हैं,' इसलिए यह मुमकिन है कि हम विदेशियों को हर साल औसतन ५० या ६० करोड़ रुपया देते हों। हमारे देश से बाहर जाने वाले माल के बारे में भी यही बात सच है। उस पर दसियों करोड़ रुपये सालाना विदेशी लोग हड़प जाते हैं।

"पिछले सप्ताह अर्थ-मंत्री ने पार्लमिंट के सामने जो बयान पेश किया था, उसके अनुसार हमें ब्रिटेन में रहने वाले १६,६०५ व्यक्तियों को पेंशन देनी पड़ती है। १६४८-४६ और १६५०-५१ के बीच इस मद में कुल २८ करोड़ ६२ लाख रुपये दिये गये थे। यानी पेंशन की शक्ल में हर साल साढ़े ६ करोड़ रुपये देने पड़ते हैं।

"अन्त में, विदेशी बैंकों को दिया जाने वाला कमीशन भी इस हिसाब में जोड़ना पड़ेगा। भारत का सारा विदेशी व्यापार चन्द विदेशी बैंकों के हाथों में है। उनको कितना कमीशन दिया जाता है, इसके अधिकृत आंकड़े फिलहाल नहीं मिलते, लेकिन यदि तमाम पुराने अनुमानों को ध्यान में रखा जाय और विदेशी व्यापार में आजकल जो बढ़ती हो गयी है, उसका भी ख्याल रखा जाय तो इस मद में २५ से ३० करोड़ रुपये तक रखे जा सकते हैं।" (क्रौस रोड, बम्बई, १४ सितम्बर १६५१)।

यदि ऊपर दिये गये तमाम आंकड़ों को जमा किया जाय (और भारत से बाहर जाने वाले माल पर होने वाली "दसियों करोड़ रुपये" सालाना की कमाई उसमें से छोड़ दी जाय), तो पता चलता है कि औपनिवेशिक शासन का अन्त हो जाने के बाद भी, साम्राज्यवाद भारत से १२४ करोड़ ५० लाख रुपये से लेकर १३६ करोड़ ५० लाख रुपये तक का खिराज हर साल वसूल करता है।

हाल के जमाने में अमरीकी पूंजी ने भी भारत में घुसने की सक्रिय कोशिश की है, हालांकि भारत में लगी अमरीकी पूंजी अभी अपेक्षाकृत कम है। फिर भी अंग्रेजी पूंजी के बाद उसी का नम्बर आता है। १६४८ में रिजर्व बैंक ने विदेशी पूंजी के जो आंकड़े जमा किये थे (जिनका हम ऊपर जिक्र कर चुके हैं), उनसे पता चला था कि भारत में जो कुल ५१६ करोड़ रुपये की दीर्घकालीन निजी पूंजी लगी हुई थी, उसमें से ३६६ करोड़ रुपये की पूंजी, यानी ७० प्रतिशत अंग्रेजी पूंजी थी, और ३० करोड़ रुपये की पूंजी यानी ६ प्रतिशत से कम अमरीकी पूंजी थी। मगर हमें यह ध्यान में रखना

चाहिए कि भारत में लगी हुई अमरीकी पूंजी अक्सर फ्रांसीसी, बेल्जियन, या भारतीय नामों के पीछे छिपी रहती है, जिसकी वजह से सरकारी आंकड़ों से सही स्थिति का ज्ञान नहीं होता।

साथ ही, अमरीका भारतीय बाजार को जीतने और ब्रिटेन को हटाकर उसकी जगह लेने की भी जोरदार कोशिश कर रहा है। नीचे दिये गये आंकड़ों से यह बात साफ हो जाती है :

भारत में आने वाला माल
(लाख रुपयों में)

	१९४८-४९	१९५०-५१
ब्रिटेन से आने वाला माल	१५,३००	१२,२७०
अमरीका से आने वाला माल	१०,८७०	१५५८०
कुल	५४,२९०	५६,५५०
बाहर से आने वाले कुल माल में ब्रिटेन का हिस्सा	२८.२%	२१.७%
बाहर से आने वाले कुल माल में अमरीका का हिस्सा	२०%	२७.६%

इस प्रकार १९४८-४९ में तो भारतीय बाजार में ब्रिटेन का नम्बर पहला था, लेकिन १९५०-५१ में पहला नम्बर अमरीका का हो गया था।

अमरीकी बंक-पूंजी और अमरीकी सरकार ने पहले भारतीय बाजार को हथियाने पर ही जोर दिया है, और पूंजी निर्यात करने में थोड़ी हिचकिचाहट दिखायी है। मगर, इसके साथ-साथ बड़े पैमाने पर पूंजी भेजने के लिए भी जमीन तैयार करती रही हैं। इसका प्रमाण यह है कि भारत में अमरीकी कूटनीति और अमरीकी प्रचार बहुत सक्रिय है। अमरीकी सेठ भारतीय अखबारों को खरीद रहे हैं। तरह-तरह के टेक्निकल मिशन अमरीका से भारत आते रहे हैं। यह बात उल्लेखनीय है कि चौथे सूत्र वाले कार्यक्रम (प्वाइंट फोर प्रोग्राम) का ऐलान करते समय विदेश-मंत्री मि. एचीसन और राष्ट्रपति ट्रूमन दोनों ने भारत पर जोर दिया था और कहा था कि इस कार्यक्रम पर सबसे पहले भारत में अमल किया जायगा।

भारत में अंग्रेज-अमरीकी बंक-पूंजी के घुसने की क्रिया १९५१ के अन्त में उस समय एक नयी मंजिल पर पहुंच गयी जबकि भारत सरकार और अम-

रीका तथा ब्रिटेन की प्रमुख तेल कम्पनियों के बीच भारत में तेल साफ करने के कारखाने खोलने के संबंध में चन्द समझौते हुए।

न्यूयार्क की वैकुअम तेल कम्पनी के साथ नवम्बर १९५१ में समझौता हुआ। उसमें तय हुआ कि कम्पनी ३५० लाख डालर (या १२० लाख पौंड) की पूंजी से अपनी एक भारतीय शाखा खोलेगी और १० लाख टन सालाना तेल साफ करने का कारखाना भारत में खड़ा करेगी। यह भी तय हुआ कि नयी कम्पनी की २५ प्रतिशत पूंजी भारतीय नागरिकों से ली जा सकेगी, मगर उनको केवल ऐसे प्रिफरेंस शेयर लेने का अधिकार होगा जिनके खरीदने से उनको वोट देने का हक नहीं मिलेगा। साधारण शेयर सारे के सारे न्यूयार्क की कम्पनी के हाथ में रहेंगे। ४ दिसम्बर १९५१ को **हिन्दुस्तान टाइम्स** ने लिखा :

> "इस देश के नागरिकों का कम्पनी की साधारण पूंजी में कोई हाथ नहीं रहेगा और इसलिए साधारण मुनाफे में भी उनका कोई हिस्सा नहीं होगा।"

कामर्स ने ८ दिसम्बर १९५१ को लिखा :

> "इस कम्पनी के प्रबन्ध तथा नियंत्रण में भारत के लोगों की कोई आवाज नहीं होगी।"

भारत सरकार ने यह वचन दिया कि पच्चीस वर्ष तक वह कम्पनी का राष्ट्रीयकरण नहीं करेगी, सालाना मुनाफों को भारत के बाहर भेजने के लिए पूरी सुविधा देगी, दस वर्ष तक बाहर से आने वाले तेल पर चुंगी लगाकर कम्पनी की मदद करेगी और उद्योग-नियंत्रण कानून की कई धाराओं से कम्पनी को मुक्त रखेगी।

दिसम्बर १९५१ में बर्मा-शेल तेल कम्पनी से समझौता हुआ। यह अंग्रेजी कम्पनी है। इसके साथ भी उसी तरह का अहदनामा किया गया। तय हुआ कि बर्मा-शेल २२ करोड़ की पूंजी से भारत में एक ऐसी कम्पनी खोलेगी जो १५ लाख टन सालाना तेल साफ करने वाला कारखाना खड़ा करेगी। २२ करोड़ रुपये की कुल पूंजी में से २ करोड़ के प्रिफरेंस शेयर भारत के लोग खरीद सकेंगे, मगर उनको वोट देने का अधिकार नहीं मिलेगा।

तीसरा समझौता एक और अमरीकी कम्पनी से हुआ। इस तरह कुल मिलाकर ४ करोड़ पौंड की विदेशी पूंजी भारत में आयी और उससे ऐसी कम्पनियां खुलीं जो पूरी तरह अंग्रेज और अमरीकी इजारेदारों के हाथ में थीं और जिनका उद्देश्य केवल उनकी थैलियां भरना था।

बड़े पैमाने पर अमरीकी बंक-पूंजी के भारत में घुसने की क्रिया १९५२ के शुरू में तब और आगे बढ़ी जब भारत सरकार तथा अमरीकी सरकार के

बीच भारत-अमरीकी टेक्निकल सहयोग कोष स्थापित करने का समझौता हुआ। दिसम्बर १९५० में अमरीका के साथ भारत उसी प्रकार का एक "प्वाइंट फोर" समझौता कर चुका था जैसा समझौता फिलीपाइंस और थाईलैंड ने अमरीका से किया था। १९५१ में भारत ने अमरीका की आर्थिक सहयोग एजेंसी से १९ करोड़ डालर का अनाज उधार लिया था।

१९५२ के शुरू में टेक्निकल सहयोग के बारे में जो समझौता हुआ, उसके मातहत यह तय हुआ कि जून १९५२ तक अमरीका भारत को ५ करोड़ डालर देगा जिनसे भारत-अमरीका टेक्निकल सहयोग कोष कायम किया जायगा, और अगले पांच बरस में उसमें २५ करोड़ डालर तक अमरीका और जमा कर देगा। यह रुपया भारत के औद्योगीकरण के लिए नहीं, वल्कि ऐसी योजनाओं के लिए इस्तेमाल किया जाने वाला था "जिनका मुख्य उद्देश्य खेती की कार्यक्षमता को बढ़ाना होगा।" (हिन्दुस्तान टाइम्स, ६ जनवरी १९५२)। इस कोष का प्रबंध टेक्निकल सहयोग के अमरीकी डायरेक्टर और भारत सरकार के अर्थ-विभाग के एक अफसर के हाथ में रहने वाला था। तय हुआ था कि डायरेक्टर एक अमरीकी अफसर होगा जिसे अमरीकी सरकार नियुक्त करेगी और जो अमरीकी राजदूत के मातहत काम करेगा। इसके साथ-साथ यह भी तै हो गया था कि इस अमरीकी डायरेक्टर और उसके तमाम कर्मचारियों को वे तमाम विशेष अधिकार प्राप्त होंगे जो भारत में अमरीकी सरकार के प्रतिनिधियों को प्राप्त हैं और उनकी तरह इन लोगों पर भी भारतीय कानूनों के मातहत और भारतीय अदालतों में मुकदमा नहीं चलाया जा सकेगा।

इस सबके बावजूद, बाद के जमाने में जब भारत सरकार की वैदेशिक नीति में नया मोड़ आया, तो अंग्रेजी और अमरीकी पूंजी पर एकतरफा ढंग से निर्भर रहने की इस नीति का अधिकाधिक विरोध होने लगा। चीन और सोवियत संघ के साथ अधिक घनिष्ठ आर्थिक सम्बंध स्थापित हुए। इस नये रुख का एक महत्वपूर्ण संकेत उस समय मिला जब फरवरी १९५५ में भारत सरकार और सोवियत सरकार के बीच एक इस्पात का कारखाना खोलने के सम्बंध में समझौता हुआ। यह कारखाना सोवियत संघ की मदद से खोला जायगा। उसके लिए सारी मशीनें और तमाम सामान सोवियत संघ से आयेगा। उसमें कुल ३३० लाख पौंड की पूंजी लगेगी और यह कारखाना हर साल दस लाख टन इस्पात तैयार करेगा। जिन शर्तों पर यह समझौता हुआ, वे भारत के लिए बहुत फायदेमन्द थीं। साथ ही, बहुत कम समय के अन्दर पूरा काम खत्म हो जाने वाला था। जिस वक्त इस समझौते की बातचीत चल रही थी, उसी वक्त ब्रिटेन के कुछ पूंजीपति भी भारत सरकार से बातचीत चला रहे थे, मगर भारत सरकार को सोवियत संघ की शर्तें ही पसन्द आयीं।

एक तरफ ब्रिटेन और अमरीका की बंक-पूंजी भारत और पाकिस्तान की अर्थव्यवस्थाओं में घुसने की कोशिश कर रही थी। दूसरी तरफ, इन देशों की राजनीतिक तथा सामरिक व्यवस्थाओं में भी पैठने के प्रयत्न हो रहे थे। भारत के बंटवारे से न केवल भारत और पाकिस्तान की अर्थव्यवस्था और शासन प्रबंध छिन्न-भिन्न हो गये थे, बल्कि साम्प्रदायिक कलह और झगड़े हद से ज्यादा बढ़ गये थे। नयी शासन व्यवस्था के कायम होते ही खून-खराबा शुरू हो गया था, बड़ी भारी संख्या में आबादी इधर से उधर आयी-गयी थी, शरणार्थियों के रूप में दोनों देशों के लिए एक विकट समस्या खड़ी हो गयी थी और भारत तथा पाकिस्तान की सरकारों के बीच तनाव एक स्थायी चीज बन गयी थी।

साम्राज्यवादी इस परिस्थिति से पूरा फायदा उठा रहे थे और दोनों देशों में हस्तक्षेप कर रहे थे। कश्मीर के सवाल को लेकर भारत और पाकिस्तान की सरकारों के बीच एक लम्बा विवाद उठ खड़ा हुआ और कुछ समय तक दोनों देशों की फौजों के बीच लड़ाई भी चली (हालांकि लड़ाई के समय दोनों देशों की फौजों के प्रधान सेनापति और ऊंचे अफसर अंग्रेज थे)। ब्रिटेन और अमरीका दोनों के साम्राज्यवादियों ने इस झगड़े में अपनी टांग अड़ायी। अमरीकी साम्राज्यवादियों ने खास तौर पर राष्ट्रसंघ के संगठन को इस्तेमाल किया और तरह-तरह के पंच, मध्यस्थ, समझौता कराने वाले, सीमा-निरीक्षक व सैनिक विशेषज्ञ कश्मीर भेजे। कश्मीर में साम्राज्यवादियों की इतनी गहरी दिलचस्पी इसलिए थी कि एक तो कश्मीर आर उसके आर्थिक साधनों का खुद अपना महत्व था; और दूसरे, सोवियत संघ की सीमा पर स्थित होने के कारण उसका सामरिक महत्व विशेष रूप से बढ़ गया था।

जब पाकिस्तान के साथ अमरीका का फौजी समझौता हुआ और १९५४ में अमरीकी हथियार पाकिस्तान आने लगे, तो पाकिस्तान की सैनिक-व्यवस्था में अमरीका का जबर्दस्त हाथ हो गया।

एक तरफ, भारत और पाकिस्तान के बीच फौजी तनाव था। दूसरी तरफ, दोनों देशों की सरकारों को जनता का दमन करने के लिए भी अपनी फौजी ताकत बढ़ानी पड़ रही थी। इसका नतीजा यह हुआ कि दोनों देशों में फौजी खर्चा बेहद बढ़ गया। दोनों सरकारों के बजट का आधा भाग इसी मद में खर्च होने लगा। पुलिस का खर्चा उससे अलग था। इस बोझे ने दोनों देशों की अर्थव्यवस्था को पंगु बना दिया। भारत और पाकिस्तान की प्रतिक्रियावादी सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था पहले से ही उनका आर्थिक विकास नहीं होने देती थी। फौजी खर्चे के बोझे ने विकास और पुनर्निर्माण के काम को अत्यन्त कठिन बना दिया।

लेकिन, वैदेशिक नीति में नया मोड़ आने पर, इस क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। १९५३ में अमरीका ने कश्मीर के प्रधान मंत्री को अपने कूट जाल में फंसाकर कश्मीर को भारत से अलग करना चाहा। भारत ने और कश्मीर नेशनल कांफ्रेंस की कार्यसमिति के बहुमत ने इस कोशिश का सक्रिय विरोध किया। कश्मीर के प्रधान मंत्री को अपने पद से हटा दिया गया और कश्मीर पूर्ण रूप से भारतीय संघ का अंग बन गया। भारत सरकार ने अमरीकी एडमिरल निमित्ज को वापस भेज दिया। वह १९४९ से ही राष्ट्रसंघ के मतगणना प्रबंधक के रूप में कश्मीर में काम कर रहे थे। इसके अलावा, अमरीका के बहुत से अफसर भी सैनिक तथा गैर-सैनिक "दर्शकों" के रूप में कश्मीर में जमे हुए थे। वे १९५४ में वापस भेज दिये गये।

३. आर्थिक समस्याएं

प्रत्यक्ष साम्राज्यवादी शासन की विरासत के रूप में, भारत और पाकिस्तान की अर्थव्यवस्थाओं को जो अन्तर्विरोध मिले थे, वे केवल शासन-परिवर्तन से हल नहीं हो सकते थे। उन्हें हल करने के लिए जरूरी था कि औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था का अन्त हो। इसलिए, १९४७ के बाद के कुछ वर्षों में भारत और पाकिस्तान की आर्थिक हालत बराबर बिगड़ती ही गयी। पहली पंचवर्षीय योजना के काल में भी भारत में आर्थिक प्रगति का श्रीगणेश मात्र ही हुआ।

अर्थव्यवस्था का औपनिवेशिक रूप १९४७ के बाद भी बना रहा। इसका सबूत यह था कि न सिर्फ देश के आर्थिक साधनों पर विदेशी बंक-पूंजी का शिकंजा बदस्तूर कायम रहा, बल्कि जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, वह और भी फैला। इसके अलावा और इसके नतीजे के तौर पर, यह बात भी देखने में आयी कि भारी उद्योगों का बहुत धीरे-धीरे विकास हो रहा है और सारा जोर हल्के उद्योगों पर तथा पहले से ही आबादी के बोझ से दबी हुई खेती पर दिया जा रहा है। १९५१ के अन्त तक इस्पात का उत्पादन केवल १० लाख टन तक ही बढ़ पाया। और सरकारी योजना के अनुसार १९५६ तक भी वह केवल १६ लाख टन तक ही बढ़ पायेगा। पहली पंचवर्षीय योजना (१९५१-५६) में केवल ८.४ प्रतिशत धन उद्योगों में लगाने की बात थी।

खेती का संकट किस प्रकार बराबर गहरा होता जा रहा है और भूमि-सुधार के सरकारी कानून किस तरह असफल रहे हैं; इसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं (देखिए अध्याय-८)। १९४३-४४ में अनाज की पैदावार फी एकड़

६०७ पाउंड थी। १९४८-४९ में वह ५२० पाउंड रह गयी और १९५०-५१ में तो केवल ४८० पाउंड फी एकड़ पर आ गयी।

जैसे-जैसे चीजों के दाम बढ़ते गये वैसे-वैसे आम जनता की वास्तविक आय भी गिरती गयी। १९३७ में थोक दामों के सूचक अंक को यदि १०० माना जाय, तो १९४७ में, सत्ता-परिवर्तन के समय, वह ३०३.३ था और मई १९५१ तक वह ४५६.८ पर पहुंच गया। बम्बई में १९३४ के रहन-सहन के खर्च के सूचक अंक को यदि १०० माना जाय, तो १९४७ में वह २७९ था और १९५३ में बढ़कर ३६३ पर पहुंच गया। १९३९ के सभी उद्योगों के मुनाफे के सूचक अंक को यदि १०० माना जाय तो १९४७ में यह १९१ था और १९५१ में बढ़कर ३१० हो गया (ईस्टर्न इकोनमिस्ट, बजट-अंक १९५४)। बढ़ते हुए दामों के कारण असली मजदूरी बराबर गिरती गयी और उससे निम्न-मध्यम वर्ग के लोग तबाह हो गये। भारत के विभिन्न भागों में मजूरी और दामों का काफी विशद अध्ययन करने के बाद प्रोफेसर राधाकमल मुकर्जी अपनी पुस्तक "भारतीय मजदूर वर्ग" में इस नतीजे पर पहुंचे हैं :

> "युद्ध के पहले भारतीय मजदूर वर्ग का जितना बड़ा हिस्सा दरिद्रता के दायरे में आता था, अब उससे कहीं बड़ा हिस्सा इस दायरे में आता है। भारत के ज्यादातर मजदूर दरिद्रता के स्तर के भी नीचे रहते हैं।"

यदि १९३८-३९ के दामों को स्थिर मान लिया जाय, तो भारत की फी आदमी राष्ट्रीय आय, जो १९३१-३२ में ८३ रुपये थी, १९४५-४६ में केवल ७७ रुपये रह गयी, १९४६-४७ में ७५ रुपये हो गयी और १९४८-४९ में ७० रुपये पर पहुंच गयी ("एशिया और सुदूर पूर्व का आर्थिक सिंहावलोकन," राष्ट्र संघ का १९५० का प्रकाशन। यह अनुमान बंटवारे के पहले के भारतीय प्रान्तों के लिए है)। जैसा कि हम दूसरे अध्याय में बता चुके हैं, भारत सरकार ने राष्ट्रीय आय का हिसाब लगाने के लिए एक राष्ट्रीय आय समिति नियुक्त की थी, जिसकी रिपोर्ट १९५१ में प्रकाशित हुई। इस कमेटी ने १९४८-४९ की फी आदमी राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाया था। वह १९३० के साइमन कमीशन के अनुमान से कम था।

१९५१ में पहली पंचवर्षीय योजना शुरू हुई। उससे भारत में सीमित आर्थिक प्रगति का श्रीगणेश हुआ। १९५१ और १९५४ के बीच औद्योगिक पैदावार ३७ प्रतिशत बढ़ गयी और खेती की पैदावार में १५ प्रतिशत की बढ़ती हो गयी। १९५०-५१ में ५४० लाख टन अनाज भारत में पैदा हुआ था। १९५३-५४ में ६५४ लाख टन पैदा हुआ। यानी, अनाज की पैदावार में ११४ लाख टन

की बढ़ती हो गयी। सरकारी आंकड़ों के अनुसार, १९५०-५१ में जबकि हर भारतीय औसतन १३९८ कैलोरी की शक्ति देने वाला भोजन करता था, अब १९५३-५४ में वह १६२३ कैलोरी का भोजन करने लगा। लेकिन खुद सरकार भी यह मानती थी कि खेती की पैदावार में जो बढ़ती हुई है, उसकी आधी बढ़ती अच्छे मौसम के कारण हुई है, और कुछ बढ़ती इसलिए दिखायी देती है कि औसत निकालने के ढंग में कुछ परिवर्तन हो गया है। इसके अलावा, १९५०-५१ की पैदावार से तुलना करना भी सर्वथा उचित नहीं है, क्योंकि उस साल फसल अपेक्षाकृत कम हुई थी। १९४३-४४ में फसल सबसे अच्छी हुई थी (उस साल खेती की पैदावार का साधारण सूचक अंक १०६ था, मगर वह १९५०-५१ में केवल ९४ रह गया था)। यदि उस साल की पैदावार से १९५३-५४ की पैदावार की तुलना की जाय, तो पता चलेगा कि उसमें २ प्रतिशत से भी कम की ही बढ़ती हुई थी, जबकि इस बीच आबादी में इससे ज्यादा बढ़ती हो गयी थी।

यह बात काफी महत्व की है कि पहली पंचवर्षीय योजना ने अपने सामने केवल यह उद्देश्य रखा था कि १९५५ तक राष्ट्रीय आय फिर से पहले के स्तर पर पहुंच जाय और असल में तो उसका लक्ष्य इससे भी नीचे रह जाता था। १९५०-५१ में भारत की कुल राष्ट्रीय आय ९०० अरब रुपये थी। पहली पंच-वर्षीय योजना उसे बढ़ाकर १९५५-५६ में १००० अरब रुपये कर देना चाहती थी; यानी वह उसमें ११ प्रतिशत की बढ़ती करना चाहती थी, इस बीच आबादी में सवा छः प्रतिशत की बढ़ती हो जाने की उम्मीद थी। इसलिए, पंचवर्षीय योजना से फी आदमी राष्ट्रीय आय में केवल ५ प्रतिशत की ही बढ़ती होने वाली थी। लेकिन फी आदमी राष्ट्रीय आय में चूंकि राष्ट्र संघ के आंकड़ों के अनुसार, १९३१-३२ और १९४८-४९ के बीच १६ प्रतिशत की कमी हो गयी थी, इसलिए ५ प्रतिशत की बढ़ती से वह १९३१-३२ के स्तर पर भी नहीं पहुंच सकती थी। और १९३१-३२ में राष्ट्रीय आय का स्तर भुखमरी का स्तर था!

इसलिए पंचवर्षीय योजना के पहले तीन वर्षों में उसके लक्ष्य से अधिक प्रगति हुई। १९५३-५४ तक राष्ट्रीय आय १०६० अरब रुपये तक पहुंच गयी; यानी उसमें १८ प्रतिशत की बढ़ती हो गयी। फी आदमी राष्ट्रीय आय १९५३-५४ तक २८३.९ रुपये हो गयी; यानी १९४८-४९ के मुकाबले उसमें ८ प्रति-शत की बढ़ती हो गयी। लेकिन इससे भी वह १६ प्रतिशत की कमी पूरी नहीं हुई, जो १९३१-३२ और १९४८-४९ के बीच आ गयी थी।

इस बीच, बड़े-बड़े इजारेदारों के मुनाफे बराबर बढ़ते गये। चोर-बाजारी और घूसखोरी हर तरफ फैल गयी। भारत में शासक पार्टी, कांग्रेस, के संगठन

में और पाकिस्तान में मुस्लिम लीग के संगठन में भी चोर-बाजारियों और घूसखोरों का बोलबाला हो गया।

ऐसी परिस्थितियों में जनता का असंतोष बढ़ना स्वाभाविक था। देश की अन्दरूनी राजनीतिक परिस्थिति में अनेक ऐसे चिन्ह दिखायी देने लगे जिनसे पता चलता था कि नयी सरकारों में और कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के नेताओं में जनता का विश्वास खत्म होने लगा है।

४. वैदेशिक नीति में नयी प्रवृत्तियां

अभी हाल के जमाने में भारत में जो सबसे बड़ा परिवर्तन आया है, वह यह कि प्रधानमंत्री नेहरू के नेतृत्व में भारत शान्ति की रक्षा के लिए दुनिया की राजनीति में अधिकाधिक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करने लगा है। अमरीकी साम्राज्यवाद की युद्ध छेड़ने की आक्रमणकारी योजनाओं के खिलाफ एशियाई राष्ट्रों की आवाज को बुलन्द करने और उनको एकजुट करने में चीन के साथ-साथ भारत ने भी प्रमुख भाग लिया है। चीन के साथ-साथ उसने भी शांति की रक्षा के लिए प्रयास किया है; और शान्ति की रक्षा का लक्ष्य राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लक्ष्य से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। १९५५ में बांडुंग में एशियाई और अफ्रीकी राष्ट्रों का सम्मेलन हुआ, और उसके द्वारा एशिया, मध्यपूर्व, और अफ्रीका की कौमें इस शान्ति प्रयास में खिंच आयीं।

दुनिया की राजनीति में भारत की यह ऐतिहासिक भूमिका खुद इस बात का प्रमाण है कि एशिया में कैसा विराट परिवर्तन हो रहा है और इस महाद्वीप के शक्ति-संतुलन में कितनी बड़ी तब्दीली आ गयी है। इस नये युग का श्रीगणेश निर्णायक रूप में उस समय हुआ जब चीन में जन-क्रान्ति की विजय-दुंदभि बजी। अमरीकी हथियारों से लैस और अमरीकी धन पर पलने वाली क्रान्ति-विरोधी सेनाओं को चीन की भूमि से खदेड़ देने के बाद १९४९ के पत-झड़ में चीनी जनतंत्र की स्थापना का ऐलान हुआ। चीन उस समय भी एशिया का और दुनिया का सबसे बड़ा राष्ट्र था। अब नया, जनवादी चीन एशिया के पराधीन अथवा औपनिवेशिक देशों के सामने सफल स्वतंत्रता संग्राम के एक ऐसे प्रमुख प्रतिनिधि के रूप में आ गया, जो सामन्तवाद और साम्राज्यवादी शोषण के बंधनों को तोड़ कर सामाजिक और आर्थिक प्रगति के पथ पर तीव्र गति से अग्रसर हो रहा था। नया, जनवादी चीन दुनिया की एक प्रमुख शक्ति बन गया। उसकी अटूट एकता और शक्ति को अब साम्राज्यवादी संसार अन-देखा नहीं कर सकता था।

एशिया में इस प्रकार जो नयी परिस्थिति पैदा हो गयी थी, उसकी भारत सरकार पर तुरंत प्रतिक्रिया हुई। पहले उसकी नीति का झुकाव मुख्यतया साम्राज्यवादी खेमे की ओर था। अब वह चीनी जनतंत्र से भी अच्छे सम्बंध स्थापित करने का प्रयत्न करने लगी। चीन में नयी सरकार की स्थापना होने के थोड़े ही दिन बाद भारत सरकार ने उसे मान्यता प्रदान कर दी और शीघ्र ही दोनों के बीच राजदूतों का आदान-प्रदान भी हो गया। भारतीय जनता की भावना से इस नये रुख को जबर्दस्त बल मिला। भारत के सभी लोगों में चीनी जन-क्रान्ति की विजय से प्रबल उत्साह पैदा हुआ था, और पश्चिमी साम्राज्यवादियों ने एशिया में जो लूटमार और कत्लेआम मचा रखा था, उससे सारी जनता नफरत करती थी।

जब कोरिया पर अमरीका ने चढ़ाई की तो नयी परिस्थिति यकायक परिपक्व हो उठी। राष्ट्र संघ में भारत सरकार के प्रतिनिधि ने शुरू में उस गैर-कानूनी और बदनाम प्रस्ताव के पक्ष में मत दिया, जिसके मातहत कोरियाई जनतंत्र के प्रतिनिधियों की बात सुने बिना ही अमरीकी फौजी गुट को कोरिया पर चढ़ाई करने की अनुमति दे दी गयी थी। भारत सरकार ने बिना पूरी सामग्री पर विचार किये ही अमरीका और उसके पिछलग्गू सिंगमन-री के कहने को सच मान लिया था। प्रधानमंत्री नेहरू ने ७ जुलाई १९५० को एक प्रेस सम्मेलन में कहा कि "जब उत्तरी कोरिया ने दक्षिणी कोरिया पर हमला किया, तो बहुत लम्बी-चौड़ी जांच के बगैर भी यह बात साफ थी कि पहले से खूब तैयारी करके और बहुत बड़े पैमाने पर यह हमला किया गया था।" एक एशियाई देश पर पश्चिमी साम्राज्यवादियों के इस हमले में भारत सरकार ने भी आंशिक रूप से मदद की। उसने हमला करने वालों की मरहम-पट्टी करने के लिए एक डाक्टरी दल कोरिया भेजा।

लेकिन इस पाप के काम से भारतीय जनमत के सभी क्षेत्रों में बड़ा क्रोध पैदा हुआ। पश्चिम के सभी साम्राज्यवादी देशों की फौजों, समुद्री बेड़ों और वायु-सेनाओं के संयुक्त बर्बर आक्रमण का कोरियाई जनता जिस वीरता और शौर्य के साथ मुकाबला कर रही थी, उसे देखकर भारत की जनता में जबर्दस्त उत्साह पैदा हुआ।

कोरिया पर अमरीकी आक्रमण शुरू होने के पन्द्रह दिन के अन्दर ही प्रधानमंत्री नेहरू ने प्रधानमंत्री स्तालिन को एक संदेश भेजा और उसमें बताया कि भारत सरकार कोरिया के झगड़े को शान्तिपूर्वक ढंग से हल करना चाहती है। उन्होंने कहा :

> "भारत का उद्देश्य यह है कि इस झगड़े को एक स्थानीय झगड़े तक ही सीमित कर दिया जाय और उसको शान्तिपूर्वक ढंग से हल करने की

कोशिश की जाय। उसके लिए सुरक्षा-समिति के वर्तमान गतिरोध को दूर किया जाय, ताकि चीन की जनवादी सरकार का प्रतिनिधि सुरक्षा समिति में अपना स्थान ग्रहण कर सके और सोवियत संघ उसमें वापस लौट आये; और या तो सुरक्षा समिति के ढांचे के भीतर, या उसके बाहर, सोवियत संघ, अमरीका तथा चीन के बीच गैर-रस्मी तौर पर सम्पर्क स्थापित करके, और अन्य शान्तिप्रेमी राज्यों की सहायता और सहयोग से, इस लड़ाई को बन्द करने का कोई आधार निकाला जाय और कोरिया की समस्या का कोई अन्तिम हल खोजा जाय।"

तत्कालीन प्रधानमंत्री स्तालिन ने इसका यह उत्तर दिया :

"मैं शान्ति के लिए आपकी इस पहल का स्वागत करता हूं। मैं आपके इस मत से पूर्णतया सहमत हूं कि कोरिया के सवाल को सुरक्षा समिति के जरिये शान्तिपूर्वक ढंग से सुलझाना उचित होगा और इसके लिए यह नितान्त जरूरी है कि पांच बड़ी शक्तियों के जिनमें चीन की जनवादी सरकार भी शामिल है, प्रतिनिधि इस काम में भाग लें।"

चीन की सरकार ने यह चेतावनी दी थी कि यदि पश्चिम की हमलावर फौजें अड़तीसवें अक्षांश से आगे बढ़ीं और यदि उन्होंने पूरे कोरिया पर कब्जा करने की कोशिश की, तो चीन चुपचाप तमाशा नहीं देखेगा। मैकार्थर जैसे लोगों ने इस चेतावनी की खिल्ली उड़ायी और अमरीकी अधिकारियों ने उसे केवल एक गीदड़ भभकी समझा। मगर भारत सरकार ने उसकी गम्भीरता को महसूस किया और उसने राष्ट्र संघ में अक्तूबर १९५० के उस प्रस्ताव के पक्ष में वोट नहीं दिया जिसे अमरीका अपने नये हमले पर पर्दा डालने के लिए पास कराना चाहता था।

इसके बाद अनेक बार ऐसे मौके आये जब अमरीका ने अपनी युद्ध-नीति को आगे बढ़ाने के लिए राष्ट्र संघ में अपने प्रस्ताव पास कराये और भारत उन पर वोट लिये जाने के समय तटस्थ रहा। कई बार तो उसने अमरीकी प्रस्तावों का विरोध भी किया। धीरे-धीरे राष्ट्र-संघ में अरब और एशियाई सरकारों का एक अलग गुट बन गया। यह इस बात का सूचक था कि इन सरकारों ने साम्राज्यवादियों के युद्ध के खेमे की आक्रमणकारी नीतियों से अपने को कुछ हद तक अलग कर लिया था। इसी कारण साम्राज्यवादी ताकतों के प्रवक्ता इन सरकारों पर "तटस्थता" का इल्जाम लगाते थे।

भारत की वैदेशिक नीति में जो यह नया मोड़ आया था, उसका यह मतलब नहीं था कि भारत सरकार ने साम्राज्यवादी खेमे से अपना नाता तोड़ लिया था। न ही इसका यह मतलब था कि अब भारत सरकार यकायक युद्ध

की नीतियों का और साम्राज्यवादी हमलों का पूर्ण और सुसंगत ढंग से विरोध करने लगी थी। साम्राज्यवादी खेमे के साथ उसका व्यावहारिक सहयोग अब भी जारी था। मिसाल के लिए, उसने अंग्रेजों के साथ मिल कर नू सरकार को बर्मी जनता के खिलाफ लड़ाई चलाने के लिए हथियार और रुपये दिये। १९५४ तक वह फ्रांसीसियों को भारत से होकर अपनी फौज और लड़ाई का सामान वियतनाम ले जाने की सुविधा देती रही। मलाया की जनता के खिलाफ युद्ध चलाने के लिए उसने अंग्रेजी सरकार को भारत की भूमि पर गोरखा सिपाहियों की भर्ती करने की सुविधा दी (हालांकि इस मामले में कम्युनिस्ट पार्टी ने सरकार का भंडाफोड़ किया और उससे मजबूर होकर भारत सरकार ने १९५२ में ब्रिटिश सरकार से इस सम्बंध में नये सिरे से बातचीत शुरू की जिसके नतीजे के तौर पर १९५४ में एक नया समझौता हुआ। इस समझौते के मातहत गोरखा सिपाहियों की भर्ती के डिपो भारत से हटाकर नेपाल में खोल दिये गये, मगर सिपाहियों को भारत से होकर मलाया ले जाने की सुविधा कायम रही)।

साम्राज्यवाद के साथ व्यावहारिक आर्थिक सहयोग और भी घनिष्ठ हो गया। उदाहरण के लिए, १९५१ में अंग्रेज और अमरीकी इजारेदार कम्पनियों को भारतीय कानूनों से स्वतंत्र होकर भारत में व्यवसाय खोलने की इजाजत दे दी गयी और १९५२ में भारत-अमरीकी टेक्निकल सहयोग कोष कायम किया गया। राष्ट्र संघ में भारत सरकार अमरीकी प्रस्तावों पर तटस्थ रुख अपना रही थी और कभी-कभी तो उनके विरुद्ध मत दे रही थी, मगर विदेशों में भारतीय राजदूत इसका महत्व कम करके बता रहे थे। उदाहरण के लिए, अमरीका में भारत की राजदूत (जो बाद में राष्ट्रसंघ की अध्यक्ष चुनी गयीं) श्रीमती पंडित ने १९ सितम्बर १९५१ को न्यूयार्क में कहा :

> "जब हमारे बारे में यह कहा जाता है कि हम 'तटस्थता' का रुख अपना रहे हैं, तो हमें यह सुनकर बड़ा अफसोस होता है। राष्ट्रसंघ की साधारण सभा के हाल के अधिवेशनों में हमने इक्यावन में से अड़तीस बार आपके साथ वोट दिया, ग्यारह बार किसी तरफ वोट नहीं दिया और केवल दो बार आपसे मतभेद प्रकट किया।"

फिर भी, परिवर्तन के चिन्ह स्पष्ट थे और वे अधिकाधिक एक नयी और ठोस शान्ति की नीति का रूप धारण कर रहे थे। १९५४ में दक्षिण-पूर्वी एशिया के संकट के बाद तो यह बात और भी साफ हो गयी। यह बात तो सच थी कि अभी भारत सरकार की वैदेशिक नीति जनता की साम्राज्यवाद-विरोधी भावना को केवल आंशिक रूप में ही व्यक्त कर रही थी, लेकिन राष्ट्र

संघ में उसके तटस्थ रह जाने या किसी भी तरफ वोट न देने से भी साम्राज्यवादी बड़ी परेशानी में पड़ जाते थे। उससे यह बात स्पष्ट हो जाती थी कि दुनिया की आबादी का बहुमत अमरीकी और उसके जंगबाज अटलांटिक गुट के खिलाफ है। साम्राज्यवादियों के सामने यह बात साफ होती जा रही थी कि जहां तक उनकी युद्ध की योजनाओं का सम्बंध है, भारत के ऊपर भरोसा नहीं किया जा सकता; वह युद्ध-नीति में उनका साझीदार बनने को तैयार नहीं है। साम्राज्यवादियों की समझ में यह बात भी आ रही थी कि यह नयी राजनीतिक प्रवृत्ति शीघ्र ही एक निर्णायक नीति-परिवर्तन का रूप भी धारण कर सकती है, और भारत साम्राज्यवादी खेमे के साथ सहयोग करने की नीति को एकदम त्याग दे सकता है।

१९५४ में दक्षिण-पूर्वी एशिया का संकट सामने आने पर यह नयी प्रवृत्ति और बलवती हो गयी। १९५४ के आरम्भ में अमरीका और पाकिस्तान का सैनिक गठबंधन हुआ। भारत और पाकिस्तान को खुल्लमखुल्ला जंग की अमरीकी साजिशों में घसीटने की इस कोशिश से भारतीय जनता में बड़ा क्रोध पैदा हुआ। उसके बाद १९५४ के बसन्त में, वियतनाम के युद्ध के सवाल पर यह टकराव और भी तेज हो गया। अमरीका इस बात के लिए जोर दे रहा था कि सभी साम्राज्यवादी सरकारें मिलकर वियतनाम में फौजी-कार्रवाई करें और दक्षिण-पूर्वी एशिया में तुरंत एक सैनिक समझौता किया जाय। ब्रिटिश सरकार ने अप्रैल १९५४ में इसका विरोध किया। तभी भारत ने पांच कोलम्बो शक्तियों का (भारत, पाकिस्तान, लंका, बर्मा और इंडोनेशिया का) सम्मेलन बुलाने के लिए पहल की। इस सम्मेलन का उद्देश्य यह था कि ये पांचों देश वियतनाम में हस्तक्षेप न करने और वियतनाम की स्वतंत्रता के आधार पर वहां शान्ति स्थापित करने के लिए एक होकर प्रयास करें। इस सम्मेलन में पाकिस्तान और लंका की सरकारों ने ऐसा रुख लिया जिससे मालूम होता था कि उनकी नीति अमरीका की नीति से बहुत मिलती-जुलती है। फिर भी, सम्मेलन ने शान्ति के पक्ष में ही निर्णय किया। जेनेवा में भी भारतीय कूटनीति ने शान्ति के पक्ष में सक्रिय भूमिका अदा की। तिब्बत के सवाल पर भारत और चीन के बीच समझौता हो जाने के बाद जून १९५४ में नई दिल्ली में चीनी प्रधानमंत्री चाऊ एन-लाई और प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू की मुलाकात हुई। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में इस मुलाकात को उतना ही महत्वपूर्ण माना गया है जितना राष्ट्रपति आइजनहावर और प्रधानमंत्री चर्चिल की उस भेंट को माना गया था, जो ठीक उसी समय वाशिंगटन में हुई थी। २८ जून १९५४ को नेहरू और चाऊ का संयुक्त बयान प्रकाशित हुआ। उसमें कहा गया था :

(१) दोनों प्रधानमंत्रियों की बातचीत का उद्देश्य यह था कि जेनेवा तथा श्राम जगहों में शान्तिपूर्ण समझौते के जो प्रयास हो रहे हैं, उनको और आगे बढ़ाया जाय।

(२) उनका मुख्य मकसद यह था कि एक-दूसरे के दृष्टिकोण को समझें और एक-दूसरे के सहयोग से और अन्य देशों के सहयोग से शान्ति कायम रखने की चेष्टा करें।

(३) दोनों प्रधानमंत्री यह बात मानते हैं कि एशिया तथा संसार में अलग-अलग ढंग की सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्थाएं हैं, मगर यदि पंचशील को माना जाय, तो उनके बीच शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व और मित्रता के सम्बंध रह सकते हैं।

(४) दोनों प्रधानमंत्रियों ने यह विश्वास प्रकट किया कि भारत और चीन की मित्रता से एशिया में शान्ति का पक्ष बलवान होगा।

(५) यह तय हुआ कि दोनों देश एक-दूसरे के साथ घनिष्ठ सम्पर्क रखेंगे ताकि उनके बीच पूर्ण सहयोग कायम हो सके।

तिब्बत सम्बंधी समझौते की भूमिका में जिन पांच सिद्धान्तों की घोषणा की गयी थी, वे इस प्रकार थे :

(१) एक-दूसरे की भौगोलिक अखंडता और सार्वभौम सत्ता का आदर करना;

(२) एक-दूसरे पर आक्रमण नहीं करना;

(३) एक-दूसरे के अन्दरूनी मामलों में हस्तक्षेप न करना;

(४) समानता और पारस्परिक लाभ;

(५) शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व।

भारत और चीन की सरकारों की इस संयुक्त शान्ति-घोषणा से एशिया के विकास में एक नये ऐतिहासिक युग का आरम्भ हुआ।

शान्ति के ये नये प्रयास १९५४ के पतझड़ में और आगे बढ़े जबकि प्रधानमंत्री नेहरू चीन की यात्रा पर गये। उसके बाद १९५५ की गरमियों में वह सोवियत संघ की यात्रा करने वाले थे। भारत ने दक्षिण-पूर्वी एशिया की सैनिक संधि (सिटो) का जोरदार विरोध किया। इस संधि में अमरीका के साथ ब्रिटेन भी शामिल था। १९५५ के आरम्भ में लन्दन में कॉमनवेल्थ के देशों के प्रधानमंत्रियों का जो सम्मेलन हुआ, उससे प्रकट हुआ कि भारत और ब्रिटेन का यह मतभेद दूर नहीं हुआ है।

शान्ति के लिए सहयोग करने वाले क्षेत्र का और विस्तार करने के उद्देश्य

से एक नया और महत्वपूर्ण कदम बांडुंग सम्मेलन के रूप में उठाया गया। १९५४ के अन्त में पांच कोलम्बो शक्तियों ने बोगोर की बैठक में यह निश्चय किया कि अप्रैल १९५५ में बांडुंग में एशिया और अफ्रीका के देशों का एक अफ्रीकी-एशियाई सम्मेलन बुलाया जाय। कोलम्बो शक्तियों के अलावा इसमें २५ सरकारें और बुलायी गयी थीं जिनमें चीनी जनतंत्र की सरकार भी थी। इस प्रकार बांडुंग सम्मेलन में एशिया और अफ्रीका के कुल २९ देशों की सरकारों के नेता जमा हुए (इन देशों के नाम थे : अफगानिस्तान, बर्मा, कम्बोडिया, लंका, चीन, मिस्र, इथियोपिया, गोल्ड कोस्ट, भारत, इंडोनेशिया, इराक, जापान, जोर्डन, लाओस, लेबनान, लाइबीरिया, लीबिया, नेपाल, पाकिस्तान, फिलीपाइंस, ईरान, सऊदी अरब, सूडान, सीरिया, थाईलैंड, तुर्की, वियतनामी जनतंत्र, दक्षिण वियतनाम, और यमन)। इस सम्मेलन में लगभग डेढ़ अरब लोगों के प्रतिनिधि शरीक हुए थे। इस प्रकार, यह अनोखा सम्मेलन राष्ट्र-संघ का मुकाबला कर सकता था, क्योंकि उसमें तो अभी तक संसार की आबादी के एक काफी बड़े हिस्से के प्रतिनिधि अनुपस्थित थे। इस सम्मेलन का महत्व इसलिए और भी बढ़ जाता था कि दुनिया के इतिहास में पहली बार इतनी बड़ी तादाद में उसमें ऐसे देश शरीक हुए थे जो कुछ समय पहले तक दूसरे देशों के गुलाम थे। बल्कि उनमें से कुछ देश तो इस समय भी पराधीन थे। साम्राज्यवादी क्षेत्रों से उकसावा पाने वाले अनेक लोगों ने सम्मेलन में फूट डालने की कोशिश की। उसके बावजूद सम्मेलन कामयाब हुआ, यह बात भी कम महत्वपूर्ण न थी। बांडुंग सम्मेलन ने सर्वसम्मति से पंचशील का समर्थन किया और अपने घोषणापत्र में उन्हें फैलाकर दस सिद्धान्तों का रूप दे दिया। उसने राष्ट्रीय स्वाधीनता के सिद्धांत का समर्थन किया और उपनिवेशवाद तथा रंगभेद का विरोध किया। उसने एटम और हाइड्रोजन अस्त्रों पर रोक लगाने की मांग की। उसने एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रों के बीच आर्थिक तथा सांस्कृतिक सहयोग को दृढ़ करने का निश्चय किया। इसके अलावा, उसने पश्चिमी इरियन, फिलिस्तीन, अदन और उत्तरी अफ्रीका के देशों के सम्बंध में भी सर्वसम्मति से फैसले किये।

१९५५ का यह अफ्रीकी-एशियाई सम्मेलन — जिसमें भारत और चीन ने प्रमुख भूमिका अदा की, और जिसमें दुनिया की आबादी के बहुमत के प्रतिनिधि शान्ति तथा राष्ट्रीय स्वतंत्रता के उद्देश्यों को आगे बढ़ाने के लिए जमा हुए थे—इस बात का जबर्दस्त प्रमाण था कि दुनिया में एक नया शक्ति-संतुलन स्थापित हुआ है, और यह कि मानवता के भविष्य के लिए इतना महत्व रखने वाला यह नया परिवर्तन लाने और उसे आगे बढ़ाने में प्रधान भूमिका भारत अदा कर रहा है।

५. भारतीय जनता—प्रगति के पथ पर

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भारत ने जो नया रुख अपनाया था, दरअसल वह उन नये और गम्भीर परिवर्तनों का ही एक पहलू था जो चीनी जन-क्रांति की विजय के बाद से ही भारत की अन्दरूनी राजनीति में उत्पन्न होने शुरू हो गये थे।

हाल के जमाने का अनुभव अधिकाधिक स्पष्टता से बता रहा है कि भारत में पुरानी शक्तियां जर्जर हो रही हैं और जनता की नयी शक्तियां सामने आ रही हैं, हालांकि वैदेशिक नीति की प्रगतिशील दिशा और अन्दरूनी राजनीतिक स्थिति का विरोध अभी भी हल होना बाकी है।

१६४७ के पहले कांग्रेस राष्ट्रीय आन्दोलन का परम्परागत मंच तथा उसका जन-संगठन थी, हालांकि उस पर ऊपरी वर्गों के ढुलमुल तत्वों का प्रभुत्व था। १६४७ में सत्ता-परिवर्तन के बाद, वह सरकारी पार्टी बन गयी और उस पर निहित स्वार्थों का, इजारेदारों, बड़े जमीदारों, मुनाफाखोरों और सट्टेबाजों का प्रभुत्व हो गया। मगर इसका यह मतलब नहीं था कि कांग्रेस का जन-आधार खत्म हो गया था। जनता पर कांग्रेस का असर घट रहा था; मगर फिर भी अभी उसका काफी असर था। अपने पुराने काम और पुरानी साख की दुहाई देकर और नेहरू जैसे नेताओं के आकर्षण को इस्तेमाल करके, जिन्होंने बरसों साम्राज्यवाद से संघर्ष किया था और लम्बी कैद काटी थीं; कांग्रेस ने अब भी काफी हद तक अपना असर जमा रखा था। जब प्रधानमंत्री नेहरू की प्रगतिशील अन्तर्राष्ट्रीय नीति का और विकास हुआ और १६५१ में कुछ हद तक आर्थिक क्षेत्र में भी प्रगति हुई, और साथ ही कांग्रेस ने बहुत ही अस्पष्ट ढंग से "समाजवाद" को अपना लक्ष्य घोषित किया, तो रहन-सहन की बिगड़ती हुई परिस्थितियों के कारण मजदूरों, किसानों, और निम्न-मध्यमवर्गी लोगों में बहुत असंतोष होने के बावजूद कांग्रेस के विघटन और पतन की क्रिया रुक गयी और उसका पुराना असर काफी हद तक नष्ट होने से बच गया। फिर भी, कांग्रेस के दक्षिणपंथी नेताओं और उसके संगठन पर हावी बड़े पूंजीवादी हितों के खिलाफ जनता का असंतोष अधिकाधिक व्यक्त होता रहा।

इस परिस्थिति से घोर प्रतिक्रियावादियों ने फायदा उठाने की कोशिश की। उन्होंने साम्प्रदायिक संगठन खड़े करने और जनता पर उनका असर जमाने की चेष्टा की। लेकिन पानी की तरह रुपया बहाने के बाद भी उनको बहुत सफलता नहीं मिली। जनता की बढ़ती हुई चेतना उसे वामपक्ष की तरफ ले जा रही थी। इस काल में मजदूरों तथा किसानों के संघर्षों ने भीषण दमन के बावजूद बड़े लड़ाकूपन तथा ऊंचे स्तर का परिचय दिया (इस सम्बंध में

दक्षिणी भारत में तेलंगाना का किसान-विद्रोह विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जहां २,००० से अधिक गांवों के रकबे में जमीदारों की जमीनों पर कब्जा करके उन्हें किसानों में बांट दिया गया था, जहां जनता की चुनी हुई समितियों का शासन कायम किया गया था, और जहां जनता ने पहले निजाम और बाद में भारत सरकार की आक्रमणकारी सेनाओं का हथियारबन्द मुकाबला किया था)। इसके अलावा, शान्ति आन्दोलन के विकास में भी जनता की उग्रवादी भावना प्रकट हुई।

१६५१ में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का नया कार्यक्रम प्रकाशित हुआ। यह पूरे वामपक्षी आन्दोलन की प्रगति के लिए एक अत्यन्त महत्वपूर्ण मोड़ था। इस कार्यक्रम ने राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त करने तथा अंग्रेजी साम्राज्य से अलग होने के लिए, जमीदारी प्रथा खत्म करने, जनवादी सुधार करने तथा सामाजिक एवं आर्थिक प्रगति के लिए, और भारत में जनता का सच्चा जनतंत्र कायम करने के लिए मजदूर वर्ग और किसानों की एकता स्थापित करने और जनता का एक व्यापक जनवादी मोर्चा बनाने का रास्ता दिखाया।

१६५१ के अन्त में और १६५२ के शुरू में बालिग मताधिकार के आधार पर भारत में आम चुनाव हुए। उससे यह बात साफ हो गयी कि देश की राजनीति में कौन सी नयी तब्दीलियां आ रही हैं। १६४६ के आम चुनाव में कांग्रेस ने ८० से लेकर ६० प्रतिशत तक वोट प्राप्त किये थे। मगर इस बार उसे केवल अल्पमत का वोट मिला। उसने सिर्फ ४२ प्रतिशत वोट पाये; हालांकि गैर-जनवादी "अंग्रेजी" चुनाव-प्रणाली के कारण कम वोट पाने के बाद भी ज्यादातर सीटें कांग्रेस को ही मिलीं। कम्युनिस्ट पार्टी तथा संयुक्त जनवादी मोर्चे के उसके सहयोगियों को ६० लाख वोट, और केन्द्रीय पार्लामेंट में ३७ सीटें और प्रान्तीय धारा सभाओं में २३६ सीटें मिलीं। इस प्रकार, कम्युनिस्ट पार्टी मुख्य विरोधी दल और कांग्रेस के जवाब के रूप में देश के सामने आयी। यदि "सोशलिस्ट पार्टी" के नेताओं ने फूट का रास्ता न अपनाया होता, तो कांग्रेस को हराना भी सम्भव था। मगर "सोशलिस्ट पार्टी" ने वामपक्ष के साथ हाथ मिलाने से इंकार किया और इस तरह कांग्रेस को बचा लिया (उसने अपने १ करोड़ वोट जाया किये और उसके बदले में पायी केवल बारह सीटें)। कम्युनिस्टों और उनके सहयोगियों ने मद्रास, हैदराबाद, त्रावणकोर-कोचीन, बंगाल और त्रिपुरा में विशेष रूप से महत्वपूर्ण सफलताएं प्राप्त कीं। आंध्र में पिछले काल में किसान-संघर्ष निर्णायक रूप से आगे बढ़ा था। कांग्रेस के नेताओं ने भी ऐलान किया था कि आंध्र के नतीजे यह बतलायेंगे कि उन्हें जनता का कितना समर्थन प्राप्त है। वहां कम्युनिस्टों ने ६३ सीटों पर चुनाव

लड़ा था। इन सीटों के चुनाव में कम्युनिस्टों को १,४५२,५१६ वोट मिले और कांग्रेस को ६६८,५३०।

चुनाव के नतीजों से यह मालूम हुआ कि कम्युनिस्ट पार्टी की पहलकदमी से और उसके नेतृत्व में जनता का जो व्यापक जनवादी मोर्चा बना था, उसने देश के कई इलाकों में जनता का व्यापक समर्थन प्राप्त कर लिया है और वह पूरे देश के पैमाने पर अपना विकास करके कांग्रेसी सरकार को निर्णायक चुनौती देने तथा भारतीय जनता के स्वतंत्रता संग्राम का नेतृत्व करने की क्षमता प्राप्त कर सकता है।

१९५२ के आम चुनाव के बाद वाले काल में भी यह विकासक्रम जारी रहा। प्रतिक्रियावादियों ने कम्युनिस्टों की प्रगति को रोकने के लिए हर तरह की कोशिश की। पुराने कांग्रेसी नेता, श्री राजगोपालाचारी ने, जो १९४८-५० में लार्ड माउंटबैटन के उत्तराधिकारी के रूप में भारत के गवर्नर-जनरल रह चुके थे, अब मद्रास के प्रधान मंत्री का पद संभाला। उन्होंने ऐलान किया कि कम्युनिस्ट पार्टी मेरी "पहले नम्बर की शत्रु है—और यही मेरा कार्यक्रम है।" सोशलिस्ट पार्टी का नेतृत्व अब अधिकाधिक खुले ढंग से अमरीकी प्रभाव को प्रतिबिम्बित करने लगा था। यह पार्टी चुनाव के बाद उस किसान-मजदूर प्रजा पार्टी में मिल गयी जो चुनाव के पहले कांग्रेस से अलग हो गयी थी। दोनों पार्टियों को मिलाकर प्रजा सोशलिस्ट पार्टी कायम हुई। उम्मीद की जाती थी कि यह नयी पार्टी कम्युनिस्ट पार्टी तथा संयुक्त जनवादी मोर्चे के उसके सहयोगियों को हटाकर मुख्य विरोधी दल का स्थान ले लेगी। मगर उसके बाद जो उप-चुनाव हुए हैं, या अलग-अलग राज्यों में जो आम चुनाव हुए हैं, उनसे पता चलता है कि कम्युनिस्ट पार्टी तथा जनवादी मोर्चा बराबर प्रगति कर रहे हैं। १९५२ के आम चुनाव के बाद, अठारह महीनों के अन्दर कुल ११४ प्रान्तीय उप-चुनाव हुए थे। उनके नतीजों का एक विश्लेषण सितम्बर १९५३ में कांग्रेस की ओर से प्रकाशित हुआ था। उससे पता चला कि १९५२ के आम चुनाव में जहां कम्युनिस्ट पार्टी और उसके सहयोगियों को ७.४ प्रतिशत वोट मिले थे, वहां इन ११४ उप-चुनावों में उन्हें १३.२ प्रतिशत वोट मिले। उत्तर प्रदेश कांग्रेस का पुराना गढ़ समझा जाता था। वहां १९५२ के पतझड़ में म्युनिसिपल बोर्डों के चुनाव हुए। उनमें ३९ म्युनिसिपल बोर्डों के अध्यक्ष कांग्रेसी चुने गये और कांग्रेस को ४३०,००० हजार वोट मिले, २६ म्युनिसिपल बोर्डों के अध्यक्ष कम्युनिस्ट पार्टी तथा उसके सहयोगियों के जनवादी मोर्चे के उम्मीदवार चुने गये और उन्हें २२३,००० वोट मिले; और प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के उम्मीदवार १२ बोर्डों के अध्यक्ष चुने गये और उन्हें ९७,००० वोट मिले।

१९५५ के बसन्त में नव-निर्मित आंध्र प्रान्त में चुनाव हुए। कांग्रेस ने सारे देश से अपनी ताकत बटोर कर वहां लगा दी थी। इसके अलावा, कम्युनिस्ट पार्टी और उसके सहयोगियों को जीतने न देने के उद्देश्य से वहां कांग्रेस ने दूसरी पार्टियों के साथ संयुक्त मोर्चा बनाया था। फिर भी, कम्युनिस्टों को २,६९६,००० वोट मिले, जो कुल वोटों के ३१ प्रतिशत होते थे। इसके मुकाबले में कांग्रेस को ४,२६६,००० वोट मिले।

कम्युनिस्ट पार्टी के १९५१ के कार्यक्रम में जो रणनीति तथा कार्यनीति निर्धारित की गयी थी, उसे पार्टी की तीसरी कांग्रेस में और विकसित किया गया। यह पार्टी कांग्रेस दिसम्बर १९५३ में हुई थी। उसमें मजदूर वर्ग तथा किसानों के संघर्ष को और आगे बढ़ाने, मजदूर संगठनों को मजबूत बनाने, मजदूर एकता को दृढ़ करने, शान्ति और राष्ट्रीय स्वाधीनता के संघर्ष को आगे बढ़ाने और जनवादी मोर्चा बनाने का रास्ता दिखाया गया और अलग-अलग राज्यों में, तथा अखिल भारतीय पैमाने पर जनवादी एकता की सरकार स्थापित करने का लक्ष्य जनता के सामने रखा गया, जिसको प्राप्त करके भारत में जनता का सच्चा जनतंत्र स्थापित करने के लक्ष्य की ओर बढ़ा जा सकता था।

जनवादी विकास और भारत की लोकप्रिय शक्तियों की अन्तिम विजय के मार्ग में अभी अनेक कठिनाइयां मौजूद हैं। यह नहीं हो सकता कि अन्तर्राष्ट्रीय नीति का रुख प्रगतिशील बना रहे और अन्दरूनी राजनीति में प्रतिक्रियावादी पूंजीपतियों का बोलबाला रहे और इस विरोध से गम्भीर पेचीदगियां न पैदा हों। भारत में प्रतिक्रियावादी अभी बहुत ताकतवर हैं। साम्राज्यवादियों की घुसपैठ और साजिशें कभी ऐसे खतरे पैदा कर दे सकती हैं जिनका मुकाबला करने के लिए जनतंत्र और शान्ति के समर्थकों की अधिक से अधिक जोरदार एकता और सहयोग की आवश्यकता होगी।

लेकिन दीर्घकालीन दृष्टिकोण से, यह बात बिलकुल साफ है कि भारत में किस मार्ग पर चलकर राजनीतिक विकास होगा। भारत में जिस मार्ग पर राजनीतिक विकास हो रहा है, उसका बुनियादी लक्ष्य वही है जो चीनी जनक्रान्ति का लक्ष्य था, यानी साम्राज्यवाद तथा उसके सहयोगियों से मुक्ति प्राप्त करना। भारत में यदि विकास अपेक्षाकृत धीरे-धीरे हो रहा है, तो उसका कारण यह है कि भारत और चीन की ठोस परिस्थितियों में कुछ अन्तर है। दोनों देशों की बुनियादी समस्याएं एक सी हैं और उनको हल करने के लिए जिन बातों की आवश्यकता है, उनमें भी समानता है; मगर साथ ही दोनों देशों में कुछ अन्तर भी हैं जिनके कारण भारत में राजनीतिक विकास एक भिन्न ढंग और भिन्न गति से हो रहा है :

(१) चीन एक अर्ध-औपनिवेशिक देश था। साम्राज्यवाद कभी चीन के अन्दर नहीं घुस पाया था; वह केवल समुद्री किनारों पर जमा हुआ था, जहां से वह व्यापार के जरिये अपने पंजे देश के अन्दर गड़ाने की कोशिश किया करता था।

भारत दो सौ बरस तक एक पूर्ण उपनिवेश रह चुका था। भारत में साम्राज्यवाद ने ऐसा शासन-यंत्र गढ़कर तैयार कर दिया था जो देश के कोने-कोने में, जिन्दगी के छोटे से छोटे पहलू को भी अपनी मुट्ठी में रखता था; बल्कि सच तो यह है कि साम्राज्यवाद ने इस तरह जो शासन-यंत्र कायम किया था, उसे भारत के वर्तमान शासक भी इस्तेमाल कर रहे हैं।

(२) भारत का सम्बंध केवल एक साम्राज्यवाद से था—यानी ब्रिटिश साम्राज्यवाद से।

चीन में साम्राज्यवादियों में फूट थी। कई साम्राज्यवादी ताकतें चीन को आपस में बांट लेने की कोशिश कर रही थीं, मगर अपने झगड़ों के कारण कामयाब नहीं हो पाती थीं। इससे चीन के राष्ट्रीय आन्दोलन को जल्दी प्रगति करने और साम्राज्यवाद को सीधे चुनौती देने में मदद मिली।

(३) चीनी क्रान्ति शुरू से ही सशस्त्र संघर्ष के मार्ग पर बढ़ी थी। इसका कारण उपरोक्त परिस्थितियां थीं। इसलिए स्तालिन ने चीनी क्रान्ति की यह खास विशेषता बतायी थी कि वहां सशस्त्र क्रान्ति सशस्त्र प्रतिक्रान्ति का मुकाबला कर रही है। वहां यह नहीं हुआ था कि पहले पूंजीवादी नेतृत्व में अहिंसक राजनीति संघर्ष चला हो और उसके बाद चीनी कम्युनिस्टों ने सशस्त्र संघर्ष शुरू किया हो। इसके विपरीत, वहां कम्युनिस्टों ने सशस्त्र राष्ट्रीय संघर्ष को ही आगे बढ़ाया था, जिसे कुओमिन्तांग के नेताओं ने बीच में ही ठप कर दिया था।

(४) भारत में चूंकि साम्राज्यवादी शासन एक लम्बे काल तक रहा था, इसलिए यहां एक काफी विकसित पूंजीपति वर्ग, और यहां तक कि बड़े पूंजीपतियों का वर्ग भी तैयार हो गया था। यह चीन के दलाल पूंजीपति वर्ग से बिलकुल भिन्न था। इसकी देश में बड़ी मजबूत जड़ें थीं और इसका जनता पर प्रभाव था और यह राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व करने की क्षमता रखता था। साथ ही, उसने, विशेषकर इजारेदारी अवस्था में, साम्राज्यवादी आर्थिक हितों के साथ घनिष्ठ आर्थिक सम्बंध स्थापित कर लिये थे।

लेकिन, इस तमाम अन्तर के बावजूद, इन दो सबसे बड़े राष्ट्रों के हित न सिर्फ घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं, और उनकी मित्रता तथा सहयोग एशिया और सारे संसार की शान्ति के लिए भारी महत्व रखते हैं, बल्कि दोनों देशों में साम्राज्यवाद से मुक्ति प्राप्त करने के संघर्ष की और आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक पुनर्निमाण की, बुनियादी समस्याएं भी एक-दूसरे से बहुत मिलती-जुलती हैं। चीनी जन-क्रान्ति की विजय तथा चीनी जनतंत्र की स्थापना के कुछ ही समय बाद, नवम्बर १९४९ में, चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के अध्यक्ष माओ त्से-तुंग ने भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के नाम एक संदेश भेजा था। उसमें उन्होंने कहा था :

"भारतीय कौम एशिया की एक महान कौम है जिसका एक लम्बा इतिहास और विशाल जनसंख्या है। इस देश का पुराना इतिहास और भावी मार्ग बहुत सी बातों में चीन से मिलता-जुलता है।

"स्वतंत्र चीन की तरह, एक रोज स्वतंत्र भारत भी समाजवादी तथा जनवादी देशों के परिवार के एक सदस्य के रूप में दुनिया के सामने आयेगा। उस रोज मानवता के इतिहास का प्रतिक्रियावादी साम्राज्यवादी युग समाप्त हो जायगा।"

भारतीय जनता के संघर्ष को अभी चाहे जितनी कठिनाइयों और परीक्षाओं से गुजरना पड़े, लेकिन वर्तमान काल में भारत में जो घटनाएं हो रही हैं, उनसे यह साबित हो रहा है और आगे और साबित होगा कि माओ त्से-तुंग की यह भविष्यवाणी सर्वथा सत्य थी।

●

अनुक्रमणिका